❀ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ❀

* सत्यमार्ग *

लेखकः—

श्रीयुत् बाबू कामताप्रसाद जैन

उ० सं० वीर और "भगवान महावीर" "प्राचीन जैन लेख संग्रह" "महाराणी चेलनी" आदि ग्रंथों के रचयिता।

दातारः—

श्रीमान् लाला फुलजारीलाल जी जैन

रईस और आन० मजिस्ट्रेट करहल (मैनपुरी)

प्रकाशकः—

श्री वीर कार्यालय, बिजनौर।
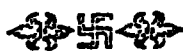
"वीर" के तृतीय वर्ष के ग्राहकों को

प्रेमोपहार

प्रथमावृत्ति	जूलाई स० १९२६ ई०	मूल्य सदुपयोग
१०००	वीर सं० २४५२.	

ॐ

श्रीमान् लाला फुलज़ारी लाल जी

का

संक्षिप्त जीवन चरित्र !

'स जातो येन जातेन याति वंश समुन्नतिम् ।
परिवर्तिनि संसारे मृत्युः को वा न जायते ॥'

सच है संसार परिवर्तन शील है-लाखों आये और लाखों चले गए-परन्तु उन्हीं का जीवन धन्य है जिन्हों ने अपनी जाति और वंश को उन्नत बनाने में कोई कोर कसर नहीं रक्खी है। ऐसे ही नर रत्नों की जीवित स्मृति आज भी संसार में फैल रही है। प्रस्तुत पुस्तक को प्रकट कराने वाले दातार श्रीमान लाला फुलज़ारीलाल जी इसी कोटि के एक पुरुष हैं। आप के द्वारा आप के कुल और जाति की जो उन्नति हुई है वह आप के जीवन पर एक दृष्टि डालने से सहसा प्रत्यक्ष हो जाती है। मानव समाज के हित की उत्कट वाञ्छा से आप ही इस पुस्तक को हिन्दी संसार के हाथों तक सुगमता से पहुंचा रहे हैं! अस्तु;

सौभाग्य से लाला जी का जन्मस्थान और वर्तमान लेखक

का पितृगृह दोनों ही युक्त प्रान्त के ज़िला एटा की प्रधान तहसील का नगर अलीगंज है। अलीगंज में लाला सोनेलाल जी एक प्रतिष्ठित श्रावक थे। जो संस्कृत, धर्म शास्त्र, आयुर्वेद और ज्योतिष के अच्छे विद्वान थे। आप के समय में अलीगंज में धर्म चर्चा की शैली अच्छी थी। करीब आधी दर्जन के विद्वान थे। प्रति दिवस शास्त्र सभा में ज्ञान की झड़ी लगती थी किन्तु दुःख है कि धर्मज्ञता का वह सलोना दृश्य अब अलीगंज में दृष्टि नहीं पड़ता है। उस समय की स्मृति दिलाने वाले केवल एक विद्वान् वर्तमान लेखक के पूज्य ताऊ श्रीमान् पं० तेजराय जी ही आज अलीगंज में प्राचीन परिपाटी को संभाले हुए हैं। लाला सोनेलाल जी, कहा जाता है, कि गहन विषयों को भी साधारण उदाहरणों द्वारा बड़ी सुगमता से समझा देते थे। इन्हीं लाला सोनेलाल जी सर्राफ़ के गृह में कार्तिक शुक्ला पंचमी संवत् १६१६ विक्रमाब्द को हमारे दातार का शुभ जन्म हुआ था। आप के पिता का गोत्र लमेचू और अल्ल ज्येष्ठवंश बताई गई है। लाला फुलज़ारीलाल जी के तीन भाई और तीन बहिनें थीं; परन्तु लाला जी उनके साथ अधिक दिनों तक अपना बाल्य जीवन व्यतीत न कर सके। जब आप क़रीब चार वर्ष के थे तब अपने मौसा ला० मोहपसिंह जी क़ानूनगो के सुपुत्र ला० शिखरप्रसाद जी रईस व ज़मींदार करहल (मैनपुरी) के यहां गोद लिए गए! यह वंश काश्यप गोत्री और ज्येष्ठवंशी अल्ल का था। यहां गोद आने पर एक तरह से लाला जी का सम्बन्ध अलीगंज से छूट गया; परन्तु उसकी स्मृति और उसका मान अब भी आप के निकट विशेष है।

दुर्भाग्यता से इसी वर्ष ला० शिखरप्रसाद जी का स्वर्ग

वास हो गया; परन्तु इनकी धर्मपत्नी ने अपने दत्तक पुत्र का बड़े लाड़ चाव से पालन पोषण किया। मदरसे में आप की पढ़ाई की ख़ास व्यवस्था कर दी गई। सोलह वर्ष की अवस्था में ही आप ने हिन्दी, उर्दू और फ़ारसी में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। क़ानून का अध्ययन कर के वकालत की तैयारी भी की, किन्तु परीक्षा न दी। साथही संस्कृत तथा धर्म शास्त्रों का भी अभ्यास आप ने किया! प्रारंभ से ही धर्म को आप के हृदय में विशेष स्थान मिलता रहा है बालपने से ही यह धर्म रुचि भगवत् पूजन-अर्चन-वन्दन और दर्शन एवं शास्त्र अध्ययन में प्रकट होती रही है। इसी दरमियान में आप का विवाह दिहुली के ला० छदामीलाल जी के यहां सानन्द हो गया था। उपरान्त आप मुशकिलसे १६,१७ वर्ष के हुए थे कि आप के कन्धों पर कुटुम्ब रियासत व ज़िमीदारी का काम आ पड़ा। आप ने इस को बड़ी उत्तमता से सम्पादन किया। ला० शिखिरप्रसाद के स्वर्गवास के पश्चात् आप के कारोबार संभालने के समय तक जो कुछ ऋण रियासत पर हो गया था; वह आप का कार्यपटुता से शीघ्र ही चुक गया।

ला० शिखिर प्रसादजी के लघुभ्राता ला० चेतसिंह जी थे। उनका स्वर्गवास जब हो गया था तब उनकी धर्मपत्नी भी हमारे दातार महोदय के साथ २ बड़े प्रेम से रहती थीं। हमें बतलाया गया है कि आपकी ज़मींदारी की देखभाल भी ला० फुलजारी लाल जी ही करते थे; जिसकी वार्षिक तहसील लग भग २००००) थी। आपको चाची का आप पर विशेष अनुग्रह था और उन्हों ने अन्ततः अपना सारा भाग नियमानुसार लाला जी के ही सुपुर्द कर दिया। किन्तु श्रीमती की एक कन्या भी थी और उस के विधवा होने पर उसके एक मात्र

था। उसको पूरा करा कर आपने उस की प्रतिष्ठा माघशु० प्रतिपदा सं० १९३५ को कराई और आगत सज्जनों का भोजनादि द्वारा सत्कार किया था। इस धर्म कार्य में क़रीब ७०००) आपने खर्च किये थे। अपनी माता की आज्ञानुसार आपने ८००० रु० खर्च करके करहल में भी एक रथ यात्रा निकलवाई थी; जिस में बाहर से १० मंदिर जी आये थे। यह चैत्र कृष्णा नौमी सं० १९४८ की तिथि थी।

आगन्तुक भाई १०-१५ हज़ारके क़रीब थे उन सबको आपने ज्योनार भी दी थी। इस के एक वर्ष बाद ही अपनी माता की इच्छानुसार आपने सम्मेद शिखिर जी की उपरेली बीस पंथी कोठी में एक धर्मशाला १५००) व्ययकर के बनवाई थी। तथापि समाज में धर्मविद्या की उन्नति हो, इस ओर से भी आप उदासीन नहीं रहे हैं। इसी बात को लक्ष्यकर के आप ने सं० १९५३ में 'महाविद्यालय मथुरा' को ५००) प्रदान किये। सं० १९३७ में करहल की जैन पाठशाला को २५) रु० सालाना आमदनी की ज़मीन क़रीब ८००) की दान की और सं० १९६३ में इसी पाठशाला को एक मुश्त एक प्रामेसरी नोट ४०००) का प्रदान किया। फिर सं० १९७० में स्याद्वादमहाविद्यालय काशी को १०००) रु० के प्रामेसरी नोट देकर सहायता की। तथापि इसी साल २००) देकर मोरेना सिद्धान्त विद्यालय में एक कोठरी बनवाई। एवं सं० १९७५ में श्रीमान् जैनधर्मभूषण धर्मदिवाकर ब्र० शीतल प्रशाद जी की मारफत इसी विद्यालय को ५००) की सहायता दी। इस तरह आपने धर्मशिक्षा के विशेष प्रचार के लिये समय २ पर उचित सहायता विविध पाठशालाओं, छात्रालयों, विद्यालयों आदि

और करहल में जैन पाठशाला के कार्य में आप विशेष भाग लेते रहते हैं। इस के साथ ही आपने आसपास के अंग्रेज़ी पढ़ने वाले विद्यार्थियों को भी भुलाया नहीं है। सं० १६६५ में आपने सरकार के सुपुर्द १५०० रु० इस लिये करदिये कि इससे एक छात्रवृत्ति अंग्रेजी हाईस्कूल मैनपुरी में पढ़नेवाले जैनविद्यार्थी को दीजाय और एक पदक भी सर्वोत्तम जैन विद्यार्थी को दिया जाय। इस के साथ ही आगरा में जैन बोर्डिङ्ग की इमारत शीघ्र पूरी हो और वहां रह कर जैन विद्यार्थी धर्म शिक्षा भी ग्रहण करें, इस लिये आपने वहां का एक कमरा ४००) देकर बनवाया। इस के अतिरिक्त आप आसपास के एक दो असमर्थ जैन विद्यार्थी को मासिक सहायता भी देते रहते हैं। और नियत रूपसे विविध संस्थाओं की मासिक सहायता भी करते रहते हैं। सारांश यह कि आप अपनी जाति के नवयुवकों को विद्यासम्पन्न और उन्नतशाली देखने के इच्छुक हैं और इस के लिये अपने धन को इस में व्यय कर के सफल बनाते रहते हैं।

विद्यादान के साथ ही आपने औषधि दानका भी अच्छा प्रबन्ध किया है। सं० १६५१ को आपने "जैन औषधालय" करहल को ८००) रु० मूल्य की जमीन प्रदान की थी। इस के अतिरिक्त करहल में भगवान महावीर का निर्वाणोत्सव सदैव नियमितरीति से होता रहे इस के लिये आपने १६००)रु० मूल्य की जमीन इस कार्य के लिये अलग अपनी माता के स्मार्क में निकालदी है। धर्मानुराग का यह अपूर्वआदर्श है! सचमुच जबतक हमें अपने पुरातन महापुरुषों की पवित्र स्मृति का शानदार अभिमान न होगा और उस का पालन अपने अमली प्रयोग से नहीं करेंगे तबतक हम अपने परमोद्धार

परमहितैषी परमात्मारूप महापुरुषों के ऋण से उऋण नहीं होंगे। लाला जी ने अपने इस सद्कृत्य द्वारा इस आदर्श को असली पूर्तिका नमूना हमारे समक्ष रख दिया है। प्रत्येक भारतीय नगर में नियमित रूप में विशेष रूप से धर्म प्रचार के पूर्ण प्रबन्ध के साथ इन जैन त्योहारों का मनाना लाजमी है।

इस के अतिरिक्त लाला जी ने मथुरा चौरासी पर एक धर्म्मशाला बनवाई और फिरोजाबाद एवं श्री कम्पिल जी तीर्थक्षेत्र की धर्मशालाओं के लिए भी सहायता दी। सं० १९६३ में ६०००) खर्च कर के आपने अपने घरमें एक नवीन चैत्यालय बनवाया और उस की प्रतिष्ठा कराई। इनके अलावा आपने जैनतीर्थों की यात्रा करके वहां ज्योनार आदि में अनेक रुपये खर्च किये और करहल व अन्य स्थानों के श्री मन्दिरों जी को भी यथोचित दान किया है। अभी ही गतवर्ष आप करहल में श्री जिनबिम्बप्रतिष्ठोत्सव विशेष रीति से करा चुके हैं और उस समय भी विशेष स्थानों को दान दे चुके हैं। इस समय श्री संयुक्त प्रान्तीय दि० जैनसभा के अधिवेशन द्वारा धर्मप्रचार का विशेष समागम रहा था। अलीगंज में भी कोई धार्मिक कार्य करने की हार्दिक इच्छा है। परिषद् और वीर के प्रति भी आप की विशेष सहानुभूति रहती है। वह भी शीघ्र पूर्ण होगी। सारांशतः प्रकट ही है कि आपने ६०, ६५ हज़ार रुपयों को समाजोत्थान और धर्मप्रभावना के कार्यों में व्यय किया है! लमेंचूवंश में आप ही एक 'दानी नर-रत्न' कहे जांय तो कुछ अत्युक्ति नहीं है!

जैन संस्थाओं और जैन कार्यों के अतिरिक्त आप सर्व-साधारण हित के कार्यों में भी पीछे नहीं रहे हैं। करहल में जब अस्पताल खुला तो उसमें आपने एक कमरा मरीजों के

वास्ते बनवा दिया। तथापि सनातनधर्मी, आर्यसमाज, व कायस्थ सभा आदि एवं अन्यधर्मी विद्यालयों को भी आप यथा समय उचित सहायता देते रहते हैं। सरकारी कामों में भी आप विशेष सहायक रहते हैं। इफरन फन्ड, अकाल पीड़ित पुरुषों की सहायता, ज़ख़मी सिपाहियों की सहायता आदि की रक़में जो गिनायी जायं तो उनकी भी संख्या हज़ारों पर पहुंच जावे! करहल में एक कोठी और बाग भी सर्व साधारण के हितदृष्टि से आपने बनवाया है। इस में समयानुसार हाकिम लोग व पथिक गण विश्राम लेते रहते हैं। मैनपुरी में भी एक धर्मशाला बनवाई है। गर्ज़ यह कि आपने सर्वसाधारण हित के कार्यों में भी अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग किया है। और सार्वजनिक कार्योंमें विशेष भाग लिया है। आप मेम्बर डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और म्युनीसिपल कमिश्नर भी बहुत दिनों तक रह चुके हैं। आप बादशाह के दरबारी और आनरेरी मजिस्ट्रेट हैं!

अपने रिश्तेदारों और सम्बन्धियों को भी आप संतुष्ट करते रहते हैं। चैत्रसुदी ४ सं० १९७९ को जब आपकी धर्मपत्नी का स्वर्गवास होगया तो आपने उनके मृतक कार्य को बहुत अच्छी तरह पूर्ण किया और विविध संस्थाओं को दान दिया। एवं मौज़ा भरोहा परगना करहल की ज़मींदारी २०००) मूल्यकी उनकी स्मृति में जैनधर्म और विद्याप्रचार के लिये अलग दान करदी! अब आपकी अवस्था लगभग ६३-६५ वर्ष की है। इस वृद्धावस्था के कारण आप का स्वास्थ्य बहुधा ख़राब रहता है। परन्तु धर्म कार्यों में आपका उत्साह अब भी कम नहीं है। आप सांसारिक झंझट से विलग रह कर धर्मसाधन में ही शेष जीवन व्यतीत करते हैं। हमारी यही

भावना है कि आप धर्म साधन में विशेष सफल प्रयास हों और आपके सुपुत्र आपका अनुकरण करते रहें !

इस प्रकार आपका संक्षिप्त जीवन चरित्र है। यह धर्मानु-राग, त्याग और परोपकार का एक खासा नमूना है। जैन समाज की उन्नति के लिये ऐसे धर्मानुराग और परोपकार की परमावश्यकता है। इनका विशद प्रसार हो यही वाञ्छनीय है। तथास्तु !

—लेखक

भूमिका
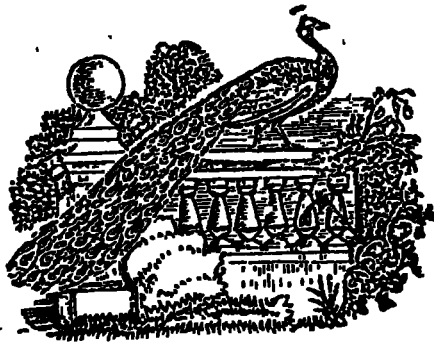
यह देखने में आता है कि हर एक जीव सुख शान्ति की इच्छा करता है। वह सुख शान्ति के लिए अपनी कल्पना के अनुसार उपाय भी करता है परन्तु उसकी इच्छा मिटती नहीं है-उस का कारण यही है कि अज्ञानी जनों को सुख शान्ति का और उस के पाने के उपाय का कुछ भी पता नहीं है। जब मार्ग का ही पता नहीं तो अपने प्रयोजन पर पहुंचेंगे कैसे ! असत्य सुख को सत्य मानना और असत्य सुख के मार्ग को सत्य मार्ग समझना यही भूल जगत के प्राणियों में पड़ा हुई है। इसी कारण उन के उपाय उन को सुख व शान्ति नहीं दे सकते हैं। इस लिए इस बात की बहुत बड़ी ज़रूरत है कि ऐसी पुस्तकों को लिखकर साधारण जनता के हाथ में पहुंचाया जावे जिस से वे सच्चे सुख को और उस के पाने के सच्चे उपाय को जान सकें। और अपने इस मानव जीवन को सफल बना सकें। इस पुस्तक में इसी बात को लेखक ने विस्तार से बताया है। यहां हम उस सच्चे सुख और उस के सच्चे मार्ग का एक छोटा सा चित्र खींच कर दिखाते हैं।

जिस को दुनियाँ के लोग सुख मानते हैं वह सुख न हो कर दुःखों का कुछ घटाव है इसी घटाव को सुख मान लिया जाता है। जैसे किसी मानवके सिर पर २० सेर बोझा था वह उस के भार से घबड़ा रहा था-यदि ५ सेर बोझा कम कर दिया गया तो उसकी आकुलता घट जाती है-इसी को वह सुख मान लेता है। इसी तरह जिसको १०० इच्छायें हैं और वह

इनको पूरा करने की आकुलता में दुःखी व चिन्तावान है यदि उसको एक दो इच्छाएं कुछ काल के लिए पूर्ण हो जाती हैं तब उसको इच्छाओं के दुःख में कुछ कमी हुई है। इसी को वह सुख मान लेता है-वास्तव में इच्छा ही दुःख है। जहां इच्छा नहीं, चिन्ता नहीं, वहां दुःख का नाम भी नहीं होता है। सब लोग जानते हैं चिन्ता चिता समान जलाती रहती है। चिन्तावान का शरीर सूख जाता है, मन कुमला जाता है, आत्मा निर्बल हो जाता है। इच्छा या चिन्ता रोग है जिस की पीड़ा से घबरा कर वह संसारी प्राणी इच्छा के मेटने का उपाय करता है। यदि उपाय सफल हुआ तो उस इच्छा के मिटने से वह अपने को सुखी मान लेता है। परन्तु यह इच्छा का मिटना थोड़े ही काल के लिए होता है। तुर्त ही उसी जाति की व उस से भिन्न और इच्छा पैदा हो जाती है। जिस उपाय से यह इच्छा रूपी रोग की शान्ति चाहता है वह उपाय और अधिक इच्छा रूपी रोग को बढ़ा देता है। क्योंकि यह उपाय इच्छाओं और चिन्ताओं के रोग मेटने का उपाय सच्चा उपाय नहीं है।

हमको नित्य भूख प्यास की इच्छा होती है। वह मिट जाती है तब थोडी देर पीछे फिर वही इच्छा पैदा हो जाती है, यह तो साधारण बात है। हम मनुष्यों के दिलों में पांचों इन्द्रियों के मांगों की निरन्तर बड़ी २ प्रबल इच्छायें रहती हैं-और इसी मतलब से उन पदार्थों का सम्बन्ध मिलाना चाहते हैं जिन से यह इच्छाएं पूर्ण हों। इसी लिए धन कमाना चाहते हैं। धन के लिए नाना साधनों को करना चाहते हैं। नाना साधनों के लिये तरह तरह के चेतन अचेतन पदार्थों का सम्बन्ध मिलाना चाहते हैं। इस तरह इच्छाओं वा चिन्ताओं के भेदों से हम

निरन्तर घिरे रहते हैं। इन को पूरा करने की चेष्टा करते रहते हैं। परन्तु बड़ी २ आयु वाले भी मनुष्य महान सम्पत्ति और परिग्रह रखने पर भी अपनी इच्छाओं को विना पूर्ण किये हुये चिन्ता जाल से जकड़े हुये "हा ! कुछ न कर सके" इस पश्चात्ताप के साथ मर जाते हैं—क्यों कि आत्मा का मरण होता नहीं। इस लिए "अन्ते यथा मतिः तथा गतिः" इस कहावत के अनुसार दुःखित भावों से मर कर वे प्राणी कष्ट रूप पशुगति समान निन्दनीय अवस्था में जन्म धारण कर लेते हैं। पशु की योनियों से उन्नति कर के फिर मनुष्य देह में आना हमारे जीव के लिये बहुत कठिन हो जाता है—यदि कदाचित् आ गए फिर भी सत्य मार्ग पर न चलने के कारण वही अवस्था पुनः होती है। न संसार का भ्रमण मिटता, न इच्छाओं का प्रवाह घटता, न हमारी आकुलताएँ कम होतीं—हम चिन्तातुर और दुःख के सागर में ही गोते लगाते रहते हैं।

इस पुस्तक में बताया गया है कि सच्चा सुख इन्द्रिय भोग में नहीं है किन्तु अपने ही आत्मा का स्वभाव है।

यह आत्मा परमात्मा के समान स्वभाव का धारी है। जब परमात्मा परमानन्द मई है तब यह आत्मा भी परमानन्द मई है। परमात्मा के पास मोह और अज्ञान का मैल नहीं है इस से उस का आनन्द प्रगट है। हम संसारी आत्माओं के पास मोह और अज्ञान का मैल है। इसी से हम उस सच्चे आनन्द को नहीं पाते हुए चिरकाल सुख के प्यासे बने रहते हैं। सच्चा सुख आत्मा में है। इस का दूसरा प्रमाण यह है कि जब हम विना किसी मतलब के किसी के साथ भलाई करते हैं किसी के दुःखों को मेटने के लिये अपने धन शरीर आदि का उपभोग करते हैं तब हमारे

मन में कुछ आनन्द सा होता है। यह आनन्द उसी सच्चे सुख का झलकाव है जो हमारे आत्मा का स्वभाव है। परोपकार करते हुये कुछ न कुछ मोह घटाया जाता है। बस जितना मोह घटता है उतना ही सुख झलकता है। इस सच्चे सुख को जो हमारे ही पास है हम यदि उस के भोगने का सत्य मार्ग जान लेवें तो हमारा यही जीवन मात्र ही सुखदाई न हो किन्तु परलोक का जीवन भी सुखदाई हो जावे।

सच्चे सुख के पाने का उपाय वास्तव में आत्मध्यान आत्ममनन आत्मभक्ति तथा परोपकार है।

इसके लिए हम को सच्चे देव, शास्त्र, गुरू को पहचानना चाहिये जिन की भक्ति पाठ व सेवा से हम आत्मा को जान सकें व आत्मध्यान का पाठ सीख सकें।

जिस देव में अज्ञान नहीं व क्रोध मान माया लोभादि कषाय नहीं; जो सर्वज्ञ, सर्व दर्शी, निष्कलंक, निष्कषाय, कृत कृत्य, स्वात्मावलम्बी, चिदानन्द भोगी व सर्व चिन्ताओं से रहित है वही परमात्मा सच्चा देव है। उस में जगत को बनाने व बिगाड़ने, किसी की प्रशंसा से खुश हो सुखी करने, किसी की निन्दा से अप्रसन्न हो दुःखी करने की भावना नहीं होती है। ऐसे परमात्मा की भक्ति करने से अपने आत्मा के गुणों में विश्वास बढ़ता है क्योंकि हर एक आत्मा के वे ही गुण हैं जो एक परमात्मा में होते हैं--परमात्मा में प्रगट हैं। हम आत्माओं में वे पूर्ण प्रगट नहीं हैं क्योंकि हम पापपुण्य कर्म के बन्धनों से अशुद्ध हैं परमात्मा बन्धन रहित शुद्ध है। हमें ऐसे परमात्मा को छोड़ कर और किसी राग द्वेषी संसार की वासनाओं में आसक्त देवी देवता की भक्ति पूजा न करनी चाहिये। क्योंकि वह हमारे

सच्चे सुख के लाभ में साधक न होकर बाधक होगी।

शास्त्र भी वही है जिस में आत्मा की शुद्धी करने का-अर्थात् अज्ञान और कषाय मेटने का उपदेश दिया गया है।

ऐसे आत्म-गुण सूचक शास्त्रों को पढ़ने से पाठकों को आत्मध्यान में सहायता मिलती है।

गुरु व साधु वही है जो अज्ञान और कषाय मेटने के लिये निरंतर आत्मध्यान का अभ्यास करता है। अपना वर्ताव ऐसा रखता है जिससे किसी प्राणी को कष्ट न पहुंचे। वह सांसारिक आरम्भ और धनधान्य वस्त्रादि परिग्रह से रहित होता है जो गृहस्थियों के भीतर पाई जाती हैं। ऐसे आत्मध्यानी वैरागी साधुओं की सेवा भी हमारे आत्मध्यान की प्राप्ति में सहायक होगी।

हमें सच्चे देव, शास्त्र व गुरु की श्रद्धा रख कर गृहस्थावस्था में रहते हुए इन दो श्लोकों के अनुसार अपना वर्तावा रखना उचित है। इसीसे हम सच्चे सुख को स्वयं ही पाते हुए अपने जीवन को ऐसा आनन्दमय और परोपकारी बनासकेंगे कि हम दूसरों के लिये आदर्श होजावेंगे:—

"देव पूजा गुरु पास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः
दानश्चेति गृहस्थाणां षट्कर्माणि दिने दिने"

अर्थात्—देव की पूजा, गुरु की सेवा, शास्त्र पढ़ना, संयम का अभ्यास, तप का साधन और दान देना ये छः कर्म गृहस्थियों को प्रतिदिन करने चाहियें।

"मद्य मांस मधुत्यागैः सहाणुव्रत पंचकं
अष्टो मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः

(समन्तभद्रकृत रत्नकरंड)

भावार्थ-नशा, मांस न खावे तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय,

ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पांच व्रतों को यथा शक्ति पालें-येही गृहस्थों के आठ मूल गुण महा मुनियों ने बताए हैं ।

इस पुस्तक में इन्हीं दो श्लोकों का कथन विस्तार से बताया गया है—ऊपर हम कह चुके हैं कि सच्चे सुखके खोजी को सत्यमार्ग पाने के लिये सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा रखके उनकी भक्ति करनी चाहिये-इस कथन में हमारे तीन नित्य कर्म आजाते हैं-अर्थात् देव पूजा, गुरु भक्ति और स्वाध्याय (शास्त्र पढ़ना) । अन्य तीन का भाव यह है कि संयम अर्थात् आत्मसंयम हमारे जीवनको बनानेके लिये बहुत आवश्यक है-हमको अपनी इच्छाओं को परिमित करलेना चाहिये शरीर को स्वास्थ्ययुक्त रखने व जीवन यात्रा सुखमय बनाने के लिये अपनी इच्छाओं पर हमें अपना अधिकार जमालेना चाहिये-हमें उन अशुद्ध खान पान व संगति से बचना चाहिए जो हमें मौज शौक में डाल कर हमें लम्पटी बनाडालें-हमें सादा और शुद्ध खान पान व पहनावरखना चाहिये हमें भारत की प्रसिद्ध दाल रोटी साग घी दूधसे संतुष्ट रहना चाहिये व भारत के बने शुद्ध वस्त्रों को व्यवहार करना चाहिये । वेश्या आदि की संगति से बचना चाहिये ।

तप में हमको प्रत्येक प्रातः काल और सायंकाल ध्यान का अभ्यास करना चाहिये-एकांत में बैठ कर अपने आत्मा का शुद्ध स्वभाव इस नीचे लिखे श्लोक के अनुसार विचारना चाहियेः—

एकोहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्र गोचरः ।
बाह्या संयोगजाभावाः मत्तः सर्वेपि सर्वथाः ॥

भावार्थ—मैं एक हूं, मेरा कोई दूसरा नहीं है, मैं शुद्ध हूं, ..ी हूं, योगीगण ही मुझे जान सक्ते हैं—

जो रागद्वेषादि भाव हैं वे मेरे से बिल्कुल बाहर हैं क्यों कि कर्म के संयोग से पैदा हुए हैं—

इस आत्मध्यान के लिये हमारी लिखितआत्मधर्म पुस्तक दफ्तर जैनमित्र चंदावाड़ी सूरत से मंगाकर पढ़नी चाहिये।

दानके लिये हमें जिनको आवश्यक हो उनको आहार औषधि विद्या व अभय देना चाहिये—यदि हम अपने तन मन धनसे दूसरों की न्यायपूर्ण आवश्यक्ताओं को पूर्ण करदेंगे तो वे संतोष पाकर अपना जीवन निर्वाह करसकेंगे हम परोपकार से सुखशान्ति पासकेंगे। हमे यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि यदि हम भूखे रहें, मांदे रहें, विद्याहीन मूर्खहों, आश्रय रहित हों तो कितना कष्ट भोग सक्ते हैं ऐसाही कष्ट दूसरे प्राणियों को भी होगा—यही बात चित्त में धारणकर हमें अपने से यथाशक्ति दूसरे के इन कष्टों को मिटा देना चाहिये। इन चार दानों में विद्यादान के समान कोई दान नहीं है—हमें ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये कि कोई मानव विद्या बिना पशु समान न रहे। विद्या लाभ कर मनुष्य कभी बिना रोज़गार के नहीं रह सकता, तथा वह हित अहित को समझ कर अपना जीवन आत्मध्यानी और परोपकारी बना सकता है।

इन छः कर्मों को जो गृहस्थ सुख शान्ति के उद्देश्य से पालता है वह अवश्य सुख शान्ति का लाभ करता है। गृहस्थों को कोई नशा न पीना चाहिये। प्रत्येक नशा शरीर के अङ्गों का घातक है व मन को विकारी बनाने वाला है। इसी तरहमांस भी न खाना चाहिये। यह भी अस्वाभाविक भोजन है—मनुष्य ऊँट, बैल व घोड़ों के समान काम वाला (business anim-

वा) हैं इसलिये उसको इन पशुओं की भांति कभी मांस मद्य न लेना चाहिये। अन्नादि पर ही संतुष्ट हो खूब काम करना चाहिये। इस पुस्तक में उनकी अनावश्यकता बहुत अच्छी तरह बताई है। पशु पत्ती भी हमारे छोटे भाई हैं-हम मांसाहार के कारण इन अपने गूंगे भाइयों को बड़ी निर्दयता के साथ कसाई-खानों में कटवाते हैं। दयाप्रेमी मानवों के लिये मांसाहार का करना असंभव है। मधु भी बड़ी निर्दयता से मक्खियों को कष्ट देकर लाया जाता है। यह उनका भोज्य है। दयाप्रेमी उनका धन लूटकर आप अपना तुच्छ स्वार्थ नहीं साधते हैं। अहिंसा, व सत्य आदि पांच व्रतों का वर्णन इस पुस्तक में बहुत ही विस्तार के साथ किया गया है। गृहस्थों को बताया गया है कि वे पशुओं की संकल्पी हिंसा न करें जो प्रायः धर्म के नाम से, मांसाहार के लिये, शिकार खेलने में व दूसरे मौज़ शौक़ में की जाती है। वास्तव में विचारवान दयाप्रेमी मानव के लिये यह हिंसा आवश्यक नहीं है।

राज्यपाट, व्यापार, कृषि, शिल्पादि प्रबन्ध में जो हिंसा करनी पड़ती है वह गृहस्थ के लिये छूट नहीं सकती है--इस हिंसा के त्यागी आरंभत्यागी गृहस्थ व साधु जन नहीं हो सकते हैं। सत्य बोलना, चोरी न करना, अपनी विवाहिता स्त्री में सन्तोप रखना ये बातें हर एक गृहस्थ के जीवन को न्याययुक्त बनाने के लिये आवश्यक हैं। इसी तरह उसको एक मर्यादा धन सम्पत्ति के लिये भी बांध लेना चाहिये कि इतनी दौलत मेरे लिए बस है--यह परिग्रहपरिमाण सन्तोप परिग्रह का चोड़ा है। भविष्य की वृद्ध अवस्था को निराकुल धर्मपूर्ण और परोपकारी बनाने वाला है।

गृहस्थों के चरित्र को स्वर्णमय बनाने के लिये इन आठ मूल गुणों का धारना अतिशय ज़रूरी है।

इस पुस्तक में यह विशेषता है कि ऊपर लिखित गृहस्थ के सुख शान्ति दाता सत्यमार्ग के विवेचन में जैनधर्म का आदर्श दिखाया है तथा बताया गया है कि जैन शास्त्रानुसार एक जैन गृहस्थ वही हो सकता है जो ऊपर लिखा हुआ चारित्र पालता है।

विद्वान लेखक ने अजैन शास्त्रों और पुस्तकों के वाक्यों को देकर यह बतलाने की चेष्टा की है कि उन में भी यही भाव झलकता है यद्यपि वर्तमान में उन वाक्यों का अर्थ उनके मानने वाले ठीक नहीं पाकर उनके अनुसार वर्ताव नहीं कर रहे हैं।

पुस्तक में अहिंसा और मांसाहार निषेध का कथन हिन्दू ईसाई, मुसलमान, पारसी की पुस्तकों के वाक्य देकर इतना बढ़िया किया गया है कि यदि ये लोग अपने २ धर्म ग्रन्थों के उन वाक्यों पर श्रद्धा रख के चलना चाहें तो उन के लिए यह अनिवार्य हो जायगा कि वे एक दम पशु हिंसा और मांस खाना छोड़ दें।

वास्तव में गृहस्थों को सत्य मार्ग दिखाने में इस पुस्तक ने एक आदर्श रख दिया है।

लाला फुलज़ारीलाल जी जैन ज़मींदार करहल ज़ि० मैनपुरी की यह गाढ़ भावना थी कि मैं अपने जीवन में एक सर्व गृहस्थों को दिन रात उपयोगी व उनको सत्य मार्ग दिखाकर सुख शान्ति देने वाली पुस्तक निर्माण कराकर प्रकाश कराऊँ- विद्वान लेखक बाबू कामताप्रसाद जी ने उन की इस भावना को पूर्ण कर जगत के मानवों का बहुत बड़ा उपकार किया है।

पाठकों को उचित है कि पुस्तक को ध्यान से पढ़ें व जहां कहीं शंका हो उस के लिये बाबू कामताप्रसाद अलीगंज डि० एटा से पत्र व्यवहार करें।

९-१-२६ } ब्र० शीतलप्रसाद
आ०सम्पादक 'जैन मित्र' सूरत

मंगलाचरण

"परमागमस्य बीजं निषिद्ध जन्मांधसिंधुरविधानं ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तं ॥"

"सत्यमार्ग" का दिग्दर्शन कराने में सफलीभूत होऊँ और जिनप्रणीतं यथार्थ 'सत्य' का प्रकाश पा सकूँ, इन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये सर्व प्रथम यहां पर उपरोक्त आर्ष वाक्य द्वारा 'मैं उस अनेकान्त को नमस्कार करता हूं, जो परमागम का बीज है और जिस ने अन्धों के हाथी के एक अंश को पूर्ण हाथी मानने के भ्रम का दूर कर दिया है, अर्थात् जो सर्व अंश रूप पदार्थ है उसके एक अंश को पूर्ण पदार्थ मानने की भूल को मिटा दिया है। इसी लिये यह अनेकान्त सिद्धान्त भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से भिन्न भिन्न बात को मानने वालों के विरोध को मेटने वाला है और एक यथार्थ 'सत्य' को सुझाने वाला है। सर्व मतों के अनुयायियों को इस की कृपा से अपने २ धर्म की असलियत का पता चल जाता है और वे इस के उपासक बन कर आत्म-सुख-लाभ करते हैं। इसीलिए मन, वचन, काय कर उस परमोत्कृष्ट 'अनेकान्त' को ही बारम्बार नमस्कार है। जय! अनेकान्त की जय!

—लेखक

समर्पण

धर्म के पारखी और जैन समाज के कर्णधार

अपने मान्य मित्र

श्रीमान् विद्यावारिधि पं० चम्पतराय जी जैन

बैरिष्टर-एट-लॉ के कर-कमलों

में

मुख्यतः उन्हीं के तद्विषयक विद्वत्तापूर्ण

ग्रंथों को अध्ययन करने के फलरूप

प्राप्त हुई तुलनात्मक-धर्म

संबंध की यह कृति

सादर सप्रेम सम-

र्पित है।

कामताप्रसाद जैन

प्रस्तावना

"वस्तु स्वभावो धर्मः ।"

वस्तुका स्वभावही धर्म है। पदार्थ में जो गुण हैं वही उसके स्वभाव के द्योतक हैं। अग्निका गुण उष्णता है: वही उसका स्वभाव है। इसी तरह आत्माका धर्म आत्माके निज स्वभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। दूसरे शब्दों में यदि कहें तो जो यथार्थ सत्य है-वस्तुस्थिति की मर्यादा है, वही धर्म है। वास्तवमें धर्म यही है। इसके सिवा और कोई मत-विशेष सनातन और यथार्थ धर्म कहलाने का हक़दार नहीं है। सत्यही धर्म है-वस्तुस्थितिका यथार्थ प्रतिपादनहीं वास्तविक दर्शन है। सत्य सर्वथा सर्वदा और सर्वत्र एक है। उसके अनेक भेद हो नहीं सक्ते। वह जैसाहै वैसा ही है। इसके विपरीत जो एक से अधिक धर्मों का अस्तित्व लोकमें देखा जाता है, वह मनुष्य बुद्धि के विभिन्न भ्रमों के उद्गार मात्र हैं। मूलमें मनुष्य जातिका धर्म एक यथार्थ सत्य—वस्तुस्थितिमय ही रहा है।

जैन इतिहास पर यदि हम दृष्टि डालें तो हमें वहां से इस व्याख्या का समर्थन होते मिलता है कि इस युग के मनुष्यों का सर्व प्रथम धर्म एक यथार्थ सत्य था। वहां बतलाया गया है कि जब इस युगमें भोगभूमि का अन्त यहां हो गया और कर्तव्य-वाद का ज़माना आया तब अन्तिम कुलकर नाभिराय के पुत्र राजकुमार ऋषभदेव ने जनता को मनुष्यों के दैनिक कर्म बत-

लाये थे और फिर जब वे ऋषभदेव गृहत्याग कर परम दिग-म्बर मुनि होकर कैवल्य पदासीन हो गये—साक्षात् सर्वज्ञ परमात्मा बन गये—तब उन्होंने सर्वप्रथम मानवों को यथार्थ सत्य वास्तविक आत्मधर्म का उपदेश दिया था। यह उपदेश सर्व अन्तिम भगवान महावीर द्वारा पुनः प्रचारित होकर आज हमें जैनधर्म के नाम से मिलरहा है। और सचमुच उसमें लोक और आत्मसम्बन्धी सर्व बातों का विवेचन वैज्ञानिक रीति से वस्तुस्थिति के अनुरूप में मिलता है। उसमें पूर्वापर विरोध कहीं नज़र ही नहीं आता है। उसके सिद्धान्त जो आजसे ढाई हज़ार वर्ष पहिले थे, वही आज हैं। यह व्याख्या बौद्धशास्त्रों की साक्षी से प्रमाणित है। इस तरह इसमें संशय के लिये स्थान ही नहीं रहता है कि इस युग में भगवान ऋषभदेव द्वारा प्रचारित धर्म ही यथार्थ सत्य है और यह वही है जो आज जैनधर्म के नाम से विख्यात् है। स्वयं हिन्दुओं के श्रीमद्भागवत जी में (अ० ५) भगवान ऋषभको कैवल्यज्ञान-युक्त और आत्मधर्म (आत्मधर्म) का सर्वप्रथम उद्योत करने वाला लिखा है। इसी तरह बौद्धों के प्रख्यात न्याय-ग्रंथ 'न्याय बिन्दु' में सर्वज्ञ आप्त के उदाहरण में इन्हीं भगवान ऋषभदेव और महावीरस्वामी के नामोल्लेख दिये गये हैं। इस तरह जैनधर्म के मूल प्रचारकों की सर्वज्ञता का प्रतिपादन स्वयं हिन्दू और बौद्धग्रंथ करते हैं, जो संसार में प्रचलित विशेष प्रख्यात् मतों में विशेष प्राचीन हैं। इस अवस्थामें जैन इतिहास की उक्त मान्यता माननीय प्रमाणित होती है।

जैनधर्म के विवरण की आर्षता और वैज्ञानिकता प्रस्तुत पुस्तक को निष्पक्ष और तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने से भी प्रमाणित हो जाती है। सचमुच इतर धर्मों में गृहस्थों के

आवश्यक धर्मकर्तव्यों का प्रतिपादन उस व्यापकता और सैद्धान्तिकता को नहीं लिये हुये है जो उसे जैनधर्म में नसीब है। यह हमारा कोरा कथन ही नहीं है, बल्कि निष्पक्ष खोज यही प्रमाणित करती है। विदेशी विद्वानों ने इसका अध्ययन करके इसी निष्कर्ष को पाया है। फ्रान्सके बड़े विद्वान् डा० ए० गिरनाट साहब लिखते हैं कि 'मनुष्यों की उन्नति के लिए जैनधर्म में चारित्र सम्बन्धी मूल्य बहुत बड़ा है। जैनधर्म एक बहुत असली, स्वतंत्र और नियमरूप धर्म है। यह ब्राह्मण मतों की अपेक्षा बहुत सादा, बहुत मूल्यवान तथा विचित्र है। एवं बौद्ध धर्म के समान नास्तिक नहीं है।' अन्यत्र इटली के विद्वान् डा० एल० पी० टेसीटोरी भी उसकी वैज्ञानिकता स्वीकार करते हैं। आप लिखते हैं कि जैनदर्शन बहुत ही ऊँची पंक्ति का है। इसके मुख्य तत्व विज्ञानशास्त्र के आधार पर रचे हुये हैं; यह मेरा अनुमान ही नहीं है, बल्कि पूर्ण अनुभव है। ज्यों ज्यों पदार्थ विज्ञान उन्नति करता जायगा त्यों त्यों उस के सिद्धान्त सिद्ध होते जांयगे।' ऐसा ही मत जरमनी के प्रख्यात् संस्कृतज्ञ प्रो० डा० हेल्मुथ वौन ग्लैसेनेप्प ने अभी हालमें बड़ी खोजके उपरान्त प्रगट किया है। आप लिखते हैं कि 'सम्भवतः आर्यों का यही (जैनधर्म) सबसे प्राचीन तात्त्विक दर्शन है और अपनी जन्मभूमि में यह आजतक बिना किसी रद्दोबदल के चला आताहै।' इस तरहइस सर्व प्राचीन, वैज्ञानिक और विशेष मूल्यमय धर्म के सिद्धान्त यथार्थ सत्य होना लाज़मी ही हैं। उनकी आर्षता और व्यापकता इतर धर्मों से विशिष्ट होना चाहिये; यही बात इस पुस्तक में वर्णित जैन और अजैन सिद्धान्त की तुलना करने से प्रमाणित है; परन्तु उन में किसी हद तक सादृश्यता मिलती है, इसका कारण जानना भी आवश्यक है।

विवरण दिया हुआ है। तथापि 'महाभारत' में भी ऐसा ही उल्लेख है, जैसे कि प्रस्तुत पुस्तक में यथास्थान बताया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस समय प्रचलित प्रख्यात मतों-हिन्दु और बौद्ध धर्म आदि का आधारभूत जैन धर्म ही प्रतिभाषित होता है। तथापि ईसाई, पारसी, इसलाम आदि नव जात धर्मों के प्रचारक इन्हीं भारतीय धर्मों से शिक्षित हुये थे, यह भी वर्तमान खोज से प्रायः प्रमाणित हो चुका है। ऐसी परस्थिति में यदि इन धर्मों में मूल धर्म से सादृश्यता रखनेवाले उल्लेख मिलें तो कोई आश्चर्य नहीं है। हजरत मुहम्मद स्पष्टतः कहते हैं कि:—

"I am no apostle of new doctrines," said Muha-mmad, "neither know I what will be done with me or you." -(Koran XLVI.)

भावार्थ—"मैं नवीन सिद्धान्तों का प्रचारक नहीं हूं और न मैं यह जानता हूं कि तुम्हारे या मेरे साथ क्या होवेगा?" इसी लिये मुसलमानों के लिये यह हिदायत है कि वे प्राचीन मतों की भी विनय करें। यही बात पारसी धर्म में कही गई है। बतलाया गया है कि पहले प्राचीन सत्य धर्म प्रचलित थे उनकी अवज्ञा मत करो। बाइबिल भी ईसाई मत से पहले यथार्थ धर्मों का अस्तित्व बतलाती है। अतएव यह स्पष्ट है कि इन धर्मों के आधारभूत प्राचीन आर्य धर्म ही थे। ईसाई मत में मूल में जैनधर्म के सिद्धान्त गर्भित हैं। यह आज उपरोल्लिखित विद्वानने प्रमाणित कर दिखाया है। इसदशा में इनधर्मों में जैनधर्म के सिद्धान्तों का साञ्जस्य बैठना युक्ति युक्त ही है। तथापि उन में अहिंसादि चारित्र नियमों का प्रतिपादन गृहस्थों के लिये किया हुआ

मिल जावे और लोक संबंधी मानताओं का विवेचन भी होवे, जो जैन धर्म के सिद्धान्तों से मिलता जुलताहो, जैसे कि इस पुस्तक में दिखाया गया है, तो कोई अनोखी बात नहीं है। हां, यह अवश्य है कि वर्तमान में इन धर्मो के अनुयायियों की मानतायें उन के खिलाफ़ हैं। इस का कारण समय का प्रभाव और प्रवृति के साथ २ इन धर्मों के गून्थों का अनियमित ढंग और अलंकृत भाषा है। इन्हीं कारणों वश भ्रम में पड़ कर मनुष्य इन गून्थों के मूलभाव के प्रतिकूल भी वर्तन करने लगे हैं। अवश्य ही शब्दार्थ में इन गून्थों को पढ़ने से इन में कर्तृत्ववाद, हिंसाकाण्ड आदि सिद्ध होते हैं; परन्तु वे शब्दार्थ में गृहण करने के लिये नहीं हैं; यह बात स्वयं इन धर्मों के आचार्यों ने प्रकट करदी है। सचमुच "आत्मरामायण" के कर्त्ता ने यह स्पष्ट कर दिया है कि हिन्दू शास्त्र अलंकृत भाषा में रचे हुये हैं। यही बात हिन्दू विद्वान् मि० ऐय्यर के 'परमानेन्ट हिस्टरी आफ भारत वर्ष' में प्रमाणित की है। तथापि विद्यावारिधि पं० चम्पतराय जी ने अपने विविध गून्थों द्वारा इस व्याख्या को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि हिन्दुओं के वेदादि अलंकृत भाषा में आत्म धर्म का ही उपदेश देते हैं। यही दशा ईसाई मत की है। हज़रत पाल (St. Paul. IV. 21-26.) यही कहते हैं कि यहो अलंकृत वार्तायें हैं। ‡ इसी लिए कहा गया है कि 'नबी (प्रोफेट) ने स्पष्ट शब्दों में विवेचन नहीं किया, उन्हों ने चित्रों में लिखा। और चित्रों के अर्थ बाज़दफे जानबूझ कर छुपा दिये गये।' इसी तरह कुरान में भी कहा

‡ "Which things are an allegory."

गया है कि "हमने उन के हृदयों पर परदा डाल दिया है कि वह कुरान को समझ न लेवें और उन के कानों में सुनने के लिये बहरापन रख दिया। † मि० ख्वाजाखां अपनी धर्म पुस्तक के बारे में यही लिखते हैं कि "वह उचित नहीं समझा गया था कि इस विषय का विवेचन खुले शब्दों में किया जावे और सत्य को खोल कर साधारण मनुष्यों के सामने रख दिया जावे, जो उस को गृहण करने के लिए तैय्यार नहीं थें और जिन्हों ने उन को विकृतरूप दिया। उस समय प्रचार कार्य अलंकृत भाषा के द्वारा खूब किया जा सका था।"※ यही दशा पार्सी धर्म की है। सचमुच उस जमाने में अलंकृत भाषा में धर्मोपदेश देना सभ्यता का एक चिन्ह था किन्तु उस से उपरान्त जो अनर्थ हुआ वह स्पष्ट है। लोग उन के मूल भावों को ही खो बैठे। कैसा अनर्थ घटित हुआ! जिस भय के कारण उन की रचना अलंकृत रूप में की गई थी वही अगाड़ी आगया! यूनानी तत्ववेत्ता सिकेरो (Cicero) कहता है कि पहले ऐसे मनुष्य हो गुजरे हैं, जिन्हों ने अलंकृत भाषामें ग्रंथ लिखे थे, कि शायद उनका अनर्थ न किया जावे! परन्तु दुःख है कि ज़माने ने वह अनर्थ अगाड़ी ला रक्खा! आज उन आत्माओं को इस दशा में कितना परिताप होता होगा, यह तो ज़रा विचारिये। जो हज़रत मुहम्मद आवागमन सिद्धान्त के प्रचारक और जीव रक्षा के हिमायती थे वह आज अपने अनुयायियों को इन मन्तव्यों के विरुद्ध वर्तन करते हुये क्या हर्षित होंगे? कदापि नहीं! किन्तु उनकी

---

† Quoted in the "Studies in Tasawwuf" p. 2
※ Ibid Intro. p. viii

अलंकृत भाषा के भाव को समझना ही कठिन था। इसी कारण यह अनर्थ घटित हुआ। हज़रत मुहम्मद आवागमन सिद्धान्त को स्वीकार करते थे, यह उनके इस वक्तव्य से स्पष्ट है:—

"Truly man's guidance is with us, and Our's the Future & the Past".

[The Ethics of Koran p 24]

यहां कर्मवाद-मुक़द्दर के ज़ोरदार सिद्धान्त का स्पष्ट विवेचन है। आत्मा ही संसार अवस्था में पड़ा गतसमय से चलता आया है और अगाड़ी चलेगा तथा वर्तमान भी उस का उसके आधीन है। और वह मूल में परमात्मा ही है। इस कारण उक्तरीति से इस का प्रतिपादन करना ठीक ही है। इसको समझने के लिये कुञ्जी की ज़रूरत है और वह कुञ्जी यथार्थ सत्य में मौजूद है। वैज्ञानिक जैनधर्म का सैद्धान्तिक विवेचन इन गुत्थियों को सुलझा देता है; जैसे विद्यावारिधि जी के ग्रंथों से स्पष्ट है। ऐसे ही हज़रत मुहम्मद हिंसा से कितना परहेज़ करते थे, यह प्रस्तुत पुस्तक को पढ़ने से स्पष्ट हो जायगा। ज़िन्दा जानवरों की 'कुरबानी' जो आजकल इस्लाम का एक मूल अंग बन रही है, वस्तुतः कुरान में कोई स्थान नहीं रखती है। कुरबानी से मतलब वहां इन्द्रिय जनित विषय वासनाओं को 'ज़िबह' करने से है। वैसे इस्लाम में वृथा ही पशुओं को मारने के विधान को स्थान प्राप्त नहीं है। मि० खाज़ाखां भी प्रायः इसी मत का प्रतिपादन अपनी "Studies in Tasawwuf" नामक पुस्तक में करते हैं। यही हाल अन्य धर्मों का है। इन सब का तुलनात्मक विवेचन श्रीमान् विद्यावारिधि चम्पतराय जी की असहमत संगम इत्यादि

पुस्तकोंमें बड़ी खूबी से किया गया है, वहां से देखना चाहिये। पुस्तक प्रस्तुत को रचने में भी उन से विशेष सहायता ली गई है; इसके लिये हम विद्यावारिधि जी के निकट कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

सारांशतः यह स्पष्ट है कि यथार्थ सत्य का प्रतिपादन जो जैनधर्म में किया हुआ आज मिलता है, वही सर्व प्रथम आर्य जाति का पवित्र धर्म था; किन्तु समयानुसार ब्राह्मणादि धर्म उस से विलग होते गये और नवीन धर्मों की सृष्टि होती गई। इन नये धर्मों में अलंकृत भाषा को अपनाया गया, जिसके कारण उनका मूल भाव लोगों की नज़रों से ओझल हो गया और वे उनको शब्दार्थ में गृहण करके हिंसा आदि अधार्मिक कार्यों को धर्ममय समझने लगे और उन में समयानुसार परिवर्तन होते गये। किन्तु इसदशा में भी उन का मूल भाव प्रगट हो जाता है, यदि जैनधर्म का अध्ययन कर के उन का मतलब लगाया जाय, जैसे कि जैनविद्वान् चम्पत-राय जी ने प्रकट किया है। प्रस्तुत पुस्तक में इसी अनुरूप जैनधर्म के अनुसार एक गृहस्थ के लिये प्राप्त करने का सत्य-मार्ग प्रतिपादित करते हुये; अन्यधर्मों से भी इस सत्यमार्ग का दिग्दर्शन कराया गया है। जहां तक हम इतर धर्मों में उसकी सिद्धि होते देख सके हैं, वहीं तक उसका समावेश इस पुस्तक में कर दिया है। तथापि चारित्र नियमों के इस तुलनात्मक अध्ययन के अनुभव से हम यह कहने को वाध्य हैं कि एक नियमित ढंग और स्पष्ट वादिता के अभाव में उन में उनका प्रतिपादन उस सैद्धान्तिक ढंग पर नहीं है जैसा कि जैन शास्त्रों में है। अतएव उपरोक्तकथन को ध्यान में रखते हुये प्रत्येक धर्म के यथार्थ तत्व को समझने के लिये

जैन शास्त्रों को अध्ययन करने का अनुरोध प्रत्येक पाठक से करेंगे। यहां पर यह ध्यान अवश्य रहे कि उपरोक्त कथन तथा प्रस्तुत पुस्तक को उपस्थित करने में हमारा भाव किसी धर्म को जान बूझ कर हेय प्रकट करने का नहीं है। जो बात तुलनात्मक अध्ययन से प्रतिभाषित हुई उसी को हमने यहां प्रकट कर दिया है। यदि इस में कोई त्रुटि हो अथवा कोई अयथार्थ वर्णन हो तो उसके लिए हम पाठकों के प्रति क्षमा-प्रार्थी हैं। तथापि विश्वास है कि वे उन कमताइयों को हम पर प्रगट कर देंगे जिस से उन का सुधार आगामी कर दिया जावे।

वास्तव में यह विषय इतना सुगम नहीं है कि कोई सहसा इस में सफल मनोरथ हो सके; परन्तु श्रीमान लाला फुलजारीलाल जो साहब के विशेष अनुरोध ने मुझे इस विषय में प्रवृत होने के लिये बाध्य कर दिया और यह मेरे परम हर्ष का कारण है कि इस में मैं किंचित सफल प्रयास भी हुआ हूं। जिस समय उक्त लाला जी ने मुझसे यह कहा कि ऐसी पुस्तक लिखाने की हमारी अभिलाषा बहुत दिनों से वैसी हो चली आरही है; कोई भी जैनपण्डित अभीतक इस को लिखने के लिये तैय्यार नहीं हुआ है; उस समय हमने लाला जो को शुभ अभिलाषा को पूर्ति के लिए इस पुस्तक का लिखने का उत्तरदायित्व अपने हाथों में लेलिया। बेशक श्री वीरप्रभू की श्री अनन्य भक्ति से यह पूर्ण भी होगई है और लाला जो की कृपा से पाठकों के हाथों में भी है; परन्तु तोभी हम समझते हैं कि इस विषय की यह पूर्ण पुस्तक नहीं है। और इसलिये हम आशा करते हैं कि निकट भविष्य में कोई निष्णात विशेषज्ञ इस विषय की एक पूर्ण और नियमित पुस्तक लिख कर मानवों का उपकार करेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक में बहुतसी बातें मुसलमान ईसाई आदि धर्मों के अनुयायियों में आजकल प्रचलित रिवाजों के प्रतिकूल वर्णन रखतीं मिलेंगी। इसका कारण यही है कि इन धर्म के ग्रन्थों का मूलभाव उनके अनुयायियों ने नहीं गृहण किया है, जैसा कि उन पैगम्बरों की मन्शा थी। इस लिये हमें विश्वास है कि वे इस पुस्तक के अध्ययन से अपने धर्म ग्रन्थों में वर्णित चारित्र नियमों का वास्तविक दर्शन करके लाभ उठायेंगे। जैन भाइयों को अपने पड़ोसी भाइयों से उपेक्षा न करके उन्हें प्रेमपूर्वक श्रावक के अणुव्रतों का महत्व समझाना उचित है; जो स्वयं किसी न किसी रूपमें उनके धर्म ग्रन्थों में भी मिलते हैं। इस ढंग से धर्मप्रचार करने से ही संसार में सुख-शांति का साम्राज्य सिरजा जा सक्ता है और परस्पर प्रेम की अभिवृद्धि की जा सक्ती है। अस्तु,

'सत्य-मार्ग' का निरूपण किस ढंग से प्रस्तुत पुस्तक में निर्दिष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, यह उपरोक्त कथन से स्पष्ट है। तथापि जैन धर्मभूषण धर्म दिवाकर श्रीमान् ब्र० शीतलप्रसाद जी ने कृपाकर के जो भूमिका लिखदी है और जो अन्यत्र प्रकट है, उससे इस ढंग का पूरा परिचय पाठकों को प्राप्त हो जाता है। इस कृपा के लिये हम पूज्य ब्र० जी के विशेष आभारी हैं। तथापि आपने प्रेसकापी को भी शोध दिया था, उसके लिये भी हम आपके निकट कृतज्ञता प्रकट करते हैं। साथ ही हम उन सब ग्रन्थकर्ताओं और लेखकों का

भी आभार स्वीकार करते हैं जिनकी मूल्यमई रचनाओं से प्रस्तुत पुस्तक को लिखने में पूर्ण सहायता ग्रहण की गई है। अस्तु;

अन्ततः इस पुस्तक के प्रकट होने में—लिखे जाने में और पाठकों के हाथों तक पहुंचने में—सब कुछ श्रेय श्रीमान् लाला फुलजारीलाल जी करहल निवासी का है। उन्हीं के निमित्त और परामर्श से यह पुस्तक लिखी गई और उन्हींके शुभ द्रव्यसे यह अपने इस रूपमें प्रकट प्रकाश में आरही है। इसके लिए हम उनके विशेष आभारी हैं।

परिणामतः हमारी यही भावना है कि सर्वसाधारण महाशय इससे उचित लाभ उठाकर अपने जीवनों को अहिंसापूर्ण और उन्नतिशाली बनावें तथा उपरोक्त लालाजी की अभिलाषा फलवती होवे। एवंभवतु। वन्देवीरम्।

विनीत—

कामताप्रसाद जैन उ० सं० 'वीर',

अलीगंज (एटा)

ग्रन्थ सहायक सूची।

हिन्दीः—

(१) असहमतसंगम-श्रीमान् विद्यावारिधि चम्पतराय जी कृत।

(२) सागारधर्मामृत-श्रीमान् आशाधर जी विरचित।

(३) धर्मसंग्रह श्रावकाचार-श्रीमान् मेधावी विरचित।

(४) ग्रहस्थ धर्म-श्रीमान् जै० ध० भू०, ध० दि०, ब्र० शीतलप्रसाद जी कृत।

(५) पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय-श्री अमृताचार्य विरचित, (सं० सटीक और हिन्दी पद्यवद्ध)।

(६) रत्नकरण्ड श्रावकाचार-श्री समन्तभद्राचार्य विरचित, (सं० सटीक व हिन्दी पद्यवद्ध)।

(७) सूक्तमुक्तावली-श्री सोमप्रभाचार्य विरचित, (हिन्दी पद्यवद्ध)।

(८) संसार में सच्चा सुख कहां है? श्री वा० मो० शाह कृत।

(९) अहिंसादिग्दर्शन-श्री विजय धर्म सूरि विरचित।

(१०) अहिंसा धर्म प्रकाश-श्री पं० फुलजारीलाल, जैन कृत।

(११) कर्तव्य कौमुदी-शतावधानी पं० रत्नचन्द्र जी प्रणीत

(१२) गऊ वाणी-श्री ऋषभचरण जैन प्रणीत।

(१३) भगवान बुद्धदेव-श्रीकाशीनाथ कृत ।

(१४) भगवान महावीर-श्री चन्द्रराज भण्डारी कृत ।

(१५) सत्यार्थदर्पण-श्री अजित कुमार शास्त्री रचित ।

(१६) आत्मधर्म-श्री ब्र० शीतलप्रसाद जी प्रणीत ।

(१७) उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला-श्री नेमचन्द्र भण्डारी कृत ।

(१८) उपासनातत्व-श्रीयुत युगलकिशोर जी कृत ।

(१९) अशोक के धर्मलेख-श्री जनार्दन भट्ट प्रणीत ।

(२०) दशलक्षणधर्म-श्रीयुत दीपचंद जी कृत ।

(२१) श्री मोक्षमार्ग प्रकाश जी-श्री टोडरमलजी कृत ।

उर्दू:—

(२२) हुस्ने अव्वल-श्री जिनेश्वरदास मायल कृत ।

(२३) आइने हमदर्दी-श्रीयुत पारसदास जी प्रणीत ।

अंग्रेज़ी:—

(२४) तत्वार्थधिगम सूत्र-श्री उमास्वामि प्रणीत S. B. J. Vol. II

(25) The Principles of Hindu Ethics, by M.A. Buch. M. A.

(26) The Zoroastrian Ethics by M.A. Buch. M.A.

(27) The Buddhas' Path of Virtue by F. L. Woodward.

(28) Ethics of the Koran by M.A. Buch. M.A.

(29) An Introduction to Jainism by A.B. Lathe. M.A.
(30) Useful Instruction by M.M. Munshi. vols. 3.
(31) The Vinaya Texts Tr.by Rhys-Davids & oldenberg. S.B.E. series.
(32) The Questions of king Milinda, Tr. Rhys Davids. S.B.E. series vol XXXV.
(33) Buddhist Suttas, Tr. by Rhys Davids. S.B.E. series. vol. XI.
(34) Testimony of Scriptures against animal sacrifice, by J.N. Mankas.
(35) Katha-Upnishada, Tr.by Pelly.
(36) Fo-Sho-Hing-Tsan-King. (Beal's Life of Buddha). S.B.E. series vol. XIX.
(37) The Catholic Piety by Rev. William Gahan, O.S.A.
(38) The Dialogus of Buddha.
(39) The Dhammapada. Tr. by Max Muller. S.B.E. series vol X.
(40) Suhrawardy's Sayings of Muhammada
(41) Jaina Gazette, Jaina Hostel Magazine, अहिंसा, वीर, प्रभृति सामायिक पत्रों से भी सहायता लीगई है, जिस के लिये हम आभारी हैं।

विषय-सूची

ॐ

श्री वीतरागाय नमः

(१)

क्या देखा ?

"है कांखता कोई कहीं, कोई कहीं रोता पड़ा।
कोई विलाप प्रलाप करता, ताप है कैसा कड़ा॥"

संसार में जो चारों ओर दृष्टि दौड़ाई तो एक अजब ही माजरा नज़र आया। कीड़े मकोड़े से लेकर सर्वोच्च जीवित प्राणी मनुष्य तक को दुःख के तापों से तपा हुआ पाया। कोई रोता है, कोई चिल्लाता है, कोई हंसता है और कोई खड़ा २ पछताता है। हाथ मलता है और रह रह कर इधर उधर की दौड़ धूप में व्यस्त होजाता है। कोई किसी को मारता है तो कोई किसी से प्रेम करता है। कोई किसी पर सत्ता जमाता है तो कोई किसी के बन्धनों को अस्वीकार करता है। सारांश में जिस ओर देखो कोलाहल मचा हुआ है। नीचे से नीचे

दर्जे के जीवित प्राणी के संसार से लेकर सर्वोच्च मानव संसार में वही ताण्डव नृत्य है। कहीं कम है तो कहीं ज्यादा; किन्तु उसका दृश्य सब ओर दृष्टिगत होता है। उसके अभिनय में कहीं आमोद-प्रमोद की अभिलाषा है और कहीं दुःख एवं दर्द से बचने के लिए भागाभाग! कोई काम-क्रोध की आग में जल रहा है और कोई मान एवं माया में फूला नहीं समाता! यह संसार तो ऐसा दिख रहा है मानो इस में परिवर्त्तन और रूपान्तर के सिवाय कुछ नहीं है!

पाठको आइये, देखें वस्तुतः इस संसार में है क्या? पशु-पेड़-पक्षी और मनुष्य यह हैं क्या? इनके मध्य यह कैसा घोर कोलाहल फैला हुआ है? क्या इस दुःख के विलाप का कहीं अन्त भी है? है तो वह कहां और कैसे मिल सकता है? इन सर्व प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए प्रिय पाठकगण! बस स्वच्छ मन हो हमारे साथ चले आइये। और एक टक हमारे साथ इस विशाल-लोक की सैर कर डालिये। घबड़ाइए नहीं, इस पर्य्यटन के लिये आपको कुछ 'दाम' ढीले भी न करने होंगे और न अपने घर के बाहर ही निकलना होगा! किन्तु अपने घर के ही एक एकान्त के कोने में आसन जमाए यह अद्भुत सैर कर डालिए और अपने ज्ञान से कार्य ले समझ लीजिए कि आपने उसमें "क्या देखा?"

इस अनोखी सैर में हम प्रविष्ट होगए हैं। क्षेत्र विशाल है, अनन्त है, सीमारहित है। श्यामल नीलाकाश अनन्त में व्याप्त है। उसही के मध्य हमारी पृथ्वी है एवं अन्य भू-क्षेत्र हैं, जिनका पता आज के मनुष्यों ने अभी तक नहीं पा पाया है। इसही के अन्तर्गत तारिकामण्डल, ग्रह-नक्षत्र, सूर्य और चन्द्र

हैं। और हैं वे लोक जिनको हम नहीं देख सकते पर जानते हैं और जिनकी नाम संज्ञा "स्वर्ग" और "नरक" है। वहाँ के निवासी क्रमसे सुखी और दुखी रहते हैं, यह भी हम जानते हैं। जहाँ तक यह पृथ्वी-द्वीप-क्षेत्र-लोक आदि हैं वहाँ तक की संज्ञा उस अनन्त आकाश की 'लोकाकाश' है। इसमें ही हम और आप और और चेतन अचेतन प्राणी विविध नाटक देखा करते हैं। इस 'लोकाकाश' के उपरान्त में जो "शून्य आकाश" है उसकी संज्ञा 'अलोकाकाश' है। यह अनन्त तो है ही परन्तु साथ में अकृत्रिम भी है। इसके मध्य अवस्थित वस्तुएँ इसी रूप में अनादिनिधन हैं। अतएव इस अनादिनिधन अपने लोक के विषय में अब हमें देखना है कि इसमें है क्या क्या?

अपने इस विशाल अभिनय क्षेत्र के रङ्ग मंच पर हम दो प्रकार की मूर्तियाँ देखते हैं। इनमें से एक प्रकार की तो मूर्तियां जीती जागती हैं। इनमें देखने, जानने और समझने की शक्ति है। और दूसरी प्रकार की मूर्तियाँ जीवन हीन हैं अर्थात् कुछ जान व समझ नहीं सकती हैं। प्रथम प्रकार की जीवित मूर्तियाँ आपस में विविध प्रकार के सम्बन्ध रखती हैं। कहीं उन में प्रेम और स्नेह होता है तो कहीं द्वेष और ईर्ष्या! इन ही का किंचित अभिनय हम और हमारे पाठक इस पुस्तक के प्रारम्भ में देख आए हैं। किन्तु जीव-हीन मूर्तियों में यह बातें नहीं हैं। उन में रङ्ग-वर्ण, सुगन्ध-दुर्गन्ध, खटास मिठास, कठोरता-कोमलता, शीतलता-उष्णता, सचिक्कणता-अचिक्कणता और हलका भारीपन अवश्य है परन्तु जीवित प्राणियों में भी यह गुण पाए जाते हैं। इन दोनों मूर्तियों में हेर फेर-उलटन पलटन किसी कारण से लगा रहता है। इन में क्षण क्षण में नूतन रूप बदलते हैं और नित्य परिवर्तन होते

हैं। काल की गति उन्हें कुछ का कुछ बना देती है। यही परि-वर्तन रङ्ग मञ्च पर नए नए अभिनय वा मनमोहक दृश्य लाते हैं, जिनको देख जीवित प्राणी विक्षुब्ध हो जाता है और राग विराग के हिंडोले में बैठ ऊपर नीचे गिरता उठता रहता है। इसका मूल कारण "इच्छा" है। इच्छा के वशीभूत हो यह जीवित प्राणी स्वयं तरह तरह के अभिनय करता है और औरों से कराता है। इसलिये यह इच्छा देखने में बड़ी सुन्दर और प्रिय है किन्तु तीक्ष्णरूप में कटु और पीड़ाकारी है। इस के अभिनय हम प्रति दिवस देखते हैं किन्तु तो भी इस ही के हाथ के कठपुतले बने नाचा करते हैं। तरह २ के रूप बनाते हैं। भाँति भांति की आशा नदियों में गोते लगाते हैं। और कभी कभी तो अपने स्वार्थसाधन में इतने मतवाले हो जाते हैं कि दूसरे साथियों की परवाह नहीं करते। उनमें से कमजोरों को अपने पैर तले रौंध डालते हैं, और अगाड़ी बढ़ जाते हैं। इस बढ़ाव में वे छल, कपट, मान, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, माया, प्रतिहिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार आदि को अपना सहा-यक बना लेते हैं। सारांश यह कि अपनी स्वार्थसिद्धि में कुछ भी उठा नहीं रखते। अपनी इच्छा और अपनी लालसा को भर जीवन पूरी करना चाहते हैं। परन्तु वह कभी पूरी होती दीखती नहीं है। इस प्रकार इस संसार में किसी प्रकार भी किसी को चैन नहीं है। भाव-भेष-भूषा और आकांक्षायें-वा-ञ्छायें नित्य प्रतिक्षण बदलती रहती हैं। वह काल की विचित्र गति के साथ बहीं चली जाती हैं। तो भी इन जीवित मूर्तियों की वह पाप वाञ्छायें मिटती नहीं हैं। यह पाप की पीड़ा-वदो -का दुःख हर ओर अपने आप छाया हुआ है; मानो अन्धकार-रजनी का वातावरण ही है कि हाथ को हाथ सुझाई नहीं

देता और पुण्य प्रकृति उस में तारों की भांति चमक रही है। दुष्ट प्रकृति की दुष्ट मूर्तियां इस परिवर्तनशील संसार में उन कण्टकों के सदृश हैं जो अपने आप पथिक जनों के पगों में चुभती हैं। किन्तु पवित्र हृदय और धर्मरत मूर्तियाँ वह जीवन प्रकाश हैं जो स्वयं प्रकाशमान हैं और अन्यों को भी मार्ग प्रदर्शित करती हैं। किन्तु यह मूर्तियां विरले ही देखने को मिलती हैं। क्योंकि पाप की ओर तो यह जीवित मूर्तियां स्वयं खिंच जाती हैं। इच्छा और विषयभोग में उन्हें रमते देर नहीं लगती। परन्तु आश्चर्य है कि शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध, उपदेशकों और प्रचारकों का सदुपदेश और धर्म की नैतिक बाँध के होते हुए भी "विवेक" गिनो चुनी मूर्तियों को प्रभावित करता है।

साथही यह बात भी देखने में आती है कि जो अभी अविवेकी है उसे निमित्त मिलते विवेकवान् होते देर नहीं लगती; क्योंकि सर्वही जीवित मूर्तियों का उद्देश्य सुख और शान्ति पाना है। सबही इस ढूँढ-खसोट में व्यस्त रहते हैं कि सुख मिले—आराम मिले और दुःख सहने न पड़ें। और विवेकपने में दुःख की मात्रा कमही होगी क्योंकि वहां इच्छाएँ अधिक नहीं होंगी। इच्छाओंकी अधिकता मेंही दुःखकी अधिकता रहती है। इसही भावको पुष्ट करतेहुए जैपुरवासी प्रसिद्ध पं० टोडरमल जी अपने अपूर्व ग्रन्थ श्री मोक्षमार्ग प्रकाश में लिखते हैं:—
"काहूकै बहुत विभूति है अर वाकै इच्छा बहुत है तौ वह बहुत आकुलतावान है। अर जाकै थोरी विभूति है अर वाकै इच्छा थोरी है तौ वह थोरा आकुलतावान है। अथवा कोऊ कै अनिष्ट सामग्री मिली है वाकै उसके दूर करने की इच्छा थोरी है तौ वह थोरा आकुलतावान् है। बहुरि काहूकै इष्ट सामग्री मिली

है परन्तु ताकै उनके भोगवने की वा अन्य सामग्रीको इच्छा बहुत है तौ वह जीव घना आकुलतावान् है। तातैं सुखी दुःखी होना इच्छाके अनुसार जानना,बाह्य कारनकै आधीन नाहीं है। नारकी दुःखी देव सुखी कहिये है सोभी इच्छाही की अपेक्षा कहिये है। जातैं नारकीनिकै तीव्र कषाय तैं इच्छा बहुत है। देवनिकै मन्द कषायतैं इच्छा थोरी है। बहुरि मनुष्य तिर्यंच भी सुखी दुखी इच्छाही की अपेक्षा जानना। तीव्र कषायतैं जाकै इच्छा बहुत ताकौं दुःखी कहिये है। मन्द कषायतैं जाकै इच्छा थोरी ताकौं सुखी कहिए है। परमार्थतैं दुख ही घना वा थोरा है सुख नाहीं है। देवादिक कौं भी सुखी माने हैं सो भ्रम ही है। उनकै चौथी इच्छा (पुण्य के उदय कर) की मुख्यता है तातैं आकुलित हैं। या प्रकार जो इच्छा है...सो आकुलतामय है अर आकुलता है सो दुख है। ऐसैं सर्व जीव संसारी नानाप्रकार के दुखनि करि पीड़ित ही होइ रहे हैं। अब जिन जीवनि कौं दुखनितैं छूटना होय सो इच्छा दूरि करने का उपाय करो।" (पृष्ठ ९९-१००)

इस प्रकार इस जगत में क्या मनुष्य और क्या पशु सब ही इच्छा के आधीन हो रहे हैं। वे सब दुख से भयभीत और सुख के लालची हैं। किन्तु इस संसार में इच्छा के साम्राज्य के मध्य सिवाय दुःख और पीड़ा के सुख शान्ति का मिलना कठिन है। सुख शान्ति का मार्ग इन्द्रियनिग्रह और सन्तोष में

---

* इन जीवित मूर्तियों के सांसारिक गतियां चार हैं अर्थात् (१) देव (२) मनुष्य (३) नर्क (४) तिर्यञ्च। देव स्वर्गलोक में रहते हैं। मनुष्य और तिर्यञ्च हमारी दुनियां (मध्यलोक) में रहते हैं। नारकी नर्कलोक में निवास करते हैं।

है। यही कारण है कि श्री टोडरमल जी 'दुख से छूटने के लिए इच्छा को दूर करने' का उपदेश देते हैं।

बस संसार में लिप्त एक मनुष्य के लिये यह संसार एक अति विस्तीर्ण मैदान है। इसमें प्रत्येक वस्तु मनमोहक सुन्दर प्रतीत होती है। रङ्ग विरङ्गे विषय-फूल फूल रहे हैं। जिन्हें देखते ही दर्शक अनायास उन की ओर खिंच जाते हैं। इच्छा समीर उन फूलों को और भी खिला देती है। इन फूलों में निरे विषैले कीड़े भरे पड़े हैं, परन्तु जो दर्शक उन फूलों की वाह्य सुन्दरता पर मुग्ध हैं वह उनको नहीं देख पाते।

'पृथ्वीका प्रत्येक कण मानों मायाका भण्डार है परन्तु देखने में रत्न-राशि ही मालूम होता है। संकीर्ण और विशद दो विभिन्न मार्ग (चारित्र नियमादि) हैं, जिनमें कहीं मार्ग समतल है और कहीं पग पग पर सैकड़ों खाई खन्दक हैं। आपस में वे विभिन्न भी हैं परन्तु कोई मार्ग पिशाचों से खाली नहीं है। पथिक अनन्त हैं परन्तु मार्ग सब का अलग अलग है। वेष भूषा भी एक की दूसरे से नहीं मिलती। परन्तु सांसारिक भोगोपभोग की लालसायें एक समान हैं। जिस का चित्र इस प्रकार है-एक भूला भटका पथिक (मनुष्य) बराबर मार्ग (उमर) तय करता चला आ रहा है। उसका वेग वायु के वेग से भी अधिक है। और पीछे २ उसके एक मस्त हाथी (मृत्यु) भी उसको नष्ट करने के विकटभाव से लगा हुआ है जो किसी प्रकार भी उसका साथ नहीं छोड़ता। यह उसके भय से घबड़ाया हुआ है और अपने चहुंओर के दृश्यों से अपने को ही भूला हुआ है। मार्ग में जो भयावह स्थान हैं वह इसे दिखाई नहीं देते। यह सुख और शान्ति की अवस्था में

पहुंचना चाहता है, जिसके यथार्थ मार्ग से नितान्त अजान हैं। इसलिये उधर का इधर और इधर का उधर मारा मारा फिरता है। झूठे वा सच्चे मार्ग प्रदर्शक (धर्म) जो मार्ग दिखाते हैं उस पर या तो विश्वास नहीं होता अथवा अभाग्यवश उसकी दृष्टि में वह मार्ग आनन्द हीन अगम्य प्रतिभापित होता है। यदि कभी निश्चय भी करता है तो वहाँ चहुंओर का मनमोहक दृश्य बाधक हो जाता है। अपनी आकाङ्क्षाओं और वाञ्छाओं के वशीभूत हो जिस मार्ग पर चलता है उसमें सुख और शान्ति के स्थान में उलटे दुःख और पीड़ा सामने आती हैं। कुछ पग आगे चलने (युवा होने) पर इसके मार्ग में एक कुआ (गृहस्थी) आता है। जब उस में गिरने लगता है तो एक पेड़ की दो डालियां (आयु) हाथ में आजाती हैं। यह उन्हें पकड़ कर लटक जाता है। वृक्ष कुए के बिलकुल किनारे पर है और उसकी डालियां कुए के मुंह पर छाई हुई हैं। हाथी जो पीछा कर रहा था (अर्थात् ज्यों २ आयु घटती जाती है, मृत्यु निकट आती जाती है।) अब टक्करें मार २ कर वृक्ष को गिरा देना चाहता है। कुआँ अन्धा कुआं है। जब पथिक उस की ओर देखता है तो उसमें एक विकराल सर्प मुख बाए बैठा दिखाई देता है। वह ऊपर को देखता है तो उन डालियों को जिन्हें यह थामे हुए है दो सफेद और काले (दिन और रात) चूहे कुतर रहे हैं। और गुड्ढे में मधु मक्खियों (सांसारिक प्रलोभनों) का एक बड़ा छत्ता लगा हुआ है। ज़रा यह हिलता जुलता है तो मधु मक्खियां उड़ २ कर इसको चारों ओर से चिपट जाती हैं और काट काट कर सारा शरीर लहू लुहान कर देती हैं। परन्तु छत्ते में से क्षण २ में मधु (मोह) की बूँदें टपक रही हैं। उन्हें देखकर यह पराधीन चट अपना मुँह

खोल देता है। इसलिये कभी २ कोई बूँद इसके मुँहमें भी आ पड़ती है। यह उसके मिठास और स्वाद में ऐसा तन्मय होता है कि सारे दुःख भूल जाता है। इस ही समय एक विद्याधर (धर्मात्मा तत्वज्ञ) इसके पास आता है और कहता है :— 'हे मोहान्ध मनुष्य ! आ कि मैं तुझे इन सर्व दुःखों से छुड़ा कर तेरे उद्देश्य-स्थान पर पहुंचा दूँ ! जहाँ पहुंच कर तू (मोक्षमें) अमर हो जावेगा। अक्षय सुख और आनन्द तुझे प्राप्त होंगे। इच्छायें, वाञ्छायें और कामनायें जो तेरे शत्रु हैं वह सब दूर भग जावेंगे। मृत्यु का भय भी न रहेगा और तू सदैव अपने स्वाभाविक रस के पान करने में मग्न रहेगा। और अनन्त गुणों का उपभोग करेगा'। इस पर यह उत्तर देता है कि 'महाराज ! ज़रा ठहरिये; मधु की एक बूँद और टपकने वाली है उसे लपक लूं तो फिर आपके साथ चलूं। इसमें संशय नहीं कि आपके साथ चलना और आपकी पथ-प्रदर्शिता ही मेरे लिए यथार्थ सुख और शान्ति के कारण हो सकते हैं। परन्तु मैं दीर्घकाल से इस एक बूंद मधु की प्रतीक्षा कर रहा हूं और अब वह बिलकुल टपकना ही चाहती है। इसलिए इसको आगामी के भरोसे पर छोड़ देना भी कुछ बुद्धिगम्य प्रतीत नहीं होता। अतएव केवल इसही की प्रतीक्षा हैं। इतना अवसर और प्रदान कीजिए। इसके उपरान्त दास सेवामें उपस्थित है।' मधु की बूंदें एक के बाद एक टपकती रहती हैं और यह हर बार नई बूंद का प्रतीक्षक रहता है। इच्छाओं का अन्त नहीं होता कि चूहे काटते काटते डालियां काट देते हैं। हाथी टक्करें मार मार कर वृक्ष को जड़ से उखाड़ देता है। यह बिलकुल परवश और परास्त होकर कुए में गिरता है और गिरते ही सर्प का भोज्य बनता है'। *

* हुस्ने-अव्वल पृष्ठ ११—१३

सर्प और कोई नहीं है सिवाय संसार के। इन्हीं में पड़ कर यह संसारी आत्मा सदैव यों ही सच्चे सुख की तलाश में चक्कर लगाया करता है। और उस सुख के मुख पर (मनुष्य जन्म में) पहुंच कर वह उसी तरह उस सुख के मार्ग से विमुख हो जाता है जिस तरह एक अन्धा पुरुष किले की दीवाल पर हाथ रक्खे टटोलते चक्कर लगा रहा है परन्तु द्वार के आते ही हरदफे अपना सिर दोनों हाथों से खुजलाने लगता है और द्वार को निकल जाने देता है। वह मनुष्य-जन्म में आकर गृहस्थरूपी गोरखधन्धे में फंस जाता है। उसका एक छल्ला पिरो पाता है तो दूसरा निकल पड़ता है। उसको डालता है तो तीसरा सामने आपड़ता है। सारांश इसही प्रकार वह अपनी सारी मनुष्यआयु सांसारिक विषयवासनाओं और इच्छाओं की पूर्ति में पूर्ण करदेता है। यह रहट की भांति खाली हो हो कर फिर २ भर आता है। इसतरह यह क्रम कभी अन्त को प्राप्त नहीं होता। देखने में नाश सबका होता है परन्तु यथार्थ में प्रत्येक पदार्थ उसके आक्रमण से दूर है। पदार्थ की यथार्थता कभी नष्ट नहीं होती। हां, उसकी सांसारिक दशायें अवश्य ही नष्ट होजाती हैं। अतएव बुद्धि को यह स्वीकार करना पड़ता है कि संसार के कार्य का कभी प्रारंभ नहीं हुआ और न उसका अन्त ही है। यह क्रम अनादिनिधन है। जहाज पर से समुद्ररेखा दृष्टि पड़ती है। और उस ओर बढ़ने पर भी उस तक पहुंचना असंभव होता है। वह जैसे जहाज बढ़ता है वैसे ही बढ़ती दिखाई पड़ती है इसलिये वास्तव में समुद्र रेखा का न कहीं प्रारंभ है और न छोर। उसही तरह यह हमारा संसार है। यह ऐसा था और अब है और अगाड़ी रहेगा।

आजकलके पाश्चमीय विद्वानोंने पुद्गलवाद (Materialism) में आशातीत सफलता प्राप्त करली है। बुद्धि की समझ में आने वाले प्रत्येक पदार्थ की खोज उन्होंने अतीव ही चमत्कारकरूप में की है। और आश्चर्य है कि वह क्रमकर यथार्थ सत्य को ढूँढ निकालते जा रहे हैं। विज्ञान (Science) ने प्राणीशास्त्र में भी खासी उन्नति प्राप्त को है। उसको भी प्रत्यक्ष यह स्वीकार करना पड़ा है कि संसार में न तो किसी नवीन पदार्थ की सृष्टि की गई है और न उसका नाश किया गया है। (Nothing is newly created nor any thing destroyed. Things remain as they are) इस प्रकार संसार के पदार्थ जिस प्रकार में थे वैसे ही हैं और वैसे ही रहेंगे। हां, यह अवश्य है कि अपने परिणामी स्वभाव के कारण द्रव्य की सांसारिक दशाओं (Modifications) में अन्तर पड़ता रहे। उधर हिन्दुओं के षटदर्शन में भी हम किसी में भी इसके विरुद्ध कथन नहीं पाते हैं। इधर आधुनिक तत्ववेता मि० वेवर के निम्न शब्द भी यही बात प्रकट करते हैं :—

"How can we assume that a world full of evils is the creation of the Gods? What have we?. Barren deserts, arid mountains, deadly marshes, uninhabitable arctic zones, regions scorched by the southern sun, briars and thorns, tempests, hailstones and hurricanes, ferocious beasts, diseases, premature deaths; do they not all abundantly prove that the Deity has no hand in the governance of things?.........It is

possible, nay, certain that Gods exist; all the notions of the earth agree to that. But those supremely happy beings who are free from passion, favouritism and all human weaknesses, enjoy absolute repose."

—P. 137 History of Philosophy by A. Weber.

यहां पर आधुनिक तत्ववेत्ता ने संसार की दुःखद दशाओं की ओर संकेत करके कहा है कि "हम यह कैसे मान लें कि बुराइयों से भरपूर इस जगत को किसी परमात्मा ने रचा होगा? इस जगत में है ही क्या? केवल बयावान जङ्गल, सूखे पहाड़, भयानक झील, वसासत के अयोग्य ध्रुवप्रदेश, दक्षिणायण सूर्य से जले प्रदेश, कङ्कड़ और कांटे, आंधी तूफान और बरसात, खूँखार जानवर, रोग और अकालमृत्यु; क्या यह सब इस बात को प्रमाणित नहीं करते कि इन कार्यों की व्यवस्था में परमात्मा का हाथ नहीं है?...यह संभव है, नहीं बल्कि सच है कि परमात्माओं का अस्तित्व है; संसार के सर्व मत इस बात से सहमत हैं। किन्तु ऐसी सांसारिक दुष्कृति परमात्मा की नहीं है। वह तो परम सुखरूप, रागद्वेष से परे और मानुषिक कमताइयों से दूर परम समाधिलीन है।" ऐसी अवस्था में हम देखते हैं कि यह मत प्राचीन काल के ऋषियों को भी मान्य था और आज के वैज्ञानिकों को भी है। इसलिये संसार के प्रारंभ आदि का गोरखधन्धा सहज में समझ में आगया। अब अगाड़ी चल कर अपने वर्तमान संसार का अवलोकन कीजिए।

अगाड़ी बढ़ते २ और सब दृश्यों की ओर से

आंख मींचते हमें एक आत्मविजयी दार्शनिक ऋषीश्वर के दर्शन होते हैं। उन्हीं की चरण सेवा को आइये पाठकगण ग्रहण कर लीजिए। उनही की कृपाकोर से अवश्य ही हमारे मनोरथों की सिद्धि होगी और हम उनके उत्तमोत्तम विचारों से अवश्य ही परम लाभ उठा सकेंगे। ऋषीश्वर के निकट पूर्ण विनयवान हो पहुंच चलते हैं। उनके निश्चल दिव्यनेत्रों और चमकते हुए सुडौल शरीर के देखते ही एक अपूर्व आल्हाद का श्रोत हृदय में वह निकलता है। उनकी चहुं ओर सम दृष्टि व्याप्त है। प्रत्येक प्राणी उनके निकट आ अपना आत्मकल्याण करता देखा जाता है। मानो वह सार्वधर्म के घर हैं। न किसी से राग है और न किसी से द्वेष! उनकी पवित्र चरण रज से अपने मस्तक को प्रकाशमान करके हम आगे अपने मनोरथों की पूर्ति हेतु जिज्ञासा करते हैं।

हम संसार का अनादि निधन स्वरूप और इच्छा के वशीभूत हुए जीवित प्राणियों को भटकते दुःख उठाते पहिले देख आए हैं। उनके संसार के शेष/अजीव द्रव्य–पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल–और उनकी आवश्यकता का भी दिग्दर्शन संक्षेप से इस प्रकार है। पुद्गल एक मूर्तीक पदार्थ है। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण करके संयुक्त है। वह सूक्ष्म अणुओं और स्कन्धों में सर्व लोकाकाश में भरा हुआ है, इस ही के द्वारा संसार में नए २ रूप आने और जाने की सामर्थ्य आई हुई है। धर्म अधर्म अमूर्तीक पदार्थ हैं और पुण्य एवं पाप से बिलकुल स्वतन्त्र और विलग हैं। ये भी लोकाकाश में व्याप्त हैं। धर्म जीवित प्राणियों के और पुद्गल के भ्रमण में चलने में सहायता देता है। जिस प्रकार मछली के चलने में जल अना-

थास सहायक है, इसी प्रकार अधर्म जीवित प्राणियों के और पुद्गल के परिभ्रमण से अवकाश ग्रहण करने में उसी प्रकार सहायक है जिस प्रकार यात्री को वृक्ष की छाया ! दूसरे शब्दों में सांसारिक हिरन फिरन में और स्थिरता में क्रमकर यह दोनों पदार्थ निमित्त कारण हैं । इन पदार्थों को स्थान देने वाला जो पदार्थ है वह आकाश है । यह अनन्त और अमूर्तीक है । पदार्थों की पर्यायों को बदलने वाला अमूर्तीक पदार्थ काल है। काल द्रव्य सूक्ष्म-अणुओं में सारे संसार में भरा हुआ है । प्रत्येक कालाणु आकाश के एकर प्रदेश पर है । इस तरह लोक के प्रत्येक विन्दु स्थान में कालाणु मौजूद हैं । इस प्रकार इन अजीव द्रव्यों का सामान्य रूप है । यद्यपि जीव और अजीव ही इस लोक में कार्य प्रवर्तक हैं परन्तु यह वात समझ में नहीं आती कि इच्छा की उत्पत्ति ही क्यों होती है जो जीवित प्राणी को दुःख का समागम कराती है ? क्यों नहीं हम और और सब एक साथ ही यथार्थ सुख शान्ति को पा लेते हैं जब हमारे ऊपर कोई अधिष्ठाता नहीं है? यह हमारी जिज्ञासा ज्यों ही उस भूपोश्वर के करणगोचर होती है कि वह हमारे भ्रम को रुई के पालों वत अपनी सुधा गिरा से छिन्न भिन्न कर देते हैं । वह वतला देते हैं कि जिस प्रकार संसार और संसार के समस्त पदार्थ अनादि निधन हैं उसी प्रकार जीव और अजीव पदार्थों की मिश्रितावस्था भी अनादि निधन हैं। अनादि से ही जीव का सम्बन्ध अजीव से है । जिसके कारण उसमें वह शक्ति आगई है जो उसे संसार में रुलाया करती है । यह शक्ति आठ रूप में विभक्त है और अतीव सूक्ष्म पुद्गल वर्गणाओं की बनी हुई है । इसके आठ रूप ही प्रत्येक जीव को सुख दुख का समागम कराते हैं; यद्यपि यथार्थ में जीव

परम सुख और शान्तिमय है, परन्तु इस समय उसकी अवस्था उस पक्षी की भांति है जिसके पंख सीं दिये गए हों। यह आठ शक्तियां निम्न प्रकार अपना कार्य करती हैं :—

(१) ज्ञानावरणीय शक्ति अथवा कर्म जीव के निजी स्वभाव अनन्त ज्ञान को आच्छादित करती है, अर्थात् उसके पूर्ण प्रकाश होने में बाधक है।

(२) दर्शनावरणीय शक्ति जीव के दर्शन कार्य को सीमित कर देती है।

(३) वेदनीय शक्ति से जीव को सुख दुःख पहुँचता है।

(४) मोहनीय शक्ति से जीवके वास्तविक पदार्थ-स्वरूपका बोध नहीं होता। विपरीत बोध होता है।

(५) आयु शक्ति से जीव किसी गति के शरीर में नियत काल के लिए बँध जाता है।

(६) नाम शक्ति से जीव की अच्छी बुरी शरीर रचना होती है।

(७) गोत्रशक्ति से जीव उच्च व नीच कुल में जन्म ग्रहण करता है। और

(८) अन्तराय शक्ति से जीव के कार्यों में बाधा उपस्थित होती है।

इस प्रकार यह शक्तियां और इनके बहुत से प्रतिभेद जीवों के लिए संसारके दुःखके कारण होरहे हैं और उसे उसके निजी स्वभावज्ञान, दर्शन, सुख आदिसे वञ्चित करदेते हैं, यद्यपि वह उसीमें प्रत्येक समय विद्यमान रहते हैं, फिर वह चाहे जिस अवस्था में क्यों नहो। और यहसुख, ज्ञान आदि आत्मामें ही हैं

इसका बोध तनिक गम्भीर निश्चल विचार करने से ही होजाता है। भाषा के शब्द ही उसके उस उत्पत्ति स्थान को प्रमाणित कर देते हैं। हम जिस समय खूब आमोद प्रमोद में किसी त्यौहार का उत्सव पूर्ण करचुकते हैं तो सहसा हमारे मुखसे यही निकलता है कि 'अहा आज हमने अपना आनन्द लूटा' (How we enjoyed ourselves). तिसपर यदि यह कहाजायकि सुखादि आत्मा के स्वभाव नहीं हैं और वह उसमें नहीं हैं तो फिर एक विद्यार्थी जो परीक्षा देकर उसके परिणाम की प्रतीक्षा में रहता है वह उत्तीर्णता का तार पाकर कहां से आनन्द का अनुभव करता है? क्या उस कागज़ की अनूठी सूरत में वह आनन्द भाव भरपूर है? नहीं, क्योंकि यदि उसमें होता तो वैसा हरएक कागज़ प्रत्येकको आनन्दका कारण हो जाता। तो फिर क्या उस तार के शब्दों में वह आनन्दभाव मौजूद है? सोभी नहीं हो सकता क्योंकि वही शब्द दूसरेको आनन्दका अनुभव नहीं करा सकते। और फिर यदि उसपर कहीं अनुत्तीर्णता की खबर लिखी होती तो वही तार और वही शब्द कभी भी उस ही विद्यार्थीके लिएभी आनन्दोत्पत्ति के कारण नहीं हो सकते थे। इसलिए यह प्रत्यक्ष प्रगट है कि जीव के ऊपर से किसी बोझके हटने से स्वतः उसे अपने आनन्द का अनुभव होने लगता है। अब जिस प्रकार सुख वा आनन्द आत्मा (जीव) में है उसी तरह ज्ञानादि भी समझे जा सकते हैं। अतएव अब तो आत्माके साथ सूक्ष्म पौद्गलिक शक्तियों का जिनको कर्म कहते हैं और जिनका सम्बन्ध आत्मा से अनादि काल से है, साक्षात् दर्शन होगया। तथा यह भी मालूम होगया कि जीवके बाहर कहींभी सुख-शांति-ज्ञान-आदि नहीं हैं। उनका स्थान संसार में सिवाय जीव के निज स्वभाव के अन्य कहीं नहीं हैं।

इस प्रकार हमको विदित हो गया कि इस अनादिनिधन संसार में जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध है जो उसे उस के निजी स्वभाव सुखादि से वञ्चित रख रहा है। परन्तु संशय यह रह जाती है कि क्या यह सम्बन्ध सदैव इस ही रूप में बना रहेगा और जीव कभी भी सुख को नहीं पायगा? और फिर यह सम्बन्ध किस तरह सुख दुःख का कारण होता है? इन बातों का खुलासा भी उन ऋषीश्वर के अनुग्रह से शीघ्र ही हो जाता है। और हम जान जाते हैं कि यद्यपि कर्म अनादि से जीव के साथ हैं परन्तु उन में प्रतिक्षण पुराने कर्म निकलते और नए आते रहते हैं। यह आवागमन जीव की मन-वचन-कायिक क्रोधादि कषाय की प्रवृत्ति से होता रहता है। जिस प्रकार शरीर पर तेल लगा होने से मिट्टी स्वयं आकर चिमट जाती है उस ही तरह इस कषाय रूपी तेल के समागम से जीव में कर्मरूपी रेणुका स्वयं आकर लग जाती है। और जिस प्रकार तेल की चिक्कणता दूर होने से अथवा साबुन के प्रयोग से वह मिट्टी शरीर से दूर हो जाती है उसी प्रकार कषायों के दूर होने से कर्म भी दूर हो जाते हैं। और जीव निज स्वभाव अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन आदि को प्राप्त करलेता है और हमेशा के लिए उनका उपभोग करता रहता है अर्थात् वह कृतकृत्य हो जाता है। इस अवस्था में सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और सर्वशक्तिमान परमात्मा हो जाता है; क्योंकि कर्मों के समागम से भी उसके निजी स्वभाव सुखज्ञान आदि नष्ट नहीं होते, जैसे कि पहिले समझ चुके हैं। इस तरह कर्मों के आगमन की क्रिया को तत्वज्ञों ने 'आश्रव' कहा है। और वह जीव में आकर कुछ काल के लिए ठहर जाते हैं। इस लिए इस ठहराव का सूचक 'बन्ध' बतलाया गया है। फिर

उनका जीव से आगामी दूर होने की क्रिया 'संवर' है। और संचित कर्मों का दूर होना 'निर्जरा' है। बस जब कर्म हीं न रहे तो सिद्धि होगई-यह 'मोक्ष' है। इस तरह वैज्ञानिक रूप में हमें सैद्धान्तिक तत्वोंकी प्राप्ति हो जाती है। यही वास्तविक 'तत्व' हैं। इनमें यदि पुण्य और पाप शामिल कर लिए जांय तो यही 'नव पदार्थ' हैं। इस तरह हम संसार में सैद्धान्तिक तत्वों का भी दिग्दर्शन कर लेते हैं।

सारांशतः इस कार्य कारण के सिद्धान्त पर अवलम्बित विवरण से हम जान लेते हैं कि जीव अपने ही बुरे और भले कार्यों से- अर्थात् मन, वचन, काय के कषायाधीन प्रति क्रियाओं से-पराधीन होकर दुःख उठा रहा है, और वह अपने ही शुद्ध कार्यों के प्रयोग से इस पराधीनता की बेड़ियों को तोड़ सकता है और परम सुख को पा सकता है, जिसकी वह खोज में है। इस तरह परावलम्बी-पराधीन रहना हर अवस्था में दुख का कारण है और अपने पैरों खड़े हो स्वाधीनता, आत्मीक स्वतन्त्रता को पाना सच्चे सुख में मग्न होना है। संसार में रहते-पराधीनता में पड़े प्रत्येक प्राणी दुःखी है। सांसारिक जीवन में दुःख उसकी छाया है। जहां जीवन है वहां यह भी है। संसार में हम पहिले ही देख आये हैं कि कोई भी ऐसा हृदय नहीं है जिसमें दुःख का दंश न लगा हो, कोई भी ऐसा मन नहीं है जिसने चिन्ता रूपी अग्नि में तप्तता का अनुभव न किया हो और न कोई ऐसा घर ही है जिसमें आधि व्याधि उपाधिरूपी शत्रुओं को लेकर मृत्यु देव ने प्रवेश न किया हो। इसलिए हम यह भी नहीं कह सकते कि दुःख है ही नहीं। दुःख है, परन्तु वह साध्य है जैसे हम देख चुके हैं कि प्रत्येक

दुःख को दूर करने का उपाय मात्र आत्म स्वातन्त्र्य प्राप्त करने में है। अब हम दुःख और दुःख के कारणों को जान गए हैं। इसलिए जब हमारा 'अज्ञान' दूर हो जाता है तब हमारे दुःख का भी अन्त हो जाता है। वस्तुतः अज्ञानवश पराधीनता में पड़े हुए प्रत्येक प्राणी स्वयं दुःख को अपना लेता हैं। ऐसा उसके सिवा अन्य कोई नहीं है जो उसे दुःख पहुंचाता हो। इसको समझने के लिए भी निम्न का उदाहरण भी विशेष सहायक है :—

"मान लो कि दो सहोदर भाइयों ने एक साहूकार के यहां पूंजी रक्खी और उस साहूकार ने दिवाला निकाल दिया। यह सुनकर एक भाई उदास होकर दुःख पाता है और दूसरा कहता है कि अच्छा पैसा गया तो वह कुछ उदास होनेसे पीछा नहीं आयगा। जो आयेगा तो उद्योग और उत्साह से। और ऐसा निश्चय कर दूने उत्साह से काम करना प्रारंभ कर देता है। और कुछ ही समय में पहिले से भी अच्छी दशा में आ जाता है। और पहिला भाई दुःख को रोता हुआ भाग्य का दोष मानकर दारिद्र में पड़ा रहा और दिवाले को कोसता रहा। जब एक भाई उसी घटना से विशेष सुखी हो गया तब दूसरा दुःख के हाथ का खेल बन गया। वास्तव में घटना में सुख व दुख देने की शक्ति नहीं है परन्तु उसे जिस तरह का (इच्छा के वशीभूत हुए) लोग स्वरूप देदेते हैं वैसे ही वह हो जाती है। दिवाले की घटना दोनों भाइयों के सम्बन्ध में समान थी और उससें दोनों को दुःख अथवा दोनों को सुख होना चाहिये था। परन्तु जुदे २ जीव पर इस घटना ने जुदा जुदा प्रभाव डाला। इससे सिद्ध होता है कि घटना में अच्छापन या

पन या बुरापन है और वे उसे अपनी सी बना लेते हैं। (मैंने मान लिया कि) अमुक मनुष्य ने मेरे विरुद्ध अमुक आचरण किया और मुझे प्रतीति हुई कि इससे मेरी आबरू में धक्का पहुंचेगा मैं पिस जाऊँगा या दुःखी होऊँगा। इस विचार ने मुझे रात दिन के दुःख में दबा दिया और शरीर को तपा डाला। और इस मान्यता से जो कुछ होना चाहिये वैसा ही हो रहा है ऐसा मैंने देख लिया परन्तु इतने में ही सौभाग्यवश एक दिन प्रातःकाल में मुझे स्मरण हुआ कि मैं श्री महावीर का शिष्य हूं और विचार आया कि मुझे मेरे सिवाय दुःखी करने वाला है ही कौन! घटनाओं और पदार्थों की सामर्थ्य ही क्या है जो मुझे-चैतन्य स्वरूप को-सतावें। उसी समय से यह विचार मेरे मस्तिष्क में से काफूर होगया कि शत्रु मुझे मटिया मेट कर डालेगा और धीरे २ मालूम होने लगा कि शत्रु समान आचरण करने वालों के भारी २ प्रयास धूल में लेप करने जैसे होते हैं। इस दृढ़ता का परिणाम यह हुआ कि मैं अपने विचारों पर अधिकार रखना सीखने लगा, और आत्मा को निरर्थक, हानिकारक हो ऐसी चीजों को निकाल कर उनकी जगह पर आनन्द, शान्ति, प्रेम, दया सौंदर्य, अमरता, गांभीर्य और समता भरना शुरू करने लग गया" ❀

वास्तव में आत्मविश्वास के अभाव में ही प्राणी दुःखों को सहन करते हैं। सुख के राजमार्ग से विमुख रहते हैं। खाई खन्दकों में भटकते रहते हैं। स्वयं सुखसागर होते हुए भी मुग्धी हिरण की भांति इधर उधर भटका करते हैं। अपनी मानसिक निर्बलता में सत्य को समझने में भी हताश रहते हैं।

❀ संसार में सुख कहां है ? पृष्ठ १३-१५।

बुरापन नहीं है परन्तु जिनपर घटना घटती है उन्हीं में अच्छा-इसलिए सुख के राजमार्ग पर अनुसरण करने के लिए पहिले 'आत्मविश्वास' की आवश्यकता है। उस ही विश्वास में, उस ही श्रद्धान में धर्म का पालन है क्योंकि आत्मा का स्वभाव ही धर्म है। अतएव आत्मा के अस्तित्व और उसके संसार के कारणों एवं उसके स्वाभाविक गुणों में विश्वास रखना परमावश्यक है। हृदय में से निर्बलता को निकाल देना उचित है। आत्मा की अनन्त शक्ति है ऐसा दृढ़ विश्वास रख कर उसे खिलने देना चाहिए। फिर प्रत्यक्ष प्रकट होगा कि वाह्य जीवन भी कितना सुखभरा है। धीरे धीरे जीवन में स्वर्ण अवसर प्राप्त होंगे और उनका विचार पूर्वक उपयोग करने से न केवल अन्तःकरण की शक्ति ही बढ़ जाती है किन्तु आत्मा अपने स्वाभाविक स्वरूप की ओर खिंचती है प्रत्युत सच्चे मित्र भी विना बुलाए आआकर मिलते हैं, विना मांगी वाह्य मददें आ आकर प्राप्त होती हैं। ऐसे विश्वास, ऐसे श्रद्धान के बल से हरेक संशय दूर होजाता है। दुःख के पहाड़ उलांघे जा सकते हैं और श्रद्धालु आत्मा अपनी निरंतर उन्नति ही करता रहता है। इस की शक्ति पर एक महापुरुष कहता है कि:—

'If ye have faith and doubt not, ye shall not do only this but ye shall say unto this mountain, be thou removed and be thou cast into the sea, it shall be done.'

अर्थात् "जो तुममें श्रद्धा होगी और सन्देह न होगा तो तुम इतना ही नहीं कर सकोगे बल्कि जो तुम पर्वत से कहोगे

कि यहाँ से हट और दरियामें गिर तो वैसा भी हो जायगा।"

वस्तुतः आत्मविश्वास की मघोघ शक्ति है। यह स्वयं आत्मरूप है जो स्वयं अनन्त शक्तिमान है। इस हेतु इस आत्म-श्रद्धान के सुदृढ़ गढ़ में बैठकर सच्चे ज्ञान के जानने का अभ्यास करना ही स्वपर का कल्याण कर्त्ता है। आत्मविश्वास में आत्मा को ज्ञान यथावत होता ही है। और हमको विश्वास ही नहीं प्रत्युत प्रत्यक्ष दर्शनरूप में विदित होजाता है कि हम में ही सुख हैं, हम में ही ज्ञान है, हम में ही शक्ति है, हम में ही शान्ति है यह अन्यत्र कहीं नहीं हैं। और हमारी आत्मा कवि की तान में तान मिला गाने लगती है:-

"I sent my soul through the invisible,
Some letter of that after life to spell;
And by and by my soul returned to me
And whispered 'I myself am heaven and hill'."

अर्थात्-मैंने लोका लोक के भीतर अपनी आत्मा को भेजा है।। "मरण बाद की स्थिति के अक्षर जान जान जल्दी आजा।" धीरे २ मेरा आत्मा लौटा और बोला धीरज से:-

मैं ही स्वयं स्वर्ग हूं, त्यों स्वर्ग नर्क भी हैं मुझ से।

फिर वह आत्मसमाधि में लीन हो भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के साथ पुलकित हो कहने लगता है:—

"णाहं बालो वुड्ढो ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं।
कत्ता णहि कारइदा अणुमन्ता णेव कत्तीणं॥
णाहं रागो दोसो ण चेव मोहो ण कारणं ते सिं।
कत्ताणहि कारइदा अणुमन्ता णेव कत्तीणं॥
णाहं कोहो माणो ण चेव माया ण होमि लोहोहं।
कत्ताणहि कारइदा अणुमन्ता णेव कत्तीणं॥"

भावार्थ—न मैं बालक हूं, व बुड्ढा हूं और न इन अवस्थाओं का कारण हूं, न इनका कर्ता हूं, न करने वाला हूं और न मैं इनके करनेवालों को अनुमोदना करनेवाला हूं। न मैं रागरूप हूं, न मैं द्वेषरूप हूं, न मोहरूप हूं और न इन भावों का कारण हूं, न मैं इनका कर्ता हूं, न करानेवाला हूं और न मैं इनके करने वालोंकी अनुमोदना करनेवाला हूं। न मैं क्रोध रूप हूं, न मानरूप हूं और न कभी लोभरूप होता हूं, न मैं इनका कर्ता हूं, न करने-वाला हूं और न करने वालों की अनुमोदना करने वाला हूं।

इन सबसे आत्मा के निजी स्वभाव का अनुभव प्राप्त होता है। इस हेतु :—

"चाहता गर छूटना दुनिया की तकलीफात से।
दिल को थकस् करके लग परमात्मा की ज़ात से॥
जुमरह जहला से बाहर आके तू, रात दिन मत भटक हर चारसू।
दिल से अपने दूरकर अग़यार को, बनके आरिफ़ दिलमें रख दिलदार को॥
जिस्म की पैदाइशो अमवात को अपनी कहें,
उल्फते फरज़न्दो ज़न में जो सदा जकड़े रहें॥
हैं वह जाहिल बिलयकीं ग़ाफिल हैं अपनी ज़ात से।
अक्ल छूटे तब छुटें दुनिया की तकलीफात से॥"

ठीक ही है। जबतक अज्ञानमई मोह का परदा बुद्धि पर पड़ा हुआ है तबतक दुःखों से छुटकारा किस तरह हो सकता है? इस अवस्था में तो सच्चाई से कोसों दूर प्राणी भटकता रहता है। और उन मार्गों, उन उपायों और उन कार्यों में वस्तु

को पाने की लालसा करताहै जा उससे नितान्त विपरीत हैं। स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु और श्रवण इन्द्रयों के वश हो प्राणी सुखाभास में इस तरह ग़रक़ हो जाते हैं कि वह यथार्थता को पाने में असफल होते हैं. जैसे कि हम पहिले देख चुके हैं। तिसपर केवल एक स्पर्शन इन्द्री के आधीन हो हाथी अपने को चिराय बंधन में डाल देता है। रसना इन्द्री के वश हो अज्ञात विषफल को भक्षण कर वनमानस मृत्यु को प्राप्त होता है। सुगंध के वश हो भ्रमर अपने प्राणों को ही कोमल कमल के हृद्‌पाश में नष्ट कर देता है। दीपक की लौ पर पतंगा अपने नेत्रों की पिपासा की पूर्ति के लिए प्राणोत्सर्ग करदेता है। श्रवणेन्द्री की जिज्ञासा में हिरण अपने शरीर का ममत्व त्यागते नहीं हिचकता है। जब एक एक इन्द्री के विषय के वशीभूत हो तिर्यञ्च पशु भी अपनी सुधबुध कर्तव्य अकर्तव्य को बिसार देते हैं, तो विशिष्ट मनुष्य तो अवश्य ही पांचों इन्द्रियों के विषयमें संलग्नहो निपट अनारी-अंधा होही जायगा। उस समय उसे हित अहित का ध्यान नहीं रहेगा। और वह विषय-वासना की पूर्त्ति करने में अनाचार और अत्याचार करने में तनिक भी आगा पीछा नहीं करेगा। यही कारण है कि संसार में चहुं ओर दुःख-दर्द आक्रन्दन के दृश्य दृष्टिगत होते हैं। वहां सत्य का पता पाना बड़ा कठिन हो जाता है। लोग अपनी विषय-लोलुपता में अपनी आत्मा को ठगते नहीं डरते हैं। धर्म की दुहाई देकर उसके अनेक छिन्न भिन्न रूप कर डालते हैं। उसकी यथार्थता पाना भी कठिन हो जाता है। परन्तु न्याय और बुद्धि की कसौटी पर उसकी कलई साफ प्रकट हो जाती है। सर्वज्ञ

कथित धर्म में कभी भी आपसी विरोध पैठ नहीं सकेगा। उसमें कोई भी कथन किसी अन्य कथन के विरोध में खड़े नहीं हो सकेंगे। उससे आत्मा सम्बन्धी सर्व जिज्ञासाओं की पूर्ति सहज में हो जायगी। और वह मनुष्य के ज्ञाननेत्रों को इस खूबी से खोल देगा कि फिर वह संसार की दुःखमई, नीचता में कभी नहीं पड़ेगा। वह राजमार्ग पर आरूढ़ हो नित्य अपने आत्मा के निजी स्वभाव की ओर अग्रगामी होता जायगा और फिर वह बौद्ध कवि के शब्दों में :-

"Be scorched, befrozen, lone in fearsome woods,
Naked, without a fire, a fire within,
Struggled in awful silence towards the Goal!"†

भयानक वनों में अकेले गर्मी सर्दी सहते नग्न रहते अग्नि से परे पर अभ्यन्तरिक अग्नि को प्रज्वलित किए अपने उद्देश्य स्थान को पहुंचने के लिए गहन मौन में उद्यमशील हो जायेगा। वह राजमार्ग पर पहुंच जावेगा। इन्द्रियों की विषयवासनामई जाल उसे न फँसा सकेगा। वह अज्ञान को नष्ट कर देगा। और ज्ञान साम्राज्य में पहुंच स्वपर का कल्याण कर्ता हो जावेगा। उसके हृदय में अनन्तशांति, अनन्तप्रेम और अनन्त समताभाव का समावेश होगा। सर्व जीवित प्राणी उसके दर्शन से अपने को सफल समझेंगे और सच्चे सुख के मार्ग को पावेंगे। फिर वही महान सर्वज्ञ पुरुष संसार को छोड़ परमोच्चासन-लोक की शिखिर पर जा विराजमान हो शास्वत सुख में सदैव के लिये लीन हो जावेगा।

---

† M. 1.79=Jat. 1.390.

यही एक राजमार्ग है। परन्तु संसार के विषय वासनामय मोहान्ध में भटकते हुए प्राणियों के लिये यह सहज सुगम नहीं होसकता है कि वह एक टक इस उत्कृष्ट मार्ग का अनुगमन करने लगें। उनको ही क्या प्रत्येक को शिखिर तक पहुंचने के लिये पग पग ही चढ़ना पड़ता है। इसलिए यद्यपि राजमार्ग सबके लिए एक है परन्तु उस मार्ग पर जाने के लिये मनुष्य के अधिकार के अनुकूल अलग २ गलियां हैं। उनही को तय करके मनुष्य को अवश्य ही इस राजमार्ग पर आना पड़ता है जहां वह सर्व प्राणीमात्र में समताभाव रख कर और सर्व आशाओं को छोड़ कर एक समाधिभाव को प्राप्त होता है। और कहता है :-

"मन खुदायम मन खुदायम मन खुदायम मन खुदा
फारग़म अज़ किब्रोकीना नख़वतो हिरसो हवा ॥"

इस राजमार्ग पर पहुंचना यद्यपि असंभव नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है। यही कारण है कि संसार में भटकते हुए प्राणियों को समय समय की मोहावृति क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा विविध सत्य की खोजी आत्माओं ने विभिन्न मार्ग बतलाए हैं। उस समय के मनुष्यों के लिये अवश्य ही वह सन्तोष-दायक रहे होंगे। परन्तु पूर्ण सर्वज्ञता के अभाव में उनमें एक वैज्ञानिक धर्म की पूर्ण यथार्थता पाना असंभव होगा। तो भी उनमें सत्यांश को पाना दुर्लभ न होगा।

अस्तु पाठकगण, जब हम अपना इतना समय संसार की आन्तरिक दशा देखने और उसे समझाने में व्यतीत कर चुके हैं। और इसने आत्मा एवं उसके दुःख के कारणों तथा दुःख

के स्वरूप को समझकर आत्मविश्वास प्राप्त कर चुके हैं तो आइए अब अगाड़ी सुख के इस राज मार्ग तक पहुंचने के साधक उपायोंका भी दिग्दर्शन संसारमें प्रचलित प्रख्यात् मतों के अनुसार करलें। परन्तु इसके पहिले इन्हीं श्री ऋषीश्वर महाराज के निकट से यह जानलें कि वस्तुतः इस राजमार्ग तक पहुंचने के लिए उपाय कौनसे हैं। फिर उनका दिग्दर्शन सर्व मतों में सुगमता पूर्वक कर सकेंगे। और उनका ज्ञान प्राप्त कर सत्यमई चरित्र के हिंडोले में बैठे अपने शास्वत आनन्दरूप 'सोहं' का राग गाते गाते स्वयं उसी में सदैव के लिये लीन हो जावेंगे। धन्य होगा वह अवसर जिसकाल हम स्वकर्तव्यरत हो स्वाधीनता को पाने के लिये धर्ममई "सत्य धर्ममार्ग" पर पैर बढ़ाते नहीं हिचकिचायेंगे। वीरता पर्वक उद्योगशील होना हमारा लक्ष्यविन्दु होना है और आत्मविश्वास में दृढ़ होना उसका सार है !

(२)

सुख के राज मार्ग तक

पहुंचने के उपाय।

—————

"परमाणु मित्तियं विहु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
णविसो ,जाणदिअप्पा णयुं तु सव्वागम धरोवि॥"

आज से करीब-दो हजार वर्ष पहिले इस ही पवित्र भारत मही पर आत्मज्ञान के परम मर्मज्ञ भगवान कुन्दकुन्दाचार्य हो गुज़रे हैं। आप आत्मसिद्धान्त की उच्च शिखिर को प्राप्त हो कर ठीक ही उक्तश्लोक में कह गए हैं कि 'रागद्वेषादिकों का परमाणुमात्र भी जिसकी आत्मा में है वह सर्व शास्त्रों का जानने वाला होने पर भी आत्मा को नहीं अनुभव करता है। इस ही से अनुमान किया जा सकता है कि आत्मानुभव प्राप्त करना मात्रउत्तम पुस्तकों के अध्ययन वा पठन पाठन से नहीं प्राप्त हो सकता है। उसकी प्राप्ति के लिये मनुष्य को अपने अन्तःकरण को शुद्ध करना होता है। उसमें से राग द्वेषादि की कालिमा को हटाना पड़ता है, क्योंकि जिसका

मनरूपी जल रागद्वेष आदि लहरों से अडोल है वहीं आत्मा के स्वरूप को अनुभव करता है। जो कषाय की वायु से स्पर्श नहीं पाता, जिसमें ज्ञानरूपी अग्नी को निर्मल ज्वाला उठ रही है ऐसा चैतन्य-आत्मारूपी दीपक ही मोह अँधकार को दूर करता हुआ जगत में प्रकाशमान होता है। अवश्य ही पुण्य पाप-कर्म अनेक विकल्प करता है, परन्तु 'जैसे मुख के अनेक विकारों के संयोग के होने पर भी दर्पण विकारी नहीं होता है' उस ही प्रकार आत्मा के स्वभाव में भी विकारपना नहीं आता है। यह सदैव ज्ञाता दृष्टा बना रहता है। इस कारण 'जिसने मनरूपी दौड़ते हुए हाथी को ज्ञानरूपी रस्सी से नहीं बांधा है वह दुःख भोगता हुआ संसार में भ्रमण करता है।'

हम पहिले ही देख चुके हैं कि यथार्थ सुख प्रत्येक आत्मा में स्वयं विद्यमान है। वह संसार के बाह्य प्रपंचों में नहीं है। हमारी वर्तमान की सांसारिक अवस्था में वह 'सुख पूर्ण संतोष की आंतर दशा है। यह सुख आनन्दरूप है; और आनन्द में किसी तरह की आकुलता नहीं रहती है। वास्तव में इच्छा तृप्त करने से जो संतोष मिलता है वह बहुत ही थोड़े समय के लिये होता है। मायावी होता है और उसी इच्छा को तृप्त करने की बार बार लालसा हृदय में जागृत होती है। इच्छा समुद्र ऐसा है-जैसे इतनी नदियों के मिल जाने से भी समुद्र तृप्ति नहीं पाता वैसे ही अनेक पदार्थों के मिलने पर भी इच्छा की तृप्ति नहीं होती। इच्छा अपने सेवकों के पास से अधिक सेवा की आशा करती है। जब तक शारीरिक और मानसिक दुःख मनुष्य के माथे न आपड़े तबतक वह इच्छाओं को तृप्त करने में नया बना रहता है, परन्तु फिर वह दुःखाग्नी में फिरता

है कि जिससे उसे अनुभव होता है और वह वासनाओं के फंदे से छूटता है तथा पवित्र होता है। सारांशतः इच्छा नरक वासियों का धन है और सब दुःख उसमें समाए हुए हैं। इच्छाओं का त्याग करना यह स्वर्ग का साक्षात्कार करने सरीखा है। परन्तु स्वार्थमयी तृष्णाओं को संतुष्ट करने में तुम रचे रहो तो जरूर नरक में डूबोगे, और अहंपन के विचारों को दूरकर बिलकुल निःस्वार्थता और जितेन्द्रियता सीखोगे तो यहां पर रहते हुए भी स्वर्गीय आनन्द का अनुभव करोगे। अहंता अंधी है, अविचारी है, ज्ञान रहित है, और दुःख का परम कारण है। शुद्ध विचार शक्ति निष्पक्षपाती निर्णय और सद्ज्ञान इनका चैतन्य के साथ सम्बन्ध है। इस दिव्य चैतन्य का जितना तुम अनुभव करोगे उतना ही तुम्हें ज्ञान होगा कि सच्चा सुख क्या है?

'जब तक स्वार्थदृष्टि से तुम अपने लिये सुख या सुख के पदार्थों को ढूंढोगे तब तक सच्चा सुख तुम से दूर भगेगा और दुःख दुर्भाग्य के बीज उगेंगे। दूसरों का भला करने में, परोपकार करने में जितना तुम 'अहंता' का त्याग कर सकते हो उतने ही तुम सच्चा सुख पाने योग्य बन सकते हो और आनन्द के भोक्ता हो सके हो। एक कवि कहता है कि :-

It is in loving not in being loved,
The heart is blessed;
It is in giving, not in seeking gifts,
We find our quest.
Whatever be thy craving or thy need,
That do you give;

So shall thy soul be fed, and thou
Indeed shall truly live.

अर्थात्—दूसरा हमें चाहे, इससे नहीं परन्तु हम दूसरे को चाहें इससे हृदय प्रसन्न होता है। दान लेने में नहीं, हमारी आन्तरिक खोज का अन्त दान देने में होता है। जिस वस्तु को तू चाहता हो उस वस्तु को तू दे। इससे तेरे आत्मा को खूराक मिलेगी और तू सच्चे तौर पर जिन्दा रहा कहा जायगा। वस्तु स्वार्थ का विचार करने से तुम दुःख का स्वागत करते हो। स्वार्थ का विचार छोड़ो, इससे तुम शांति को बुलाओगे। स्वार्थ को विचार कर तुम सुख को खोते हो, इतना ही नहीं परन्तु जिसे हम सुख का मूल मानते हैं वह भी चला जाता है। जिसे जीभ की चाट लग गई हो ऐसा मनुष्य नये २ स्वादिष्ट खुराक के लिये तरसता है, मरी हुई भूख को चिताने के लिये अनेक रोचक पदार्थ खाता है, परन्तु थोड़े ही दिन में अजीर्ण होकर उसे अनेक रोग आ घेरते हैं। और इससे वह जितना पहिले खा सकता था उतना भी नहीं खा सकता परन्तु जिसने अपनी जीभ को वश में किया है, उसे स्वादिष्ट पदार्थों की कुछ परवा नहीं होती, वह सादी खुराक में ही परम सुख मानता है। स्वार्थी मनुष्य सोचते हैं कि इच्छाओं की तृप्ति में सुख के देवता की मूर्ति है, परन्तु ज्यों ही वे उस मूर्ति को पकड़ने को जाते हैं त्योंही उनके हाथ में दुःख का हाड़-पिंजर आता है! धर्मशास्त्र ठीक ही कहते हैं कि जो मनुष्य स्वार्थ के कारण अपने ही विचार में मग्न रहते हैं उनका जीवन व्यर्थ जाता है और जो परोपकार के आशय

। अपने को भूल जाते हैं वे परमार्थ का साधन करते हैं अर्थात् वे परमानन्द के भोक्ता हैं।'*

इस प्रकार हमको मालूम हो जाता है कि पूर्ण त्याग में ही सुख विद्यमान है। जिस समय अपने 'आप' का भी ख्याल हमारे मस्तिष्क में से विदा हो जायगा, द्वैत का भान ही जाता रहेगा उस समय ही हम पूर्ण सुख के अधिकारी होने के योग्य हो सकेंगे। उसी समय हम विश्वभर में समता को प्राप्त करके अपने स्वभाव में लीन होंगे। न अपने से मुहब्बत और न परसे द्वेष होगा। परन्तु यह होगा उस परमऊँचे राजमार्ग पर भी बहुत कुछ चल लेने पर। इसलिए उस राजमार्ग तक चल लेने के लिए यह आवश्यक होगा कि हम अपने मन पर ज़रा लगाम चढ़ालें और उसे स्वच्छन्दता पूर्वक जिस इच्छा, जिस वाञ्छा, जिस काङ्क्षा की लम्बी सड़क पर वह घुड़दौड़ लगाना चाहें न लगाने दें। अपने आप में ज़रा विवेक की मात्रा बढ़ने दें और स्थिरता का रसास्वादन करने दें। सारांशतः इस राजमार्ग तक पहुंचने के उपायों में सर्व प्रथम हमें किञ्चित त्याग करना पड़ेगा। अवश्य ही अपनी आदतों को, अपने कुभावों को और अपने विकृत विचारों को सुधारना होगा। जिन से आज हम विशेष राग करते हैं, उन में मग्न रहते हैं, उन में हमें यथार्थता को देखना होगा। और जिन से द्वेष करते हैं उनसे उस द्वेष करने का कारण देखना होगा। संसार में जिन चलती फिरती और स्थिर मूर्तियों के दर्शन हम पहिले देख चुके हैं। उन से अपना उचित सम्बन्ध पहिचानना होगा। परन्तु यहां पर

---

* संसार में सुख कहां है? पृष्ठ ७६-८०।

चलती फिरती मूर्तियों में हमें सिर्फ 'मनुष्य समाज को ही न समझना चाहिए। पशु संसार भी इसही जीवित जगत का एक साथी है। उसके भी प्राणों का मूल्य और आत्मा का महत्व हमसे किसी प्रकार भी कम नहीं है। वह तो प्रत्यक्ष में ही चलते फिरते, अपनी बुद्धि से काम लेते हमें दिखलाई पड़ते हैं, परन्तु जगत की स्थिर मूर्तियों में भी वही प्राण हैं जो हममें हैं और आप में हैं। एक वृक्ष में भी वही चेतना है-दुःख सुख अनुभव करने की शक्ति है जो मनुष्यों में है। यह बात आज प्राकृतिक विज्ञान (Science) से भी सिद्ध है। डां जगदीशचन्द्र बोस ने इस ही को अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है। परन्तु भारत के प्राचीन आप्तपुरुषों ने इस बात का प्रतिपादन हजारों वर्षों पहिले ही कर दिया था। इसका ही क्यों उन्हों ने तो यहां तक बतला दिया था कि सचित्त जल-वायु-अग्नि और पृथ्वी में भी वही जीव है, वही चैतनत्व है जो एक मनुष्य में है। इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण भविष्य विज्ञान संसार के गर्भ में है। इस प्रकार इन सर्व प्रकार के जीवित प्राणियों से समुचित रीति द्वारा अपना कार्य साधना हमारे लिए बुद्धिमत्ता का कार्य है। इनमें और इन के साथी अजीव-अचेतन सांसारिक पदार्थों में विशेष ममत्व करके अथवा द्वेष करके स्वार्थान्ध होना मनुष्य के लिये शोभनीक नहीं है; क्योंकि वह अशरफुलमखलूकात-सर्वोत्तम जीवित प्राणी (Noblest Creature) है।

अतएव जब मनुष्य जीवित संसारमें विशेष बुद्धिमान और ज्ञानवान समझा जाता है तो उसका यह कर्तव्य ज़रूरी

हो जाता है कि उसका जीवनव्यवहार पशु संसार से उत्तम हो-उत्कृष्ट हो। उसमें अज्ञानपूर्ण विचारों का समावेश न हो और परमोच्चपद को प्राप्त करने की पूर्ण अभिलाषा हो। पशुगण भी परस्पर प्रीतिपूर्वक जीवन निर्वाह करते हैं। आपसी रागद्वेष में इतने तन्मय नहीं हो जाते हैं कि आपस ही में लिड़ झुड़झगड़ करके लहो लुहान हो जावें। वह प्रकृति के नियमानुकूल परस्पर सहयोग से रहना जानते हैं। नियमितरूप में साधारण भोजन करते हैं और विषयभोग में भी नियमित संयम से काम लेते हैं। वह प्राकृतिक नियम का उल्लंघन कभी नहीं करते। परन्तु इन की समानता में जब हम आज के सर्वोत्तम जीवित प्राणी के 'सद्कृत्य' देखते हैं तो बुद्धि को चक्कर में डाल लेते हैं। समझ में नहीं आता कि प्राकृतिक सिद्धान्तों की अवहेलना इस मानव संसार में क्योंकर हो रही है? विशिष्ट बुद्धि, विशिष्ट ज्ञान है और विशिष्ट शारीरिक योग्यता! फिर निसपर भी प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन हो तो वह किस प्रकार सर्वोत्तम प्राणी कहा जाय इस अपेक्षा तो आजकल के मनुष्यों से हमारे पशु ही अच्छे हैं और वह अपने नियमित रूप में अपने जीवन का पूर्ण भोग भी प्राप्त करते हैं।

आज मनुष्य संसार परस्पर में ही सहयोग से नहीं रह रहा है, यद्यपि यह प्राकृतिक सिद्धान्त है कि बिना परस्पर के सहयोग के जीवन निर्वाह होना कठिन है। एक छोटे कुटुम्ब से इस सिद्धान्त का प्रयोग प्रारंभ होता है और वह बड़े बड़े राष्ट्रों तक में लागू है। समाज का कार्य हो नियमित रूप से न चल सके, यदि मनुष्य परस्पर सहयोग करना

जानें, यदि किसान अन्न की व्यवस्था न करे और जुलाहा कपड़ा न बनाया करे तो शेष मनुष्यों का जीवन कठिन हो जाय। जबतक इस सिद्धान्त की समुचित मान्यता रहती है तब ही तक मनुष्य जाति शान्ति पूर्वक अपने उद्देश्य, धर्म, अर्थ, काम की सिद्धि कर सकती है। इसके अभाव में एक प्रकार का उपद्रव खड़ा हो जाता है और उसमें द्वेष, घृणा और स्वार्थ अपना प्रभुत्व जमा लेते हैं। प्रत्यक्ष में संसार में आज यह ही हो रहा है। श्वेतवर्ण के मनुष्य अन्य वर्णों के मनुष्यों को मनुष्य ही नहीं समझ रहे हैं और अपना ही जीवन संसार में महत्त्वमय जान रहे हैं। वह समझते हैं कि हम ही को संसार में जीवित रहने का और प्रभुत्व प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त है। शेष मनुष्य हमारी दया के पात्र हैं। यदि हम उन्हें जीवनदान दें तो ही वे जीवित रह सकते वरन् उनको कोई अधिकार नहीं है कि वे जीवन संग्राम में हमारी समानता करें। बस इस स्वार्थमयी अहंमन्यता में वे अन्य अवशेष जीवन क्रियाओं में भी प्राकृतिक नियम के प्रतिकूल जाते नहीं हिचकते हैं उनके हृदय में विश्वप्रेम का भाव-मात्र अपने भाइयों के लिए सीमित हो रहा है। वह धर्म के मूल तत्व को खो बैठे हैं। आत्मतत्व से अपरिचित हैं। पाशविकता ही उनका ज्ञान है। वही उनका बल है, और सब मिथ्या है। उनके निकट धर्म की बातें मानो धर्मग्रन्थ के लिए ही सीमित हैं। तिसपर खूबी यह है कि शेष संसार भी इन गौरवर्ण प्रभुओं की प्रेतमई प्रतिभा पर मुग्ध है। वह उसकी बाहरी चमक दमक और टीप टाप में इतना मदान्ध है कि उसे अपने आप की भी सुध नहीं है। फल यह है कि उस पाशविक सभ्यता के कार्यों का

अनुकरण अन्धश्रद्धालु हो करने से मनुष्य संसार वैज्ञानिक सिद्धान्तों से-प्राकृतिक परस्पर सहयोग के उपायों से-अजान हो रहा है। इन्द्रियों के विषय भोगों के वश हो उन्हीं की पूर्ति में सारी शक्ति का लगा देना आजकल का धर्म हो रहा है। ओत प्रोत किसी प्रकार अपनी विषयवासनाओं की पूर्ति करने के लिए धन सम्पत्ति एकत्रित करना आजकल के मनुष्यों का आवश्यक कर्तव्य हो रहा है। धर्म रुपये के कमाने में है रुपया ही आजकल के मनुष्यों का उपास्यदेव है। उसकेलिए यदि प्राकृतिक सिद्धान्तों का, मानुषिक भावों का बिलकुल ही गला घोट दिया जावे तो भी कुछ परवा नहीं है।

इस अधर्म मूढ भाव के-मिथ्योपदेश के प्रचार होने का परिणाम यह हो रहा है कि राष्ट्रों में प्रति दिवस प्रतिहिंसा के भाव बढ़ रहे हैं। नित नई लड़ाइयों के होने की सम्भावना की जा रही है। आए दिन नए नए प्राणशोषक अस्त्रों के आविष्कार होने के समाचार आरहे हैं। परस्पर मित्रतावर्द्धक और स्वभाग्यनिर्णय के सिद्धान्तों को पैरों तले कुचला जा रहा है। राष्ट्र राष्ट्र के प्रति भूखे भेड़िए की तरह मुखबाए बैठे हुए हैं। निर्बलों को कहीं गम्य नहीं। उनको मृत्यु अवश्यम्भावी है। यह तो रही राष्ट्रों की बातें। परन्तु दूसरे ओर इन्हीं के अनुरूप में पराश्रित देशों के प्राणियों में दुःख और दीनता की मात्रा यहांतक पहुंच चुकी है कि वह भी रक्त की पिपासा में जल रहे हैं। उनको भी प्राकृतिक नियम सूझ नहीं पड़ते। और धर्म के मूल सिद्धान्तों में विश्वास काफूर हो जाता है। मिथ्याज्ञान और मिथ्याविश्वास में प्रत्येक मनुष्य अपनी स्थिति उत्तम

बनाने की फिक्र में नित नए उपाय ढूंढता। है और इस प्रकार जितने ही मनुष्य होते हैं उतने ही उपाय उस जाति की दशा सुधारने के बतलाए जाते हैं। जिस के फलस्वरूप एक तरह से क्रान्ति उपस्थित हो जाती है और उससे लाभ प्रत्येक स्वार्थान्ध मनुष्य उठाता है।

उस ही स्वार्थान्धता के अनुरूप में धार्मिक जातियां भी अपने धर्म के सिद्धान्तोंको समझनेमें लाचार हो जातीं हैंऔर उनके दैनिक कृत्य स्वार्थवासना से पूर्ण होते हैं।जिसके कारण हर तरह से मनुष्य जाति पतित और दुःखित होती है। आज-कल भारतवर्ष की विविध जातियों के अन्तर्गत यही दशा देखने में आरही है। यह मानी हुई बात है कि भारतवर्ष धर्म-प्राण देश है परन्तुवहां जिस प्रकारप्राकृतिक नियमों, धार्मिक सिद्धान्तों की अवहेलना होते देखी जाती है वह एक अत्यन्त ही शोचनीय अभिनय है। धर्म के मूलभाव को न समझने के कारण विविध जातियाँ एक दूसरे को घृणा और द्वेष की दृष्टि से देखती हैं।थोथे क्रियाकाण्डों की पूर्ति में ही खून बहा देना अथवा अपनी सङ्गठित शक्ति का दुरुपयोग कर देना एक मामूली खेल हो रहा है। धर्म के मूलतत्व से विमुख होने का परिणाम ढकोसले बाजी में रह गया है। गृह गृह में कलह और स्वार्थपरता की मात्रा बढ़ गई है। जिसमें सबकी अलग अलग आवश्यकतायें बढ़ गई हैं। और उनके बढ़ने से मनुष्य अपनेजीवनोद्देश्य से भी भटक गया है। उसका दैनिक जीवन पाशविकता से भी बढ़कर खराब होगया है।

इस सब होने के कारण हम पहिले ही देख आए हैं कि

यथार्थ वस्तुस्वरूप का ज्ञान न होना ही है। वस्तुस्वरूप के विपरीत श्रद्धान होने से ही मनुष्य सुख के शान्तिमय मार्ग से विचलित होजाता है और आत्मपतन करके स्वार्थमई पाशविकता में पड़ जाता है, जिसका जीता जागता चित्र आजकल का संसार है। परन्तु यह अटल नियम है कि सत्य का कभी नाश नहीं हो सकता। सूर्य पर कोई कोटि राशि धूल भी डाले परन्तु उसका प्रकाश अन्त में प्रकट ही होता है। आजकल भी यही होता दीख रहा है। लोगों को आजकल की पाशविक सभ्यता में अविश्वास उत्पन्न हो गया है और वह यथार्थ सत्य की खोज में भी ज़रा २ अग्रसर हो रहा है। पूर्व की ओर वह लालसा भरे नेत्रों से देखरहा है। भारत के प्राचीन ऋषियों के स्वर्णमय मार्गों से अपना भविष्य सुखमय बनाना चाहता है। आजकल का पददलित भारत भी आंख मीच कर उसके पद चिन्होंमें चलना अपना गौरव समझता हैं। इस हेतु यहांपर उस यथार्थ सुख के राजमार्ग तक पहुंचने वाले सदुपायों का दिग्दर्शन करना परम हितकर व कल्याणकारी होगा।

वस्तुतः जब हम अपने स्वार्थरत दैनिक जीवन से हटकर सुख के मार्ग पर आना चाहेंगे, उस समय हमें इस बात की आवश्यकता होगी कि हम उन महान पुरुषों की जीवन घटनाओं से लाभ उठावें जिन्होंने राजमार्ग का अवलम्बन करके परम सुख को पा लिया है। मनुष्य स्वभावके लिए यह स्वाभाविक ही है कि वह अपने से उत्कृष्टता प्राप्त मनुष्य का अनुकरण करे। नीति का वाक्य भी हमको यही बतलाता है कि "महाजनाः येन गताः सः पन्थः।" सरल हृदय और विचक्षण बुद्धि धारक कविगण प्राकृतिक अनुरूप में ही हम से यहां एक मत हो कहते हैं कि :—

"Lives of great men all remind us,
We can make our lives sublime,
And departing leave behind us
The footprints on the sands of time."

वस्तुतः यह ठीक है, परन्तु प्रश्न यह होता है कि हम किस महापुरुष के चरणचिन्हों का अनुसरण करें। संसार में अनेकों महात्मा हो गुज़रे हैं उन में से किनकी शरण को हम प्राप्त करें। तिस पर आज भी हमारे मध्य यदाकदा समुदार महाजन का जन्म होजाता है तो फिर ऐसी अवस्था में हम किसको अपना आदर्श बनाएं ? इस शङ्काकी निवृत्ति के अर्थ हम पुनः उन्हीं ऋषीश्वर के निकट पहुंच कर इस शङ्का को हल कर लेते हैं। और हमको विदित हो जाता है, जैसे कि हमें पहिले यथार्थ शास्त्रों के विषय में ज्ञान प्राप्त हो चुका है कि उस ही महापुरुष का अनुकरण करना चाहिए जिसका सांसारिक मोह बिलकुल नष्ट होगया हो—जो रागद्वेषसे परे वीतरागमय हो और जिसकी दृष्टि शत्रु मित्रादि सब पर समान हो। जिन के वचन सब के लिए अव्याबाध परम सुखकर हों और यथार्थ सत्य को बतलाने वाले प्रमाणसिद्ध और बुद्धिगम्य हों। एवं जिसका ज्ञान संसार के समस्त चराचर पदार्थों को जानता हो। उस ही महापुरुष के चरणचिन्हों में चलना हमारे लिए हितकर होगा। यही महापुरुष अपनी सांसारिक परमात्मावस्था पूर्ण करके विकल-शरीर रहित सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं। इन्हीं की उपासना हमको करनी चाहिए, जिससे हमें यथार्थ मार्ग सूझ पड़े। अतएव प्रथम हमें परमात्मास्वरूप व्यक्ति का चिन्तवन करना जरूरी हुआ।

इसके पश्चात् जब हम उसके दिव्य चारित्र से पूर्ण विज्ञ हो जावेंगे और उसके प्रति पूर्ण विनय अपने हृदय में भर लेंगे तब ही हमें यथार्थ ज्ञान समझ पड़ेगा और तब ही हम अपना दैनिक चारित्र सुधार पायेंगे।

यह हम देख चुके हैं कि संसार के प्रत्येक प्राणी में हमारे समान ही मूल्यमय प्राण हैं और उनकी भी यही उत्कट लालसा है कि उन्हें सुख और शांति प्राप्त हो एवं उन्हें उनके दैनिक जीवन में कोई बाधा न उपस्थित करे। और यह स्वाभाविक ही है। हम स्वयं यह नहीं चाहते हैं कि कोई बात हमारे प्रतिकूल हो जो हमको किसीप्रकार का कष्ट देसके। इसलिए हमारा दैनिक चारित्र का नियम निर्धारित होजाता है कि (१) हम हिंसा से दूर रहें (२) झूँठ बोलने से परहेज़ करें (३) पराई वस्तु चुराने का कुभाव न रक्खें (४) सदाचार का पालन करने हेतु ब्रह्मचर्य्य का अभ्यास करें और (५) सांसारिक वस्तुओं के प्रति अपनी आकाङ्क्षा नियमित करलें। यही वह स्वर्णमय उपाय हैं जो हमें राजमार्ग के रास्ते की ओर लगा देंगे और हम क्रम करके परमसुख को पालेंगे। अब अगाड़ी हम इन्हीं बातों का विशेषरूप से दिग्दर्शन करेंगे और देखेंगे कि सर्व मतों ने ही इन वैज्ञानिक उपायों को अवश्य ही स्वीकार किया है। और उनका पालन करना हमारे दैनिक जीवन को भी सुखमय बना सकेगा। अतएव पाठक स्वच्छमना हो इनको ध्यान में लेवें।

(३)

उपासनीय देव !
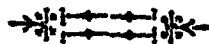
जिसने रागद्वेष कामादिक जीता, सब जग जान लिया।
सब जीवों को मोक्ष मार्ग का निस्पृह हो, उपदेश दिया॥
बुद्ध, वीर, जिन, हरिहर, ब्रह्मा, या उसको स्वाधीनकहो।
भक्तिभाव से प्रेरित हो यह, चित्त उसी में लीन रहो॥"

—'मेरी भावना'

पहिले हम देख आए हैं कि परमसुख प्राप्ति के लिए उस के राजमार्ग पर चलना होता है। और उस राजमार्ग तक पहुंचने के लिये जो उपाय हैं उन में सर्व प्रथम उन महापुरुषों का अनुसरण करना जरूरी बतलाया गया है जिन्होंने स्वयं उस का अभ्यास कर उसे प्राप्त किया है। अतएव इस अनुसरण के लिए यह आवश्यक ही है कि उन महापुरुषों के चारित्रों में भक्ति की जाय। परन्तु हम पहिले ही यह प्रश्न कर चुके हैं कि वह कौनसा महापुरुष होना चाहिए कि जिसकी उपासना व भक्ति हमको करना चाहिए? इसही का विचार हम यहां पर पुनः वैज्ञानिक ढंग से करेंगे।

यदि हम संसार व्यवहार के रूप में यह मानलें कि जो

सत्तावान हो और हमारी रक्षा भली प्रकार कर सकता हो वही हमारे पूजने योग्य है तो हमें उस पुरुष में उस पूर्णता के दर्शन नहीं होंगे जो कि एक महापुरुष में होना चाहिये जिन को कि हम पहिले देख आये हैं। यदि उसे हम एक राजा के रूप में मानलें और उस ही की कृपा कोर पर अपना सारा आशा भरोसा जीवन व्यवहार छोड़ दें तो भी कार्य नहीं चलेगा। प्रत्यक्षतः हम देखते हैं जब हम अपने आप श्रम करते हैं तबही अपना पेट भर पाते हैं। हम अन्य के भरोसे रह कर कोई कार्य नहीं कर सकते हैं। जब हमारे दैनिक व्यवहार की ही यह दशा है तब परमार्थ के लिए दूसरे की ओर आशा भरे नेत्रों से देखना हमको क्या फल प्राप्त करा सकेगा यह सहज अनुभावगम्य है। तिस पर हम पहिले ही देख चुके हैं कि इस संसार में कोई ऐसा महापुरुष नहीं है जो प्रत्येक व्यक्ति को उसकी इच्छानुसार सुख और आनन्द प्रदान कर सके। यह तो प्रत्येक व्यक्ति के ही आधीन है कि वह अपने को चाहे सुखी बनाले अथवा दुःखों की तप्त ज्वालामुखी में पटकले। अन्यत्र न कोई ईश्वर है, न कोई शक्ति है और न कोई दाता है जो उसपर दया करके उसकी दशा सुधार दे! यदि ऐसा ही कोई पुरुष मिल जाय तो वह हम संसारी जीवों से भी महान् क्लेशवान होगा, क्यों कि उस में हमसे लाखगुणी अधिक इच्छाओं की उत्पत्ति एक क्षण में हो जायगी। और इच्छायें ही दुःख को मूल हैं यह हम जान चुके हैं। इस लिए हमारा आदर्श, हमारा पूज्य उपास्यदेव इन दुःखों के जाल से परे पूर्ण सुखरूप होना चाहिये। इसी प्राकृतिक सन्देश की व्याख्या हमें हिन्दुओं की प्रख्यात भगवद्गीता में मिलती है यहां कहा है कि :—

"न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ॥
न कर्म फल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १ ॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न कस्य सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥२॥"

ईसाइयों के यहाँ भी यही बतलाया गया है। Lucretius (II. 646) का कहना है कि:—

"Omnis enim se divom nature necessest
Immortali avo summa cum pace frvater,
Semota a nostris relens subjunctaque louje.
Nam privata dolore ommi, privata periclis,
Ipsa Suis pollens opibus, nihil indiga notri,
Nec bene promeritis capitur, nac tangiturira"*

भाव यह है कि परमात्मा का स्वभाव अनन्त काल तक परमोच्च समाधि का उपभोग करना है, जिस में वह हमारे सदृश सब सांसारिक झंझटों से अलग रहता है, हमारे सब प्रकार के दुःख उसे नहीं सता सकते हैं और हमारे जीवन के भयानक दृश्य उस के निकट नहीं जा सकते हैं। वह अपने आप में पूर्ण है। उसे हम से कुछ भी आवश्यकता नहीं है।

---

* "Mr. Morley, in his Gladstone III 19, translates these lines thus: "For the nature of Gods must ever of itself enjoy repose supreme through endless time, far withdrawn from all concerns of ours, free from all our pain, free from all our perils, strong in resources of its own, needing nought from us; no favour win it, no anger moves"

कोई भी भेंट उस पर विजय प्राप्त नहीं कर सकती और क्रोध उसे चल विचल नहीं कर सकता। एक उपास्यदेव का यह सच्चा स्वरूप हमारे उक्त कथन की पुष्टि करता है। ऐसे ही पूर्ण परमात्मा का आदर्श सम्मुख रखना हमारे उन्नत पथ में सहायता का कारण है। इस ही बात को लक्ष्य करके हमारे पूर्व पुरुषों ने उसका स्वरूप हमें हृदयङ्गम करादिया था, परन्तु अभाग्यवश यदि हम अपने कषायों के वशीभूत हो उसका विकृतरूप बना डालें तो इस में उन शास्त्रवेत्ताओं का क्या अपराध है? यह तो मनुष्य की ही कृति है। चाहे वह उन से सद्गुलाभ उठाये और परमात्म–स्वरूप के दर्शन करे। अथवा सांसारिक प्रलोभनों में फंस स्वयं पतित होवे और उस प्राचीन-पट को भी कलङ्कित करे। मनुष्य को ही पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त है। वह उस स्वाधीनता का सदुपयोग करके पूर्ण सुखरूप आदर्श के चरण चिन्हों में चलकर तद्वत् सुखरूप हो सकता है। उस आदर्श का रूप जिस प्रकार उपरोक्त दो धर्मों में बतलाया गया है वैसा ही हमें खोज करने से संसार के अन्य धर्मों में भी मिलता है। यूनानवासियों का भी ऐसा ही धार्मिक विश्वास था, यह उनके प्रख्यात तत्ववेता अरस्तू (Aristotle) के मत से व्यक्त है। वह परमात्मा को *

*Aristotle, the celebrated Greek Philosopher who lived in 384 B.C. refers to God in these terms: "Not taking cognizance of, and not regarding the affairs of the world, which owed not its existence to him, to which his presence and influence do not extend."

जगत के कार्यों से बिलकुल निर्दोष प्रकट करता है। वस्तुतः है भी यही बात जैसे कि हम देख चुके हैं। तिसपर भी ईश्वर पर आशा-भरोसा रखने के विषय में मि० जोजेफ मैककेब साहब का स्पष्ट विवेचन द्रष्टव्य है। आप अपनी पुस्तक "दि बैंकरप्सी ऑफ रिलीजन" (पृ० ३०-३४) में लिखते हैं कि "जिस परमेश्वर की मनुष्य को आवश्यकता है वह सहायता प्रदायक परमेश्वर है। हम जिस बात की परीक्षा करते हैं वह यह है कि इस विशाल समझ को ठोकर खाते हुये की सहायता करते और आहत पगों वाले यात्री की रक्षा करते देखें। हम इस परमोत्कृष्ट हितेच्छा में जो कि जङ्गली कौओं को भोजन देती है यह बात देखना चाहते हैं कि वह मानुषिक क्रम में कुछ उत्तमता के लक्षण उत्पन्न करे अर्थात् संसार के अश्रुपात एवं रक्त के बहाव को रोकने में हमारी लड़खड़ाती हुई बुद्धि की सहायता करे। निरपराधों की दुःख और भूख प्यास से रक्षा करे और स्त्रियों एवं बालकों को समर-उन्मत्त असभ्यता से बचावे। अथवा यह और भी अच्छा हो जो असभ्य का जन्म ही न होने दे अथवा उस असभ्यता को न बढ़ने दे। ठीक यही प्रश्न ईश्वर भक्त की परेशानी के कारण सदैव से रहे हैं। वह हमको मानुषिक क्रम में परमेश्वर की सहायता का प्रत्यक्ष कोई चिन्ह नहीं दिखा सकता है। वह कभी २ ऐसी कहानियों को जैसे मोन्स (Mons) के स्थान पर फिरिश्तों का दिखाई देना या लूर्ड्ज (Lourdes) के अद्भुत करिश्मे जो खोज करने पर झूठे पाये जाते हैं सुनकर आनन्दित होता है। परन्तु सामान्यतया वह इस से बेचैन रहता है कि मानुषिक जीवन क्रम में परमेश्वर का सहायक हाथ दृष्टिगोचर नहीं होता है।

वह धीरे २ बुड़बुड़ाता है कि परमेश्वर गुप्त में और हृदय के भीतर से अत्यन्त अदृश्यता में कार्य्य करता है. कि उसने मनुष्यों को स्वतंत्रता प्रदान की है जिसका उस के लिये लिहाज़ करना आवश्यक है और यह कि स्यात् सर्वोत्तम कृपा यह है कि वह मनुष्य को इस बात का अवसर प्रदान करता है कि वह अपनी स्वयं सहायता करके अपने को बलवान बना लेवे। इन सर्व निर्बल दावों के पीछे एक निराशाजनक बोध है कि उस परमेश्वर का पता, जिसको वह इतने स्पष्ट रूप से सूर्य्यास्त, गुलाबों एवं सुन्दर पत्त के बनाने में देखता है, मनुष्य के जीवन में कहीं भी यथार्थ दृष्टि में नहीं चलता है। क्या विद्यमान मनुष्यजाति के समय में कोई भी बात ऐसी (पृथ्वी के किसी भागपर) हुई है जिसमें परमेश्वर का संबंध पाया जावे! क्या मनुष्य के कृत्यों की विशाल सूची में एक घटना भी ऐसी है जिसमें परमेश्वर का हाथ पाया जावे? वह घटना कहां है जिस के प्राकृतिक कारणों का हम विश्वसनीय पता नहीं लगा सकते हैं? वह यह शंका है जिसको गत महासमर ने पुख्ता कर दिया है। यह बात नहीं है कि मनुष्य को सहायता की आवश्यकता नथी। हमारी जाति का घटनाक्रम कैसा हृदय-ग्राही है? सभ्यता की ड्योढ़ी तक पहुंचने के पहिले प्रारम्भिक मनुष्यों को दारुण गतियों में सैकड़ों और हजारों वर्ष टकराते व्यतीतहुये! उस परभी यह सभ्यता ऐसी अपूर्ण थी; और इस में इतने पाशविक विचार घर किये हुए थे कि लोगों को दुःख फिर भी भोगना पड़ता था। आज भी हम समर, रोग, दरिद्रता, अपराधों, हृदय-संकोच और संकीर्ण स्वभावों को, जो हमारे जीवन को अंधकारमय बनाते हैं, असह्य अवस्था में देखते

हैं। और ऐसा ज्ञात होता है कि परमेश्वर को इस सम्पूर्ण समय में सूर्य्यास्त को सुनहरा करने और मोर के पंखों में बूटे बनाने से अवकाश नहीं मिला! ईश्वरभक्त कहते हैं कि परमेश्वर ने पापों के कारण समर को चालू रक्खा। प्रयोजन से यहां कुछ अर्थ नहीं है। ऐसा चालू रखना फिर भी पाशविक बदला लेना है। आप उस पिता को क्या कहेंगे जो पास खड़े होते हुये अपनी पुत्री के शील को बिगड़ता देखे? और जो उसकी रक्षा करने की पूर्ण योग्यता रखता हो? फिर क्या आप संतोषित हो जायेंगे यदि वह उस बात को प्रमाणित करदे कि उसकी पुत्री ने किसी प्रकार उसकी अवहेलना की थी?"

इस स्पष्ट विवेचन द्वारा विद्वान लेखक ने परमेश्वर पर अपने सुखदुःख का भरोसा रखना और यह आशा रखना कि उसकी कृपा से ही हम परमसुखी हो जांयगे-ऐसी मिथ्या धारणा का विशेष उत्तमता के साथ निराकरण किया है। किसी अन्य व्यक्ति पर अपने जीवन-सम्बन्धी उत्तरदायित्व का बोझा डालना बिलकुल अबुद्धिमानी ही समझना चाहिये, क्योंकि हम पहिले ही देख चुके हैं कि प्रत्येक जीवित प्राणी स्वयं अनन्त ज्ञानवान, और अनन्त सुखी है। परमसुख उसके सिवाय बाहिर कहीं भी नहीं है। तिसपर भी जो सुख-दुःख के अनुभव उसे हो रहे हैं वह उसके सांसारिक बन्धन के कारण हैं। उस-आत्मा के पौद्गलिक सम्बध-कार्माण शक्तियां के संयोग के कारण वह दुःखसुख भुगत रहा है। जैसा बोता है वैसा काटता है। अन्य कोई न उसे सुखी बनाता है और न

दुःखों के जंजाल में फंसाता है। ब्रह्मबिन्दु उपनिषद् में स्वयं इसी प्राणी को ही संसार-परिभ्रमण का कारण बताया है। वहां लिखा है :-

> मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।
> बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यैर्निर्विषयं स्मृतम् ॥"

अर्थात्—मनुष्य अपने ही मन द्वारा संसार में बंधे हुये हैं और वे अपने ही मन से सांसारिक बंधनों से छूट सकते हैं क्योंकि प्राणी को मन की विषयासक्ति ही संसार में उलझाये रखती है और जब मन विषयों से विरक्त हो जाता है तभी उसे संसार के बन्धनों से छुट्टी मिलती है। इस हेतु प्रत्येक प्राणी को स्वयं अपने को शुद्धता की ओर बढ़ाने में प्रयत्नशील होना चाहिये। अपने दैनिक कार्यों में दूसरे का सहारा ताकना कायरता भरा है। स्वावलम्बन द्वारा ही मनुष्य किसी कार्य में सफल प्रयास होता है। जहां दूसरे की मुखापेक्षा की आयगी वहां उन्नति कैसे होगी? और यह हम देख ही चुके हैं कि जो महान् आत्मायें इस प्रकार अपने स्वावलम्बन से परमोच्च परमात्मपद को प्राप्त हुई हों वही उपासनीय हैं। अतएव किसी ऐसे व्यक्ति की उपासना करना हमारे लिये लाभप्रद नहीं है जो एक उस स्वामी की भांति हो जो भेंटों और खुशामदों से प्रसन्न होता हो। तथा उनके अभाव में क्रोध के वशीभूत हो जाता हो! ऐसे परम-व्यक्ति के प्रति एक आचार्य के निम्नवाक्य दृष्टव्य हैं :-

"रागी चत्परमेश्वरो गुरुरपि ब्रह्मश्रष्टताद् भृष्टवान्,
धर्मो निष्करणो भवेत्तदहः क्लेशः कियां उच्यते ?
माध्यस्थ्येन विचारणात्तु हृदये दम्भुलिङ्गेप्यते,
निरागो भगवान् गुरुश्चारित्रवान् धर्मः कृपात्मेत्यदः ॥ ३२ ॥"

—न्यायकुसुमाञ्जली अ० ४

इस में आचार्य खेदपूर्वक प्रकट करते हैं कि यदि परमात्मा को विषयाकांक्षा में लिप्त मान लिया जाय तो कितना अनिष्ट होवे। वह वैसा ही गुरु होवे जो ब्रह्मचर्य, धर्म और दया के नियमों से रहित हुआ हो! यदि हम इस विषय में निष्पक्ष हो विचार करें तो हमें हमारा उपास्यदेव परमात्मा रागद्वेष रहित–विषयाकाङ्क्षा विहीन उस गुरु की भांति मिलेगा जो दया की भित्ति पर अवलम्बित चारित्र और धर्म का एक नमूना हो! ऐसा हो आदर्श-ऐसा ही उपास्यदेव हमारे लिये आप्त हो सकता है। वह हमारे लिये एक नमूना हो सकता है जिसके आधार से हम स्वयं पुरुषार्थ करके परम सुखरूप परमात्मपद को प्राप्त कर सकते हैं। वह हमें अपने आप अनुकम्पा करके मुक्ति में नहीं पधरा सकता। एक आधुनिक लेखक का इस विषय में कथन है कि "जो लोग किसी पैग़म्बर को मुक्ति दिलाने वाला मानते हैं वे यह कहते हैं कि जीव इतना पापी है कि वह अपने आप पाप से निवृत्त नहीं हो सकता है। यदि ऐसा हो तो एक श्रेष्ठ से श्रेष्ठ पुरुष, जिसका ऐसे नज़ात दिलाने वाले पैग़म्बर के नाम निशान का पता नहीं है मुक्ति से अथवा स्वर्ग राज्य से निर्दोष वञ्चित रह जायगा। यह कितना बड़ा ज़ुल्म होगा। असल में इनके दार्शनिक यह नहीं समझे हुये हैं कि जीव अपने परिणामों के निमित्त से पूर्व बंधे कर्मों का भी उत्कर्षण,

(बढ़ना) अपकर्षण (घटना) सङ्क्रमण (बदलना) आदि करता है और इससे उनकी शक्ति को अपने पुरुषार्थ से उपदेश आदि के निमित्त से धर्मकार्य में प्रवृत्ति करके हीन करता है ।" (भगवान महावीर पृष्ट ३५०) अतएव स्वयं जीवित प्राणी ही अपने पुरुषार्थ द्वारा मन को शुद्ध विचार और शुद्धाचरण में लगाने से उन दुःखोत्पादक शक्तियों को नष्ट कर सकता है जिनके कारण वह संसार में भटक रहा है और मन शुभपरिणति, धर्माचरण आदि में तब ही लग सकता है जब उसका निरोध किया जाय, राग द्वेष में न भटकने दिया जाय । हिन्दुओं की श्री भगवद्गीता में भी यही कहा है :—

"असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन च कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥"

मनको शुद्ध करने का उपाय "योगशास्त्र" में भी इस ही प्रकार बताया है वहां लिखा है, कि :—

"मनः शुद्ध्यैव कर्तव्यो रागद्वेष विनिर्जयः ।
कालुष्यं येन हित्वात्मा स्व स्वरूपेऽवतिष्ठते ॥ ४ ॥"

अर्थात्—मन की शुद्धि के लिए राग द्वेष को जीतने की आवश्यकता है कि जिससे आत्मा मलिनता को त्याग कर स्व-स्वरूप की निर्विकार अवस्था में स्थित रहे । और राग द्वेष पर विजय पाने के लिये मनुष्य को प्रारम्भिक अवस्था में किसी किसी महान पुरुष के आचरण चिन्हों पर चलना और पञ्च पापोंसे मुँह मोड़ना आवश्यक है । यह हम पहिले देखचुके हैं। और वह महापुरुष स्वयं पूर्ण और परम सुखरूप होना चाहिये यह भी हम देख चुके हैं। बौद्धों के यहां भी उपास्यदेव का

ऐसा ही स्वरूप बतलाया गया है। उनके "धम्मपद" ग्रन्थ में लिखा है कि :—

90 "He for whom life's, journey's, over, free from sorrow, free from pain

Who has all the knots unfastened, suffering knows not again.

91 Household life for them no joys hath; striving and intent in mind

As the swan deserts the marshes, every home way leave behind.

97 Self-dependent, self-sufcieing, knower of the Uncreate *,

Who hath loosed the bonds of action, from the chain of births set free,

All desires are fallen from him, nobtest of all beings he."

भाव यही है कि आदर्शरूप आप्त सांसारिक दुःखो से परे और आवागमन के चक्कर से विलग तथा स्वाधीन, संपूर्ण और परम सुखरूप दशा का ज्ञाता, सर्व इच्छाओं से रहित होता है। एक जैनाचार्य भी उपासनीय ईश्वर को सकल कर्म रहित बतलाते हैं। (परिच्छिन्न सकल कर्मा ईश्वरः) एक अन्य प्राचीन ऋषि श्री योगोन्द्र देव भी यही प्रकट करते हैं। वह कहते हैं :—

---

*Akatannu. The unborn, the eternal, the state of nibbana

F.N. The Buddhas Path of Virtul P, 22,

"केवल दंसण णाणसुहु वीरिउ जो जि अनन्तु।
सो जिनदेवजी परम मुनि परम पयासु मुनन्तु ॥ ३२० ॥
"परमात्म प्रकाश"

अर्थात्—वह आत्मा जो अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य कर पूर्ण है वही परम मुनि है और स्वयं सर्वथा पूर्ण होने के कारण जिनदेव है। एक दृष्टि हिन्दी साहित्य पर डालते ही हमें एक आधुनिक कवि एक प्राचीन ऋषि के कथनानुरूप में कहते मिलते हैं कि :—

"जो सर्वज्ञशास्त्र का स्वामी, जिसमें नहीं दोष का लेश।
वही आप्त है वही आप्त है, वही आप्त है तीर्थ जिनेश ॥
जिसके भीतर इन बातों का, समावेश नहिं हो सकता।
नहीं आप्त वह हो सकता है, सत्यदेव नहिं हो सकता ॥
भूख प्यास बीमारि बुढ़ापा, जन्म मरण भय राग द्वेष।
गर्व मोह चिन्ता मद अचरज, निद्रा अरति खेद औ स्वेद ॥
दोष अठारह ये माने हैं, हों ये जिनमें जरा नहीं।
आप्त वही है देव वही है नाथ वही है और नहीं ॥
सर्वोत्तम पद पर जो स्थित हो, परम ज्योति हो हो निर्मल।
वीतराग हो महाकृती हो, हो सर्वज्ञ सदा निश्चल ॥
आदि रहित हो अन्त रहित हो, मध्य रहित हो महिमावान।
सब जीवों का होय हितैषी, हितोपदेशी वही सुजान ॥
बिना राग के बिना स्वार्थ के, सत्यमार्ग वे बतलाते।
सुन सुन जिनको सत्पुरुषों के, हृदय प्रफुल्लित हो जाते ॥
उस्तादों के करस्पर्श से, जब मृदङ्ग ध्वनि करता है।
नहीं किसी से कुछ चहता है, रसिकों के मन हरता है ॥

(रत्नकरण्डश्रावकाचार).

यहां विषद रूप से एक आप्त का स्वरूप स्पष्ट कर दिया गया है। ऐसा ही आप्त हमारे लिये आदर्शरूप हो सकता है। उसे फिर चाहे हम ईश्वर की संज्ञा से विभूषित करें अथवा जिन, अर्हन्, बुद्ध, शिव, विष्णु, खुदा, गॉड इत्यादि किसी भी नाम से स्मरण करें। इस्लाम धर्म की प्रार्थना में उपास्य आप्त का स्वरूप इसही प्रकार का बतलाया है, जिसका अवलोकन पाठक अगाड़ी करेंगे। तिस पर भी खुदा आदि शब्दोंके पारिभाषिक भावपर ध्यान देनेसे भी इसही व्याख्या की पुष्टि होती है। एक विद्वान इसका विवेचन करते हुए लखते हैं कि:—

"ईश्वर के लिये फारसी शब्द खुदा है जो एक सार्थक संज्ञा (शब्द) है जिसके अर्थ स्वतन्त्र (अर्थात् स्वजाति में स्थित रहने वाले) के हैं। यह अवश्य ही विशुद्धात्मा वा जीवन की ओर लक्ष्य करके है, जो अपना स्रोत आप ही है और सनातन है। शब्द जे हो वा * (विशेष उपयुक्त जाहवेह) का शब्दार्थ जीवित सत्ता है (दि लॉस्ट लैंगुएज आफ सिम्बलिज्म १। ३०२)। यह अर्थ यहोवाह का जीवन के लक्षण से पूर्णरूपेण एक सदृश है, जो स्वभाव से परमात्म स्वरूप है। ......जे होवा ने स्वयं कहा है :—

'जिससे कि तू प्रभू अपने परमेश्वर से प्रेम रक्खे और उस की वाणी का इच्छुक हो और तू उससे लिपटा रहे कि वह तेरा जीवन, और तेरी वयस का बढ़ाव है।' (इसतिस्ना ३०।२०)

हजरत ईसा ने भी कहा है :- 'कयामत और जीवन तो

---

*पारसियों का उपास्यदेव

मैं हूं।' (यहुन्ना ११ । २५) पेंलुसरसूल मसीह का उल्लेख इन शब्दों में 'जो जीवन है।' करता है। (कलसियों बाब ३ आ० ४) सब से पूर्ण सार्थक नाम ईश्वर का "मैं हूँ" है । यह हिन्दू, पारसी, यहूदी और ईसाई चारों धर्मों में एक समान पाया जाता है। ईशावास्य उपनिषद् (मन्त्र १६) सिखाता है कि:—

'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।'

जिसका अर्थ यह है कि वह पुरुष जो जीवन में रहता है 'अहम' 'मैं' (अर्थात् परमात्मा) और 'अस्मि, 'मैं हूं' के नाम से जाना गया है (जो सत्ता को प्रकट करता है) यह मांध्वाचार्य के वक्तव्यानुसार ईश्वर के अकथित नाम का मन्त्र है :- सोऽहमस्मि (मैं हूँ जो हूँ ।) । पारसियों के हुरमजद् यश्त में यह लिखा है कि 'तब जरदस्त ने कहा-ऐ पवित्र अहूरामजदा! मुझे अपना वह नाम बतला जो तेरा सर्वोच्च, सर्वोत्तम एवं सर्वोत्कृष्ट और जो प्रार्थना के हेतु विशेष लाभदायक है।' अहूरामजदा ने इस प्रकार उत्तर दिया कि मेरा प्रथम नाम 'अहमो' (मैं हूँ) है।...... और मेरा बीसवां नाम अहमोयद् अहमोमजदाउ (मैं वह हूँ जो हूं मजदाउ है।' (होग्ज एस्सेज़-ओन दि पर्सीज पृ० १९५) । और जैसो कि डॉ स्पीजल साहब की सम्मति है कि अहूरा वा जेहोवा एक ही हैं और अहूरा का अर्थ अहु (संस्कृत असु=जीवन) का स्वामी है। (फाउन्टेनहेड ओफ रिलीजन पृ० ७३) यहूदियों के मत के विषय में इन्जील के प्राचीन अहदनामे खरुज की पुस्तक में जेहोवा और मूसा का आपसी वक्तव्य इस प्रकार अङ्कित है कि 'मूसा ने खुदा से कहा कि देख जब मैं इस रायल के लोगों के पास पहुंचूं और उनसे कहूँ कि तुम्हारे बाप दादों के खुदा ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है और वे कहें कि उनका नाम क्या है तो मैं उन्हें क्या बतलाऊँ?

और खुदा ने मूसा से कहा कि मैं वह हूँ जो हूँ । और उसने कहाकि तू इसरायलके लोगोंसे यूं कहना कि मैं हूँ ने मुझेतुम्हारे पास भेजा है ।, (३ । १३-१४) अन्ततः ईसा भी 'मैं हूँ' का उल्लेख अपने रहस्यमय वक्तव्य में करता है जिसको ईसाई समझने में चकराते हैं :—

'पूर्व इब्राहीम के था मैं हूं ।' (यहुन्ना ८ । ५८)

जिस वक्तव्य में यह कथन आया है वह एक वाद था जो ईसा और यहूदियों में हुआ था । ईसा ने अपनी रहस्यमय शिक्षा में कहा—'तुम्हारा पिता इब्राहीम मेरा दिन देखने की आशा पर विशेष आनन्दमय था । अस्तु, उसने देखा और आनन्दित हुआ ।' इसके उपरान्त का उल्लेख यहुन्ना की इन्जील में निम्न प्रकार है :—

'यहूदियों ने उससे कहा कि तेरी अवस्था तो अभी पचास वर्ष की भी नहीं है फिर तूने इब्राहीम को कैसे देखा ?'

'ईसा ने उनसे कहा कि मैं तुमसे सत्य २ कहता हूं । पूर्व इब्राहीम के था मैं हूं ।' (यहुन्ना ८ । ५६-५८)

"यदि तुम मैं हूं को उसी रूप में मानो जैसा कि उसका भाव था; अर्थात् एक संज्ञा वा ईश्वर के नाम के रूप में जो जीवन है, तब तुम उस मुश्किल (परेशानी) से बच जाओगे जो दूसरों ने ईसा के इस रहस्यमय वक्तव्य में पाई है । उस समय यह स्पष्ट रूप में यूं पढ़ा जावेगा— 'मैं हूं इब्राहीम के पूर्व था'-और यह अर्थ वास्तव में उपयुक्त भी है । अब आप परमात्मा को समझे ? उसका नाम 'मैं हूं' है, जो कि अत्यन्त उपयुक्त आकृतिक सार्थक नाम जीवनसत्ता का है, जो यथार्थ में है ।

मान लीजिये कि आपने जीवनसत्ता को एक मनुष्य की तरह के कार्यकर्ता ईश्वर के रूप में कवि कल्पना में बांधा और उससे प्रार्थना की कि वह अपने लिये एक ऐसा नाम ढूंढे जो उसके स्वभाविक कर्तव्यों का द्योतक हो। क्या आप विचार सकते हैं कि वह इससे विशेष उपयुक्त वा योग्य उत्तर दे सकता है कि 'मैं वह हूं जो है' अर्थात् 'मैं हूं जो हूं' अथवा संक्षेप में केवल ' मैं हूं ' मैं नहीं समझता हूं कि जीवनसत्ता के लिये 'मैं हूं' से विशेष उपयुक्त कोई और नाम हो सकता है। हम इस प्रकार चक्रमय मार्ग द्वारा पुनः प्राचीन वैज्ञानिक (Scie-ntijic) धर्म पर वापिस आ जाते हैं जो यह शिक्षा देता है कि जहां तक जीवन के यथार्थ गुणों का सम्बन्ध है जीवात्मा (साधारण आत्मा) और परमात्मा एक समान हैं मुसलमानों के यहां भी खुदा के नामों में से हम अलहई (वह जो जीवनमय) अल्कयूम (स्थित रहने वाला) अलसमद (अमर अलअव्वल (प्रथम) और आखिर (अन्त) को पाते हैं। इनमें से अन्त के दो नाम वही हैं जो इन्जील (मुशशफा १।८) में दिये हैं जहां कहा है कि :—

'मैं प्रथम और अन्तिम हूं अर्थात् प्रारंभ और अन्त हूं जो है और जो था और जो आने वाला है सर्वशक्तिमान।'

"यशैयाह नबी की पुस्तक (इञ्जील में भी यह लेख है :-

'मैं प्रथम हूं और मैं अन्त हूं। और मेरे अतिरिक्त अन्य कोई ईश्वर नहीं है।' (अ० ४४।६)

यह कितने ही स्थानों पर दुहराया गया है (विशेषतया यशैयाह ४८।१२)। सूराजरायात में कहा है :—

'मैं तुम्हारे व्यक्तित्व में हूं परन्तु तुम देखते नहीं हो।'

"वह कौन वस्तु है जो हमारे व्यक्तित्व में है और ईश्वर के गुण रखती है, यदि वह स्वय जीवनसत्ता नहीं है तो? यहुन्ना की इञ्जील अ० ८ आ० ५८ का यथार्थ अर्थ जो अब पूर्णतया प्रत्यक्षरोत्या समझ में आजायगा यह है कि प्रत्येकआत्मा अपने स्वभाव की अपेक्षा अविनाशी है और उसका अस्तित्व अनादि-काल से इसी प्रकार चला आया है। इसलिए इब्राहीम के समय में भी वह थी। यहूदियों के उत्तर में ईसा भगवद्गीता के निम्न वाक्य व्यवहृत करते तो भी अति उपयुक्त होता:—

'न कभी मैं न था, न तू कभी न था। न यह मनुष्य के राजा कभी नहीं थे। और वास्तव में न हम कभी अस्तित्वहीन होंगे।'

—(अ० २ श्लो० १२)—

"इस वर्णन के विषय में कि 'इब्राहीम मेरा दिन देखने की आशा पर विशेष आनन्दित था। अस्तु उसने देखा और आनन्दित हुआ' यह प्रत्यक्ष है मुख्य कर शब्दों 'मेरा दिन' के लिखने से कि यहां उल्लेख एक 'ईश्वर के पुत्र' के प्रताप से है, न कि ईसू से जिसका दिन इब्राहीम के लिये उसी अवस्था में देखना सम्भव हो सकता था जबकि उन दोनों के अन्तरमयं शताब्दियों का नाश हो सकता। जहां पर हम भूल करते हैं वह यह है कि हम एक यथार्थ वा काल्पनिक मनुष्य को चाहे वह कृष्ण हो वा ईसा अथवा और कोई हो, मूर्ति पूजकों के ढङ्ग में उपासना करने लगते हैं। उपासना का यथार्थ भाव यह है कि मसीह को जो जैनधर्म में 'जिन' कहलाता है आदर्श बनाकर उसके पथ का अनुयायी हो। और आदर्श का नियम ...... मुक्ति का मार्ग है। मूर्ति पूजा से तुम पाषाणों में हो टक्कर मारते फिरोगे। पालुसरसूल ने ईसा के जीवित होनें के सम्बन्ध में किसी मुख्य बात का ईसा के लिये दावा नहीं

किया।.........ईसा इस प्रकार जीवन का आत्मिक आदर्श है जो यहूदियों के गुप्त कथानक रूपी वस्त्रावरण में प्रकट होता है; कृष्ण के सदृश जो हिन्दू धर्म में इसी प्रकार का आदर्श है। इन सब कथानकोंके पीछे यथार्थ आदर्श सच्चा जिन-तीर्थंकर-परमात्मा ही है। अन्तिम तीर्थंकर परमात्मा महावीर हैं जिन्होंने अपनी ही पूज्य आत्मा में जीवन की परमोत्कृष्टता एवं वास्तविक ईश्वरीय पूर्णता प्राप्त की और जिन्होंने दूसरों को सायन्स (विज्ञान) के ढंग पर पूर्णता के मार्ग की शिक्षा दी। इस काल में उनके पूर्व २३ अन्य विशुद्ध तीर्थंकर हुए हैं जिन्होंने अपने पवित्र चरण चिन्ह समय के रेतपर हम लोगों के चलने के लिये छोड़े हैं। इन पवित्र आत्माओं में सब से प्रथम श्री ऋषभदेव हैं। जिनका नाम ही संसार की सबसे प्राचीन कथानक वर्णन में अर्थात् वैदिक धर्म्म में धर्म्म का चिन्ह है।"

—(असहमत संगम पृष्ठ ३८५–३९२

इस प्रकार विद्वान् लेखक के शब्दों में हम सबही धर्मों में एक आदर्शको झलकपाते हैं और जानते हैं कि हम स्वयं पूर्णरूप हैं जिसको अपने ही शुभ पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त कर सुखी हो सकते हैं. जैसे कि पहिले भी देख चुके हैं। परन्तु यहां पर पाठकों के हृदय में दो शंकायें अपना प्राबल्य जमाये होंगी अर्थात् यह प्रश्न उनके मस्तिष्क में जोर से चक्कर लगा रहे होंगे कि प्रत्यक्षतः हिन्दू, मुसलमान आदि धर्मानुयायियों का तो विश्वास एक सर्व शक्तिमान परमेश्वर पर की कृपा सुख रूप होने का है तथा उनके शास्त्रों में भी इस ही विश्वास की पुष्टि है और दूसरे यह कि इन धर्मों में बहु-परमात्मा नहीं माने गये हैं। इन दोनों ही शङ्काओं का निवारण सहज में ही ज़रा गम्भीर विचार करने से हो जाता है।

हम पहिले ही वैज्ञानिक ढंग से देख चुके हैं कि कोई अन्य शक्ति बाहिर से जीवित प्राणी को सुख दुख का अनुभव नहीं करा सकती। वह तो स्वयं अपने ही कर्मों द्वारा सुख दुख का अनुभव करता है। इसही व्याख्यान की पुष्टि विविध धर्मों के शास्त्रीय उच्च उद्धरणों द्वारा भी होते पाई गई है। तब भी यह सच है कि उनमें किसी कारणवश एक सर्वशक्तिमान परमात्मा पर भी आशा भरोसा रखने का विधान है। परन्तु उन धर्मों के अनुयायियों ने अपने शास्त्रोंके इस कथन पर विलकुल ज़ोर दे दिया और दूसरी शिक्षा को गौण कर दिया, इसका कारण यही है कि मनुष्य प्रकृति व्यवहार में कुछ ऐसी पड़ रही है कि वह अपने उत्तरदायित्त्व को दूसरे पर पर पटक कर सुगमता-पूर्वक अपना पीछा इस बोझ से छुटाना चाहती हैं। गंभीर विचार शक्ति के अभाव में तथा व्यवहार में किसी न किसीके प्रति पूज्य दृष्टि—स्वामीपने का भाव रखने के कारण वह स्वभावतः ऐसा ही विश्वास धारण कर लेते हैं और अपने शास्त्रों के उन विवरणों पर जो स्वयं जीवित प्राणी को ही अपना कर्ता-भोक्ता तथा परमात्मस्वरूप प्रकट करते हैं' ध्यान नहीं देते हैं। और यदि यथार्थ खोज होवे तो यह संभवतः प्रमाणित होजाय कि प्रथम प्रकार के परावलम्बी बनाने वाले विवरणोंकी बाहुल्यता प्रत्येक धर्म की प्राचीन पुस्तक में नहीं मिलेगी। तो फिर यह पूछा जा सका है कि एक ही धर्म में यह परस्पर विरोधी वाक्य किस तरह संभवित हो ? परन्तु यह कोई बात नहीं कि एक अल्पज्ञ द्वारा रचे हुये और उन्हीं द्वारा रक्षित हुये शास्त्रों में कोई पूर्वापर विरोध आवे ही नहीं ! शोध करने से ऐसे विरोधों के कारण भी हमको प्राप्त होसकते हैं। इसही सम्बन्ध मेंयिद हम किसी यथार्थ धर्म ग्रंथ के आधार पर विचार

करें तो इस विरोध की उत्पत्ति का कारण भी हमारी समझ में आ सकता है।

बिलकुल सच्चाशास्त्र वही हो सकता है जो एक सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित हुआ हो। और हम ऊपरही एक विद्वान् लेखक के शब्दों में देख चुके हैं कि इस काल के सर्व अन्तिम सर्वज्ञ परमात्मा जैन धर्म में स्वीकृत और वेदों में भी उल्लिखित भगवान् महावीर थे। यह आज से क़रीब ढाई हज़ार वर्ष पहिले इस ही पवित्र भारत भूमि पर हो गुज़रे हैं। इनकी सर्वज्ञता का प्रमाण जैन धर्म के सिद्धान्त तथा पूर्वापर विरोध रहित शास्त्रः तो हैं ही परन्तु स्वयं म० बुद्ध ने भी जो इनके समकालीन थे इनकी सर्वज्ञता को रुचिकर शब्दों में स्वीकार किया था।* (देखो इनसाइक्लोपेडिया ऑफ रिलीजन एन्डईथिक्स भाग २ पृ० ७०) ऐसी दशा में हमें इन परमात्मा महावीर द्वारा बताये सिद्धान्त-विवरण से अपनी उक्त शंका को निवारण करलेना चाहिये। जिन ऋषि के निकट से हम प्रारम्भ में ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा कर चुके हैं वह भी इस ही वैज्ञानिक मतका मंथन कर चुके हैं-तब ही वह हमको वैज्ञानिक ढंग से विचार करने के लिये शिक्षा दे चुके हैं। अस्तु।

जैन धर्म के अनुसार जब हम एक परमात्मा पर आशा भरोसा रखने के सिद्धान्त पर विचार करते हैं तो एक दृष्टिसे कह सकते हैं कि परमात्मा संसारी जीवों को सुख दुःख देने वाला है। "बात यह है कि परमात्मा की पूजा करने, परमात्मा

---

* प्रसिद्ध बौद्धग्रन्थ न्यायबिन्दु के कर्ता भी वर्द्धमान महावीर स्वामी को सर्वज्ञ बतलाते हैं। यथाः—"सर्वज्ञ आप्तो वा संज्योतिर्ज्ञानादिक मुपदिष्टवान्। यथाः-ऋषभ वर्द्धमानादिरिति अ० ३।"

के गुणों का स्मरण करने आदि से संसारीजीव के अच्छे कर्मों का वन्ध होता है और वे अच्छे कर्म उदय में आकर संसारी जीव को अच्छा फल अर्थात् सुख देते हैं। इसके विपरीत परमात्मा की अविनय करने, उसको बुरा कहने से संसारी जीव के बुरे कर्मों का बंध होता है और वे बुरे कर्म उदय में आकर संसारी जीवको बुरा फल अर्थात् दुःख देते हैं। अव यद्यपि संसारी जीव को अच्छा बुरा फल तो वास्तव में उसके बाँधे हुये अच्छे बुरे कर्म देते हैं, परन्तु चूँकि वे अच्छे बुरे कर्म परमात्मा को अच्छा बुरा कहने के कारण वंधे थे, इस लिये व्यवहार रूप से परमात्मा सुख दुख का देने वाला कहला भी सक्ता है। परन्तु यथार्थ में परमात्मा खुद यह ख़याल करके कि अमुक व्यक्ति ने मेरी अविनय की अथवा अमुक ने मेरी विनय की, किसी को सुख दुख नहीं देता है। सुखदुख स्वयं द्रव्यकर्म देता है। परमात्मा वीतराग है वह निश्चय में न किसी को सुख देता है न दुःख। केवल निमित्त कारण के रूप में व्यवहार से परमात्मा को सुख दुःख देने वाला कह सकते हैं। और इसी तरह एक खास अर्थ में परमात्मा संसार का कारण, संसार को उत्पन्न तथा नाश करने वाला भी कहला सकता है। और वह इस तरह है कि वोलचाल का यह नियम है कि जब किसी वस्तु के कारण कई हों तो उन कई कारणों में से जो सब से बड़ा और आवश्यक कारण हो उसको ही उस वस्तु का कारण कह देते हैं। और चूँकि छः द्रव्यों में से कि जिनसे कुल जगत बना हुआ है आत्मा अत्यन्त उच्च और आवश्यक है। इसलिये आत्मा को जगत का कारण कह सकते हैं। और आत्मा व परमात्मा असली स्वभाव की अपेक्षा एक है। अतएव इस दृष्टि से परमात्मा को भी जगत का कारण कह सकते हैं। वास्तव में संसार क्या वस्तु

है ? आत्मा जो भावकर्म व द्रव्य कर्म के कारण विभिन्न दशाओं में परावर्तन करता है अर्थात् कभी किसी योनि में जन्म लेता है कभी किसी में। कभी वनस्पति होता है, कभी पशुओं में जन्म लेता है, कभी मनुष्य शरीर को ग्रहण करता है, कभी स्वर्ग में देव हो जाता है। इसी का नाम संसार है। और आत्मा खुद ही अपने विविध अच्छे बुरे भावों, शब्दों और आचरणों के द्वारा इस विभिन्न प्रकार के संसार को बनाता है और खुद ही जब कर्मों का नाश करके अपने आप में तन्मय होकर अपने शुद्धस्वरूप को प्राप्त करता है तो संसार का नाश कर देता है। इस तरह यह आत्मा ही संसारको बनाता व नाश करता है परन्तु चूंकि आत्मा व परमात्मा शक्ति अथवा असली स्वभाव की अपेक्षा एक है। इस दृष्टि से कहा जा सकता कि परमात्मा संसार को बनाता है और नाश करता है। और असलियत में जिस किसी पुराने ऋषि व आचार्य ने परमात्मा को संसार का कारण, संसार को उत्पन्न व नाश करनेवाला कहा है वह इस ही अर्थ में कहा है वरन् निश्चय में बिलकुल ही परमात्मा संसार का कारण, संसार का उत्पन्न व नाश करनेवाला, सांसारिक जीवों को सुखदुख देनेवाला नहीं हो सकता।[1] और द्रव्य में अनेक गुण होते हैं—इसलिये एक समय में एक ही दृष्टि से उसका विवेचन किया जाता है। सो इस प्रकार पहिली शङ्का का निराकरण हो जाता है। दूसरी शंका के विषय में कि विविध धर्मों में बहु-परमात्मा माने गये हैं या नहीं हम उपर्युल्लिखित विद्वान् लेखक का ही वक्तव्य उद्धृत करेंगे। आप लिखते हैं कि "बहु ईश्वर-वाद की ओर दृष्टिपात करने से यह प्रकट है कि हिन्दू धर्म अनुमानतः अपने सर्वरूपों में

---

[1] वीर वर्ष ३ अङ्क १

आत्मा का परमात्मा होना मानता है। और विचार एवं विश्वास दोनों की अपेक्षा नितांत वहु ईश्वरवादी है। अस्तु उसका विशेष विवेचन करनेकी आवश्यकता नहीं है। अवशेष धर्म्मों के विषय में अल्लाह जो इस्लाम के मतानुसार ईश्वर का नाम है, और जो यथार्थ में अल-इलाह है वास्तव में वहु वाद का भाव है। इस शब्द का भाव महाग्रर्थ (इन्सायल्कोपेडिंया आफ रिलीजंन एएड ईथिक्स भाग १० पृष्ठ २४८) में निम्न प्रकार दिया है :--

शब्द इलाह (जो इन्जील की किताव अथूव में व्यवहृत इलीआह (Bloah) के समान है)..........के रूप से यह प्रकट होता है कि वह प्रारम्भ में और वास्तविक तथा प्राचीन यहूदियों की भाषा में इल (इब्रानी एल=Bl) का वहुवचन था। ....इंजील का एेलोहिम स्वयं इलाह का वहुवचन है जिसका पता अर्वी भाषा की स्वरवृत्ति इल्लाहुम्मा में चलता है जिसके समझाने में अर्वी वेत्ताओं को विशेष कठिनाई पड़ती है।

"शब्द गोड (God) का शब्दार्थ पूर्ण रूपसे प्रकट नहीं है। परन्तु इम्पीरियल डिक्सनरी (Imperial Dicton ary) के अनुसार प्राचीन नोर्स वा आइसलेएड की भाषा में जो स्केएडीनेवया की भाषाओंमें सर्व प्राचीन भाषा है, यह शब्द मूर्तिपूजकों के ईश्वर के लिये व्यवहृत होता था (जो नपंसुक लिंग और संभवतः वहुवचन में व्यवहृत था) और अन्त में ईश्वर के भाव में गुड (Gud) में परिवर्तित हो गया परन्तु यदि उस शब्द के निकास का पता ठीक नहीं चलता है तो न सही, स्वयं इंजील परमात्माओं के वहुसंख्यक

होने में कोई संशय अवशेष नहीं छोड़ती है। पुराने अहदनामे की सर्वप्रथम पुस्तक में परमात्मा का उल्लेख बहुवचन में आया है:-

'देखो! मनुष्य हममें से एक के सदृश हो गया है।'

पैदायश की किताब ३।२२)

"इस वक्तव्य के नीचे जो लकीर खींची हुई है वह अवश्य मेरी है परन्तु शब्द मेरे नहीं हैं। बमुजिब किताब पैदायश (अ० ३ आ० ५) सर्प ने हज़रत हव्वा को इन शब्दों द्वारा बहकाया कि 'तुम परमात्माओं के सदृश हो जाओगे।' जबूर ८२ छट्टी आयत में यह कहा गया है कि मैंने तो कहा है तुम परमात्मा हो। और तुम सब परमोत्कृष्ट के पुत्र हो।' यहुन्ना के दसवें बाबकी ३४-३६ वीं आयतोंमें ईसा ने उपर्युक्त शब्दों के सम्बन्ध में कहा है:

'क्या तुम्हारी शरा (धर्म) में यह नहीं आया है कि मैंने कहा कि तुम परमात्मा हो। जब कि उसने उन्हें परमात्मा कहा जिनके पास परमात्मा की वाणी आई और पवित्र ग्रन्थ का उल्लंघन होना सम्भव नहीं, तुम उससे जिस को पिता ने विशुद्ध करके संसार में भेजा है-यह कहते हो कि तू असत्य बकता है, क्योंकि उसने कहा-कि मैं परमात्मा का पुत्र हूं।'

"किताब खुरुजं के बाब २२ आयत २८ में परमात्माओं का तिरस्कार करना मना है। वहां कहा है-'तू परमात्माओं को गाली नहीं देगा। और न अपनी जाति के सरदार को अभिशाप देगा।' यह एक विख्यात बात है कि प्राचीन यहूदियों के यहां मनुष्यों के रूप के देवता जो तेरफ (Teraph) कहलाते थे, होते थे, जिनका उल्लेख Imperial Dictionarg में इस प्रकार किया गया है -:

'तैरफ-एक गृहस्थी का देवता वा मूर्ति जिसकी यहूदी लोग विनय करते थे,था। तैरफ,ज्ञातहोता है कि पूर्णतया अथवा अंशतः मनुष्य के रूप के होते थे। उनकी विनय एवं उपासना गृहस्थी के देवताओं के रूप में की जाती थी। प्राचीन अहदनामे में उनका कितनेक वार उल्लेख आया है।'

"याकूब सम्बन्धी लावनके पासभी ऐसे देवताओंकी मूर्तियां थीं, जिनको कि याकूब की स्त्री राखलु ने चुरालिया। (पैदायश की किताब ३१।१६) उसके पश्चात यहोवाह लावन के पास स्वप्न में आया (आ० २४) लावन ने दूसरे दिन याकूब से पूछा, किस वास्ते तू मेरे देवताओं को चुरालाया है।' (आ० ३०) होसिया नबी की किताब में (बाब ३आ०४) कहागया है:-

'क्योंकि इसरायल के लोग बहुत दिन तक विना राजा और विना सरदार और विना बलिदान और विना मूर्ति और विना इफोद और विना तैरेफिम के रहेंगे।'

परन्तु यदि प्राचीन अहदनामे की किताबों में परमात्माओं का वर्णन बहुवाद में एक साधारण रीति में है तो इंजील के नवीन अहदनामे की अन्तिम किताब मुकाशफा नामक में तो स्वयं तीर्थंकरों का उल्लेख है और उनकी संख्या भी २४ ही दी गई है। मुकाशफे के चतुर्थ पञ्चम और षष्टम् अध्याय इस विषय से सम्बन्ध रखते हैं।*"-(असहमत संगम पृष्ठ३६८-४०१)

अगाड़ी चलकर मान्य लेखक ने अवशेष धर्मों में बहु परमात्मवाद की सिद्धि करते हुए लिखा है कि "पारसियों के

* इस विषय का पूर्णोल्लेख असहमत संगम में देखना चाहिये।

धर्म में भी अहूरामज़्दा का विचार बहुवचन के भाव में है। होग (Houg) साहब अहूराव न हो (Ahuraonho) शब्द के सम्बन्ध में बताते हैं:-

इस से……हम प्रत्यक्ष रूप में देख सकते हैं कि अहूरा कोई पद ईश्वर का नहीं है। सुतरां मनुष्य के लिये भी वह व्यवहृत होता है।'

"यासना २८ आयत ६ में कहा है:-

'ऐ अहूरा, इन नियामहों के साथ हम तुम्हारे रोष को कभी न भड़काएं। ओ मज़्दा और सत्य और उच्च विचार ……तुम वह हो जो इच्छाओं के पूर्ण करने और शुभ फलों के देने में सब से बलवान हो।'

—(अर्ली ज़ोरोअसट्र येनइज्म पृष्ठ ३४६)।

"यही विचार यासना ५१ आयत २५ में भी पाया जाता है, जो निम्न प्रकार है:-

'तुम अपने शुभफल हमको दोगे, तुम सब जो कि इच्छा में एक हो, जिनके साथ अच्छा विचार धर्माचरण व मजदा एक हैं, प्रण के अनुसार सहायता करते हो जब तुम्हारी उपासना विनय के साथ की जाय।'

"पारसी मत की यह भी शिक्षा है कि उसके पूर्व में भी सत्य धर्म्म विद्यमान थे जो उपासना के योग्य थे। यासना १६ आयत ३ में आया है (से० बु०ई० भाग ३१ पृष्ठ २५५-२५६) 'और हम संसार के पूर्व धर्मों की पूजा करते हैं जो सत्य की शिक्षा देते हैं।'

..जो और भी विस्मयपूर्ण बात है वह यह है कि अहूराओं की संख्या ठीक २ २४ * बताई गई है। (अर्ली जोरो अस्ट्रियन इज़्म पृष्ठ ४०२) बौद्ध धर्म्म की ओर दृष्टि डालने पर बौद्धों की संख्या भी २४ ही पाई जाती है। बेबेलोनिया के काउन्सिलर देवताओं (Counsellr Gods) की संख्या भी हमे रावर्टसन साहब की मनोरञ्जक पुस्तक पैगेन क्रिायस्टस (Pagan Chrishs) नामक (पृष्ठ १७६) से ज्ञात होती है, २४ थी।" (असहमतसंगम ४१२-४१४) इस प्रकार हमें सर्व ही विख्यात् मतों में परमात्मा की संख्या एक से अधिक में मिलती है। बल्कि नवजात फिर्क़ों को छोड़कर प्राचीन मतों में तो ठीक २४ के ही मिलती है ; जैसेकि जैनधर्म में माने हुये तीर्थंकरों की संख्या भी उतनी ही है। इसलिये हमारे उपास्यदेव यह तीर्थंकर ही हैं, जिनमें पूर्वोक्त के वह सब गुण विद्यमान हैं जो एक सच्चे आप्त में होना चाहिये। यद्यपि यथार्थ में आत्मा के लिये वास्तविक ईश्वर स्वयं जीवन ही है अर्थात् स्वयं आत्मद्रव्य ही है क्योंकि उसके परमात्मापन का उपादान कारण वही है। हिन्दूधर्म में माने हुए ब्रह्मा, विष्णु और शिव का यथार्थ गुप्त भाव भी हमें यही

---

*तुलना के लिये निम्नलेख ध्यान देने योग्य है:-

"तू (ओ मनुष्य !) वहां ववता पर पहुँच...मजदा के बनाये हुए मार्गों पर चलकर। उन मार्गों पर चलकर जिनको परमात्माओं ने बताया है। जल के उस मार्ग पर जिसको उन्होंने खोला है।" —(वेन्डीदाद २१।३६ ; से० बु० ई० भाग ४ पृष्ठ २२७) यह बात मन को प्रसन्न करनेवाली है कि शब्द तीर्थङ्कर का शब्दार्थ समुद्र (यहां संसार-सागर=आवागमन) के पार पायाब रास्ता बनानेवाला है।-अ० सं० पृ० ४१३

शिक्षा देता है। उसका मनोरंजक विवेच-   चन के भाव में है।
ऐय्यर साहब इस प्रकार करते हैं:-   huraonho)

"ब्रह्मा की सृष्टिका अर्थ...वास्तव में सर्व सां
इच्छाओं का नष्ट करना है, जिससे हृदय में भक्ति के
उत्पन्न होते हैं। विष्णु ब्रह्मा द्वारा सृष्टि की हुई बुद्धि की रक्षा
करता है, और किसी अनर्गल वस्तु की रक्षा नहीं करता। ह
शिव आत्मा की संसारिक इच्छाओं के नष्ट करने से ब्रह्मा की
सृष्टिका मुख्य कारण है। और अन्त में वह भक्ति और पुण्य
के फल के नाश करदेने से मुक्ति का कारण होता है। ब्रह्मा
और विष्णु और शिव......मनुष्य को मोक्ष दिलाने के हेतु
सर्व धार्मिक आवश्यकताओं का अन्त कर देते हैं।"

—(दि पर्मानेंट हिष्ट्री ऑफ भारतवर्ष जिल्द ६। २९५)

इसी विषय का स्पष्टतः दिग्दर्शन करने के लिये आधुनिक
विद्वान् मि० चम्पतराय के निम्न शब्द द्रष्टव्य हैं:-

"हिन्दू धर्म में भी सृष्टिकर्त्ता के रूप में परमात्मा का वि-
चार सृष्टिके रचने वाले ब्रह्मा के वास्तविक कर्तव्य का भद्दा
भाव है। वास्तव में स्वयं जीवनसत्ता यथार्थ कर्त्ता है। कारण
कि प्रत्येक आत्मा अपने शरीर एवं अवस्थाओं का रचने वाला
है। परन्तु सामान्यभाव की अपेक्षा जीवन केवल आत्म द्रव्य
का ही स्वरूप है। ब्रह्मा जीवनसत्ता का रूप कभी नहीं है सु-
तरां उस बुद्धि का रूपक है जिसको जीवनसत्ता का ज्ञान हो
गया है। अस्तु; ब्रह्मा की सृष्टि आत्मिक विचारों की सृष्टि है
जिससे वह मनको आबाद करता है।......यह वह सृष्टि है
जिसको विष्णु (= धर्म) रक्षा करता है"

(असहमत सङ्गम पृ० ४१०)

इस प्रकार भी आत्मा के लिये स्वयं उपासना योग्य उस ही का यथार्थ रूप-आत्म द्रव्य है। वह ही अपनी उपासना करके और अपने आप में विलकुल मग्न हो कर परामत्मपद को प्राप्त कर लेता है। अन्य कोई वाह्य वस्तु उसको इस परम पद को प्राप्ति में सहायक नहीं है। इस ही वात को परम पूज्य श्री पूज्यपाद स्वामी निम्न प्रकार स्पष्ट करते हैं :—

"यः परमात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदितिस्थितिः॥"

भावार्थ—जो परमात्मा है सो ही मैं हूँ, जो मैं हूँ सो ही परमात्मा है; मेरे और परमात्मा के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं है। इस लिए मेरे द्वारा मैं ही अर्थात् आत्मा द्वारा आत्मा ही उपासना के योग्य हूं, अन्य नहीं ऐसी वस्तु को मर्यादा है। परन्तु यह दशा उस ही आत्मा के लिये उपयुक्त है जो आत्मानुभव के अमृतमयी मार्ग में वहुत घुस गया हो। साधारण स्थिति में पड़ी हुई आत्मा के लिये तो यह ज़रूरी होगा कि वह ऐसे महान् पुरुप के चरण चिन्हों पर चले और उसको शिक्षा को ग्रहण करे जिसने स्वयं अपने पुरुषार्थ से परमात्मपद को प्राप्त किया हो। ऐसा वाह्य पथ प्रदर्शक अथवा ईश्वर तीर्थङ्कर ही हैं, यह हम देख चुके हैं। इसलिए ऐसे ही आप्त की उपासना उस समय तक करना परमावश्यक है जबतक आत्मा आत्मानुभव की उच्च अवस्था को प्राप्त न करले।

सारांशतः हम देखते हैं कि हमारे लिये उपास्यदेव वास्तव मेंतो आत्मद्रव्य ही है क्योंकि परमात्मपद और अमरत्व

आनन्द आदि गुण आत्माके ही हैं और वह आत्मा में ही है। आत्मा के बाहर कहीं नहीं हैं। इसलिए उन्हें बाहर से कोई भी शक्ति उसको प्रदान नहीं कर सकती! परन्तु सांसारिक विषयवासना में फँसी हुई एक आत्माके लिये यह एकदम सुगम नहीं है कि वह अपने आप में स्थित परमात्मा के दर्शन करले और उसकी उपासना में ही निमग्न हो जावे। इसलिये प्रारम्भ में उसके लिये यह आवश्यक है कि वह उन वास्तविक परमात्मा अथवा तीर्थंकर जो हमारे लिए पूर्णता के आदर्श हैं, उनके चरणकमलों का अनुसरण करें और उन में ही अपनी भक्ति का एकाग्रता पूर्वक समावेश करदें। मानुषिक विचारावतरण से उत्पन्न किसी भी काल्पनिक देवता में अपनी श्रद्धा न लावें। हमारे लिये उपासनीय आप्त वही हैं :—

सांचो देव सोई जामें दोष को न लेश कोई,
वही गुरु जाके उर काहू की न चाह है।
सही धर्म वही जहां करुण प्रधान कही,
ग्रन्थ जहां आदि अन्त एकसो निवाह है।
यही जग रत्न चार इनको परख यार,
साचें लेउ झूठे डार, नर भौ को लाह है।
मानुष विवेक बिना पशु के समान गिना,
तातैं यह ठीक बात पारनी सलाह है"
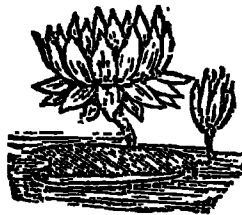
(४)

उपासना ।

"मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ।"

—श्री भर्तृहरि ।

व स्तुतः पूर्व विवेचित विचारों का निष्कर्ष इस उक्त वाक्य में गर्भित है । यह पूर्णतः स्पष्ट है कि सुख दुःख का अनुभव स्वयं हमारे आधीन है । वाहिर कहीं से भी कोई हमें सुखी दुखी नहीं वना सकता । ऐसी अवस्था में हमें अपने आदर्श आप्त को उपासना किसी अर्थ सिद्धि के लिये करना आवश्यक नहीं है । जिस सुख, जिस इच्छा और जिस कार्य की सिद्धि के लिये हम दूसरे से प्रार्थना करें वह तो स्वयं हमको हमारे भावों के प्रवल प्रभाव से प्राप्त हो सकता है । जिस बात की हम वाञ्छा करते हैं वह तो स्वयं हमारे ही पुरुषार्थ पर अवलम्बित है । यदि हम दुःख से छूटना चाहते हैं तो हमारे लिये आवश्यक है कि हम अपने भावों को शुभ परिणति में लगावें । अपने ही परम सुख रूप स्वरूप में आनन्द मग्न होना सीखें । इस आत्मानुभव के परमोच्च मार्ग का अनुसरण करने के लिए प्रयत्न करने से हमें सर्वतोभद्र मोक्ष-सुख की भी प्राप्ति हो सकती है । लौकिक कार्य की सिद्धि होना तो मामूली वात है । इस पुण्यमयी परिणति का परिणाम ही सुखरूप है और नियम रूप से अवश्य ही प्राप्त होता है । ऐसी अवस्था में किसी मुख्य कार्य की

सिद्धि की वाञ्छा करके किसी की उपासना करना अथवा शुभ परिणति की ओर अग्रसर होना निरर्थक है। क्योंकि कोई देव अथवा आप्त हमारी वाञ्छाको पूर्ति नहीं कर सकता है। वह तो इच्छा वांछा, राग-विराग, द्वेष मत्सर, सर्व ही सांसारिक कमजोरियों के पार पहुंच चुका है। वह तो पूर्ण सच्चिदानन्द और कृतकृत्य हो चुका है। उसे न किसी से प्रेम रहा है और न किसी से द्वेष। इसलिये न वह किसी की इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है और न स्वयं विकाररूप हो सकता है। भारत के प्राचीन ऋषि कपिल भी इसही बात की पुष्टि करते हैं। वह लिखते हैं :—

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणातत्सिद्धेः”

(सांख्यदर्शन अ० ५ सूत्र २)

अर्थात्-ईश्वर के द्वारा फल नहीं मिलता है क्यों कि कर्मों से वह फल देने का कार्य हो जाता है फिर भी यदि अपने अर्थ के निमित्त हो उपासना की जाय तो वह नितान्त मूढ़ता ही कही जायगी! शुभ परिणति में अपनी प्रवृत्ति को इस ही नियत से सञ्चित करना भी मूर्खता भरा कार्य होगा; क्योंकि यह प्रत्यक्ष है कि शुभ कर्मों का, सद्प्रयत्नों का फल स्वभावतः सुखरूप मिल ही जाता है। जगत में भी प्रसिद्ध है कि जो जैसा बोता है वह वैसा फल भोगता है। अतएव इस विवरण से हमें यह परिणाम प्राप्त होता है कि प्रत्येक आत्मा का सुख दुख उसी के हाथ में है। वह अपने ही शुभ कर्मों द्वारा शाश्वत सुख को भी प्राप्त कर सकता है। उसके अच्छे बुरे कर्मोंका फल स्वयं नियमित रूपसे मिल जाता है। उसे किसी भी कार्य की सिद्धि के लिये किसी से वाञ्छा करने, प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं।

इस प्राकृतिक नियम को लक्ष्य कर आप शायद कहें कि फिर हमें इस बातकी ही क्या आवश्यकता है कि हम किसी की उपासना करें। हमारे कर्मों का फल हमें स्वयं मिल जायगा। बात बिलकुल यथार्थ है। सोलह आने ठीक है। कर्मों का फल तो हमें प्राकृतिक रूप में हमारी इच्छा किए बिना ही मिलता है। परन्तु यहां पर भाव आत्मा को सत्मार्ग की ओर लगाने का है। इस लिए ज़रा गम्भीर विचार से हम इस विषय की यथार्थता को पालेते हैं। प्रत्यक्षतः प्रगट है कि मनुष्यप्रकृति कुछ आधुनिक संस्कारवश अथवा अन्यथा कुछ ऐसी चंचल और विकृत हो रही है कि उसके लिये यह एक दम नितान्त कठिन है कि वह अपनी उस सांसारिक परिणति से मुखमोड़ कर शुभ-प्रवृति-रूप मार्ग में प्रवृत्त होजाय! जहां जीवन का उद्देश्य सांसारिक भोगोपभोग के अर्थ ही सब कुछ हो, विषय-वासनाओं की पूर्ति करना ही अभीष्ट हो वहां यह सहसा कैसे संभवित है कि मनुष्य अपनी वासनामय प्रवृत्ति का एकदम त्याग करदे और परमोच्च त्यागमार्ग का अनुसरण करने लगे! ऐसे मनीषी विरले ही इस संसारमें देखने को मिलते हैं। सर्व-साधारण मनुष्यों के लिये तो क्रमशः किसी आधार द्वारा ही सन्मार्ग पर आना संभवित है। एक अफीम के अभ्यासी के लिये यह बिलकुल ही असंभव है कि वह एक दम अपने उस मादक अभ्यास का परित्याग करदे। यदि उसे इस बात का विश्वास भी होजावे कि वस्तुतः इस अफीम से मेरा स्वास्थ्य बिलकुल नष्ट होरहा है इसका त्याग कर देनेसे ही मेरा जीवित रहना संभाव्य है; परन्तु तो भी वह अपने उस अभ्यास को पूर्णतः नहीं छोड़ सकेगा। हां; उस विश्वास की उत्पत्ति के साथ ही वह उस मादक अभ्यास के त्यागने का प्रयत्न करते

लगेगा। अफीम के स्थान पर उसीके सदृश किसी ऐसी वस्तु का सेवन वह करने लगेगा जो मादक तो नहीं होगी परन्तु अफीम की पूर्ति कर देगी। अन्ततः इस अभ्यास के अनुसरण से वह एक दिन अवश्य ही अपना पीछा उस मादक अभ्यास से छुड़ा लेगा। यही दशा संसार के जीवों की हो रही है। वह मोह रूपी नशे में किस प्रकार मस्त हो रहा है यह हम इस पुस्तक के प्रारंभ में ही देख चुके हैं। यही कारण है कि हम यह जानते हुये भी कि सांसारिक विषय-सुखों में अन्ततः दुःख ही भुगतना पड़ता है कभी भी उनका परित्याग करने को उद्यमी नहीं होते! ऐसे गाढ़ विषय अनुराग से मोह बुद्धि हटाने के लिये ऐसे साधनों का ही अवलम्बन हमें लेना होगा जो स्वयं रागरूप होंगे और हमें शुभ परिणति की ओर बढ़ानेवाले होंगे। ऐसे अवलम्बन को लक्ष्य कर हमें बतलाया गया है कि:—

सोऽहमित्यात्त संस्कारस्तस्मिन भावनयापुनः।
तत्रैवदृढ़संस्कारल्लभतेह्यात्मनः स्थितिम्॥

(समाधितंत्र)

अर्थात्—परमात्मस्वरूप की भावना ही आत्मस्वरूप की उपलब्धि तथा स्थिति का कारण है। परमात्मा का भजन और स्तवन ही हमारे लिये अपने आत्मा का अनुभव है। आत्मोन्नति में अग्रसर होनेके लिये परमात्मा ही हमारा आदर्श है। आत्मीय गुणों की प्राप्ति के लिये हम उसी आदर्श को अपने सन्मुख रख कर अपने चरित्र का गठन कर सक्ते हैं। अपने आदर्श पुरुष के गुणों में भक्ति तथा अनुराग का होना स्वभाविक और जरूरी है। विना अनुराग के किसी भी गुण की प्राप्ति नहीं हो सकती। उदाहरण के लिये, यदि कोई मनुष्य संस्कृत भाषा का विद्वान्

होना चाहे तो उसके लिये यह ज़रूरी है कि वह संस्कृत भाषा के विद्वानों का संसर्ग करे, उनसे प्रेम रक्खे, और उनकी सेवा में रहकर कुछ सीखें, संस्कृत की पुस्तकों का प्रेमपूर्वक संग्रह करे और उनके अध्ययन में चित्त लगाये। यह नहीं हो सकता कि संस्कृत के विद्वानों से तो घृणा करे, उनकी शकल तक भी देखना न चाहे। उन से कोसों दूर भागे, संस्कृत की पुस्तकों को छुये तक नहीं, न संस्कृत का कोई शब्द कानों में पड़ने दे और फिर संस्कृत का विद्वान् बन जाय। इस लिये प्रत्येक गुण की प्राप्ति के लिये उसमें सब ओर से अनुराग की बड़ी ज़रूरत है। जो मनुष्य जिस गुण का आदर सत्कार करता है अथवा जिस गुण से प्रेम रखता है वह उस गुणके गुणी का भी अवश्य आदर सत्कार करता है। क्यों कि गुणी के आश्रय बिना कहीं भी गुण नहीं होता। आदर सत्कार रूप इस प्रवृत्ति का नाम ही पूजा और उपासना है। इस लिये परमात्मा * इन्हीं समस्त कारणों से हमारा परमपूज्य और उपास्य देव है।" +

हम सांसारिक विषय वासनाओं में फँसे मनुष्य बिना अपने अनुराग को अपने आदर्श के प्रति केन्द्रीभूत किये किस तरह शुभ प्रवृत्ति रूप आत्मानुभव को प्राप्त कर सकते हैं। जितना ही गाढ़ अनुराग हमारा इस समय सांसारिक विषय प्रलोभनों के प्रति होरहा है उतनाही उत्कट प्रेम जब हम अपने उपास्यदेव

---

* इन्हीं कारणों से अन्यवीतरागी साधु और महात्मा भी, जिनमें आत्मा की कुछ शक्तियां विकसित हुई हैं और जिन्होंने अपने उपदेश, आचरण तथा शास्त्रनिर्माण से हमारा उपकार किया है वे सब, हमारे पूज्य हैं।

-(उपासनातत्व)

+ उपासना तत्व पृष्ठ १०-११

के प्रति करेंगे तब ही हम आत्मनुभव को प्राप्त कर पायेंगे। और फिर हमारी प्रवृत्ति इस रूप होजायगी कि हमें इस अवलम्बन की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। वही परमात्मगुण जो हमारे आदर्श में हैं हम में प्रगट होने लगेंगे। हम शरीर और आत्मा को विभिन्न समझ कर 'भेद विज्ञान' को प्राप्त करलेंगे। तब 'अन्तरात्म' को प्राप्त कर आत्मानुभव का रसास्वादन करने लगेंगे : जिस से अन्ततः हम स्वयं अपने आदर्शरूप परमात्मा हो जांयगे। वस्तुतः हमारी इस उपासना का मुख्य उद्देश्य यही है। मुण्डक उपनिषद् (खं० २ मं० ८) में भी लिखा है:-

"भिद्यन्ते हृदयग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्वे संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ २ ॥"

अर्थात्—अन्तरात्मा का सच्चा दर्शन हो जाने पर हृदय की समस्त गांठे कट जाती हैं; सारे सन्देह दूर हो जाते हैं और इसके सभी कर्म क्षय होजाते हैं। वह परम पवित्र परमात्मा हो जाता है।

यथार्थ में भेद विज्ञान को प्राप्त हुआ अन्तरात्मा अपने यथार्थ स्वरूप का जानकार हो जाता है। फिर उसके निकट विषय प्रलोभनों की प्राप्ति कितनी ही सुगम क्यों न हो परन्तु वह उस ओर ख्याल ही नहीं देता वह अपनी आत्मोन्नति में ही लीन रहता है। जिसके फलस्वरूप परमात्मा हो ही जाता है। जैनाचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी यही कहते हैं:-

"उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमो ऽथवा।
मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः ॥"

भावार्थ—यह आत्मा अपने आत्मा की ही उपासना करने से उसी तरह परमात्मा हो जाता है जिस तरह वृक्ष आप अपने को मन्थन करके स्वयं अग्निरूप हो जाता है।

"भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्त्तिर्दीप यथोपास्य भिन्नोभवति तादृशी॥"

भावार्थ—यह आत्मा अपने से भिन्न जो परमात्मा उनका अभ्यास करके वैसाही परमात्मा हो जाता है जैसे बत्ती दीपक की सेवा करने से वैसी ही दीपमय हो जाती है।

सारांशतः मनुष्य को परम सुख प्राप्त करने हेतु आवश्यक है कि वह तद्रूप अपने आदर्श के गुणों में अनुराग करे। उस की भक्ति, विनय, उपासना, पूजा सच्चे भावों से करे। उसके लिये यह सम्भव नहीं है कि वह आत्मानुभव की परमोच्च अवस्था को एकदम पहुंच जाय। इसही बात को लक्ष्यकर रामगीता में बतलाया है कि:—

"उत्तमो ब्रह्मसद्भाव ध्यानाभवस्तु मध्यमः।
अधमो जापपूजाश्च वाह्यपूजा धमाधमः॥"

सर्वोत्तम उपाना तो परब्रह्मरूप में लीन हो जाना ही है। तो भी ध्यान द्वारा उसका आराधन करना मध्यम रूप है। परन्तु पूजा जाप तो अधम ही है। और इससे अधम बाह्य पूजा है। यहां पर कथन मनुष्य की आत्मोन्नति को लक्ष्य कर ही किया गया है। सांसारिक बन्धनों में बंधे मनुष्य सहसा उच्चतम ध्येय को प्राप्त नहीं हो सकते। इसलिये उनके लिये

भावमय पूजादि कर्म ही आचरणीय हैं। जितनी ही उनकी भावना इस परमात्मोपासना में अधिक दृढ़ और विशुद्ध होगी सिद्धि भी उतनी ही निकट होती जायगी। बहुधा योगियों को उन मुख्य गुणों द्वारा भगवान का चिन्तवन करते देखा गया है जिनको वह स्वयं प्राप्त करना चाहते हैं। उनको अपनी प्रबल और विशुद्धता भावना शक्ति के बल उन गुणों की प्राप्ति हो जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि 'परमात्मा की उपासना मुख्यतया उनके गुणों की प्राप्ति के उद्देश्य से की जाती है, उसमें परमात्मा की कोई गरज़ नहीं होती। बल्कि वह अपनी ही गरज़ को लिये हुए होती है। और वह गरज़ 'आत्मलाभ' है, जिसे परमात्मा का आदर्श सामने रख कर प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो लोग उपासना के इस मुख्योद्देश्य को अपने लक्ष्य में नहीं रखते और न उपकार के स्मरण पर ही जिनकी दृष्टि होती है उनकी उपासना वास्तव में उपासना कहलाए जाने के योग्य नहीं हो सकती। ऐसी उपासना को बकरी के गले में लटकते हुए स्तनों से अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता। उसके द्वारा वर्षों क्या कोटि जन्म में भी उपासना के मूल उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती। परन्तु खेद है कि आजकल मनुष्यों में प्रवृत्ति इस अर्थहीन और उद्देश्य रहित उपासना की हो रही है। अधिकांश में लोगों को यही विश्वास है कि परमात्मा की उपासना करने से वह प्रसन्न होकर हमें सुखी, सम्पत्तिशाली और भाग्यवान् बना देगा। परन्तु ऐसे मिथ्या विश्वास से कभी भी इष्टसिद्धि नहीं हो सकती। न लोक में मानी हुई क्रियाओं के पालन से ही अपने प्रयोजन का लाभ हो सकता है और न इतर देवी देवताओं की भेंट पूजा करने से

उद्देश्य प्राप्ति हो सकती है। इन कार्यों की संज्ञा तो मूढ़ता में की गई है, यथा :—

"गंगादिक नदियों में न्हाये, होगा मुझको पुण्य महान।
ढेर किये पत्थर रेती के, हो जावेगा तत्वज्ञान॥
गिरि से गिरे शुद्ध होऊंगा, जले आग में पावनतर।
ऐसे मन में विचार रखना, लोक मूढ़ता है प्रियवर॥ २०॥
'दई देवता की पूजाकर, मन चाहे फल पाऊँगा।
मेरे होंगे सिद्ध मनोरथ, लाभ अनेक उठाऊंगा॥
ऐसी आशायें मन में रख, जो जन पूजा करता है।
राग द्वेष भरे देवों की, देव मूढ़ता धरता है॥ २१॥"*

वस्तुतः उद्देश्य को भुलाकर कोई भी उसको प्राप्त नहीं कर सका है। जिसे कलकत्ते व्यापार निमित्त जाना है वह ज़रूर ही अपने उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुये राज्यमार्ग को ग्रहण करेगा और उस पर चलकर अवश्य ही कलकत्ते पहुंच जायगा। तथापि वहां जिस व्यापार के निमित्त वह गया था उसकी प्राप्ति में परिश्रमी हो उसे पा लेगा। परन्तु यदि वही राज्यमार्ग पर न चले, इतर मार्गों में भटकता फिरे, तो मुश्किल से ही कलकत्ते पहुंच सकता है। यदि किसी तरह कलकत्ते भी पहुंच जाय तो वहां उस की मनमोहक सामिग्रियों में ही भटकता रहे तो अपने उद्देश्य को कदापि प्राप्त नहीं कर सकेगा। ठीक यही दशा संसारी यात्री की है। यह सुख रूप होना चाहता है, इसलिये आवश्यक है कि यह ऐसे पुरुष को अनुराग करे, सेवा करे, उपासना करे जिसमें वह

---

* कविवर पं० गिरधरशर्मा द्वारा पद्यबद्ध 'रत्न करण्ड श्रावकाचार' पृष्ठ ११

गुण विद्यमान हों । बस जितनी ही अधिकता, दृढ़ता और विशुद्धता के साथ वह उसकी उपासना करेगा अपने उद्देश्य को पालेगा । क्यों कि "यह आत्मा जिसभाव से परिणमन करता है उसी भाव से वह तन्मयी हो जाता है । श्री अर्हन्त भगवान के ध्यान में लगा हुआ स्वयं उस ध्यान के निमित्त से भाव में अर्हंत सशरीरी परमात्मा रूप हो जाता है । आत्म-ज्ञानी जिस भाव के द्वारा जिस स्वरूप अपने आत्मा को ध्याता है उसी भाव से वह उसी तरह तन्मयता प्राप्त कर लेता है । जिस तरह स्फटिक पत्थर में जैसी उपाधि लगती है उसी रूप वह परिणमन कर जाता है ।" * मुख्यता भावों की ही है । उपर्युक्त भावों के अभाव में आत्मा का उपयोग इष्ट-प्रयोजन की ओर लगता ही नहीं है । मधुर से मधुर पदार्थ भी यदि हमारे मुख में रक्खा रहे परन्तु यदि उस ओर हमारा ध्यान, हमारा उपयोग कार्यकारी नहीं हो तो उसका फल मधुर रसास्वाद हमें प्राप्त नहीं हो सकता । यही दशा उपासना की है । इसलिये आचार्यों ने पहिले ही कहदिया है कि :—

"भाव हीनस्य पूजादि तपो दान जपादिकम् ।
व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजां कण्ठे स्तनाविव ॥"

इस श्लोक से बिलकुल स्पष्ट है कि उपासना सम्बन्धी

---

* परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति ।
अर्हद्ध्यानाविष्टो भावार्हः स्यात्स्वयं तस्मात् ॥ १९० ॥
येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित् ।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥ १९१ ॥"

—श्री नागसेन मुनिकृत तत्वानुशासन

क्रियाओं में भाव की बड़ी जरूरत है। कुरानशरीफ में भी इसका महत्व स्वीकार किया है यथा :—

"Woe to those who pray, but in their prayer are careless who make a show of devotion, but refuse help to the needy." (C vii) वहां उपासना में अवज्ञा और दिखावट करने वालों को शाप दिया गया है। इसलिये उपासना सम्बन्धी क्रियाओं में 'भाव ही उनका जीवन और भाव ही उनका प्राण है, विना भाव के उन्हें निरर्थक और निष्फल समझना चाहिये। ऐसी प्राण रहित उपासना में यथेष्ठ फल की कुछ भी प्राप्ति नहीं होती।' श्री कुन्दकुन्दाचार्य जी ने अपने 'कल्याण मन्दिर' स्तोत्र में इस ही बात को स्पष्ट किया है :—

"आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जगवान्धव ! दुःखपात्रं,
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलंति न भावशून्याः ॥"

अर्थात्—'हे जगद्बान्धव जिनेन्द्र देव ! जन्म जन्मान्तरों में मैंने आपका चरित्र सुना है, पूजन किया है और दर्शन भी किया है, यह सब कुछ किया परन्तु भक्तिपूर्वक कभी आप को अपने हृदय में धारण नहीं किया। नतीजा जिसका यह हुआ कि मैं अबतक इस संसार में दुःखों का ही पात्र रहा, मुझे दुःखोंसे छुटकारा ही न मिला, क्योंकि भाव शून्य क्रियायें फलदायक नहीं होतीं।' इस तरह प्रकट है कि मनुष्य के लिये अपने उपकारी आदर्श देव में अनुराग रखना, परमात्म गुणों की प्राप्ति के लिये उसकी सेवा करना परमावश्यक है।

यहीं अनुराग भाव उपासना है। इसकी संलग्नता में बिलकुल विशुद्ध और आकुलता रहित हो जाना चाहिये। अपने आराध्य देव के प्रति पवित्र हृदय से इतनी दृढ़ भक्ति का श्रोत वह निकलना चाहिये जिससे स्वयं नियमरूप में जीवन-बाधायें नष्ट हो जावें और सुख की प्राप्ति होवे, क्योंकि परम उपास्य आदर्श रूप सच्चे परमात्मा-जिनेश को दृढ़ता के साथ भक्तिपूर्वक हृदय में धारण करने से प्राणियों के दृढ़ कर्म बन्धन इस प्रकार ढीले पड़ जाते हैं जिस प्रकार कि चन्दन के वृक्ष पर आने से सांप। 'अर्थात् मोर के पास से जैसे सर्प घबराते हैं वैसे ही जिनेन्द्र के हृदयस्थ होने पर कर्म कांपते हैं। क्योंकि जिनेन्द्र कर्मों का नाश करने वाले हैं। उन्होंने अपने आत्मा से कर्मों को निर्मूल कर दिया है। इसी आशय को आचार्य कुमुदचन्द्र ने निम्न लिखित पद्य में प्रकट किया है:—

"हृद्वर्तिनी त्वयि विभो शिथिली भवन्ति,
जन्तोः क्षणेन निविडा अपि कर्म बन्धाः।
सद्यो भुजङ्ग ममया इव मध्य भाग-
मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य ॥"
कल्याणमन्दिर *

वस्तुतः हृदय विशुद्धता और भावों की निर्मलता में परम शक्ति विद्यमान है। प्रत्येक प्राणी का जीवन उन ही के आधीन है। ऐसी अवस्था में शुद्ध हृदय से आकुलता रहित होकर ही बड़े चाव और भाव से पूजा, जप, तप आदि करना ही वास्तविक उपासना है। सेव्य और सेवक भाव का अस्तित्व यहां है

* उपासनातत्व पृ० ३

ही नहीं। आदर्शरूप सेव्य को हम अपने प्रयोजन हेतु ही उपास्य बना रहे हैं। यही यथार्थ सत्य है। स्वामी समन्तभद्र इस ही बात को निम्न पद्य में व्यक्त करते हैं।

"न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे,
न निन्दया नाथ विवान्त वैरे।
तथापि ते पुण्य गुणस्मृतिर्नः,
पुनातु चित्तं दुरिता जनेभ्यः॥
—बृहत्स्वयम्भुस्तोत्र।

अर्थात्—'हे भगवन्! पूजा भक्ति से आप का कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि आप वीतरागी हैं, राग का अंश भी आपके आत्मा में विद्यमान नहीं है जिस के कारण किसी की पूजा भक्ति से आप प्रसन्न होते। इसी तरह निन्दा से भी आपका कोई प्रयोजन नहीं है।। कोई कितना ही आपको बुरा कहे, गालियां दे, परन्तु उस पर आपको जरा भी क्षोभ नहीं आ-सकता, क्योंकि आपके आत्मा से वैरभाव, द्वेषांश बिलकुल निकल गया है। वह उसमें विद्यमान नहीं है, जिससे क्षोभ तथा अप्रसन्नतादि कार्यों का उद्भव हो सकता। ऐसी हालत में निन्दा और स्तुति दोनोंही आपके लिये तो समान हैं, उनसे आपका कुछ बनता या बिगड़ता नहीं है। तो भी आपके पुण्य गुणों के स्मरण से हमारा चित्त पापों से पवित्र होता है। हमारी पाप परिणति छूटती है। इसलिये हम भक्ति के साथ आपका गुणानुवाद गाते हैं, आपकी उपासना करते हैं।' *

इस प्रकार हम उपासना और उसके स्वरूप तथा उद्देश्य

* उपासनातत्व

का दिग्दर्शन कर चुके। अब हम शेष में विविध धर्मों में प्रच-
लित इसके भेदों का अनुशीलन करेंगे।

संसार में प्रचलित मतमतान्तरों पर जब हम गहन दृष्टि
डालते हैं तो पाते हैं कि उन सबमें उपासनाके छः रूप ही प्राप्त
हैं; जो निम्नप्रकार हैं:- (१) प्रार्थना (२) यज्ञबलिदान (३)
तीर्थयात्रा (४) ध्यान (५) विशुद्धता और (६) तप। इनपर
अलग २ विचार करने से हम इनके स्वरूप को पालेंगे।

प्रार्थना

इसके विषयमें पाठकोंको यह विदित ही है कि उसपर ऊपर
प्रकाश पड़चुका है। हम जानचुके हैं कि प्रार्थना यथार्थरूपमें हमें
स्वयं अपनी ही करनी चाहिये, परन्तु इस उच्च दृष्टि को हम
सहसा प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिये हमें प्रार्थना ऐसे
व्यक्ति को करनी चाहिये जो उन गुणरूप हो जिनको हम
प्राप्त करना चाहते हैं। यथार्थमें तो प्रार्थना का यही रहस्य है
परन्तु संसारमें यह श्रद्धा घरकियेहुये मिलतीहै कि किसी ईश्वर
वा देवता से दान एवं प्रसाद की याचना करना है। यह श्रद्धा
कितनी निर्मल है यह हमारे पूर्वकथन से अब पूर्णतः सिद्ध है।
एक आधुनिक फिलासफर महोदय इस ओर लिखते हैं कि
"यह प्रत्यक्ष है कि प्रकृति साम्राज्य में कहीं कोई प्रार्थना का
अलग विभाग नहीं हो सकता है। वर्तमान के यूरोपीय महा-
समर को हृदय भेदी घटनायें इस बात को पूर्णतया प्रमाणित
करती हैं कि क्षुधापीड़ित दुःखी एवं शोकातुर मनुष्य हृदयों के
आलाप विलाप का सुननेवाला कोई न था। प्रत्येक धर्म के
अनुयायियों ने जिनके धर्म में प्रार्थना विधान है वर्षों प्रत्येक
प्रार्थना याञ्चना की। हिंदू, मुसलमान, बौद्ध, ईसाई,
...ी आदि ने समर के अन्त होने के लिये अथवा कम से कम

दुःख एवं पीड़ा की घटती के लिये एक साथ प्रार्थना की, परन्तु सब फलहीन! आज भी हम इस समर से उत्पन्न त्रास-जनक फलों के कटु परिणामों को चख रहे हैं। वस्तुतः यदि यही परिणाम प्रार्थना का है, तो वह केवल एक प्रहसन मात्र ही है। परन्तु यथार्थता यह है कि प्रार्थना का वास्तविक भाव कभी ऐसा न था।"* यथार्थ में वह एक भावनाशक्ति है जिस के बल स्वतः ही कार्यसिद्धि होती है। क्योंकि परमात्मा के गुणों में अनुराग बढ़ाने और अपनी मनोवृत्ति को उनमें तन्मय करदेने से उनके चिन्तवन और स्मरण से भावों में शुद्धता आती है, जिस से शुभ भाव उत्पन्न होते हैं। तब इन शुभभावों की उत्पत्ति द्वारा पाप-परिणति छूटती और पुण्य परिणति का संचय होता है, जिसके परिणामस्वरूप हमारी पाप-प्रकृतियों का रस सूखता और पुण्य प्रकृतियों का रस बढ़ता है। और इस प्रकार पाप प्रकृतियों का रस सूखने तथा पुण्य प्रकृतियों के रस बढ़ने से हमारे अन्तराय कर्म नामकी प्रकृति जिसका कि उल्लेख हम पहिले कर चुके हैं और जो एक मूल पाप प्रकृति होनेके कारण हमारे दान, लाभ भोगोपभोग आदि में विघ्न स्वरूप रहा करती है, उन्हें होने नहीं देती। वह इस की प्रबलता में निर्बल पड़ जाती है और हमारे इष्ट को बाधा पहुंचाने में समर्थ नहीं रहती। यही कारण है कि हमारे बहुत से लौकिक कार्य भी प्रार्थना करने आदि से सिद्ध हो जाते हैं और उनकी सिद्धि का श्रेय हम उस प्रार्थना, उपासना अथवा भेंट को देते हैं। परन्तु यह हमारी भ्रम बुद्धि है। हमारा ही विश्वास और शुभ प्रवृत्ति उसमें कारणभूत है। प्रत्यक्षतः यह जीवन का एक साधारण नियम पाया जाता है कि उस पर

---

* असहमत संगम पृ० ४१५-४१६

हमारी निजी श्रद्धाओं एवं विचारों का प्रभाव पड़ता है। इसी कारण ईसू ने कहा है कि:—

"इसलिए मैं तुम से कहता हूं कि जो कुछ तुम प्रार्थनायें करते हो, विश्वास करो तुमको मिलगई और तुमको मिलेगा।

—(मरकुस ११।२४)

ऐसी अवस्था में प्रार्थना का मुख्य रहस्य यही निकलता है कि उसके द्वारा भी हम अपने अभ्यन्तरस्थित परमात्मा को प्राप्त करने के प्रयत्न करें। जिस परिणाम में हम इस अभ्यंतर परमात्मा का सहारा पकड़ेंगे उतने ही अधिक परिमाण में परमात्म-गुणों अर्थात् हमारे स्वाभाविक गुणों का विकाश हमारी आत्मा में होगा। इसलिये परमात्मस्वरूप तीर्थंकरों की प्रार्थना ही हमें केवल शुद्धभाव से, बिना किसी लौकिक प्रयोजन की सिद्धि का भाव रखते हुये करना चाहिये। सम्यक् श्रद्धान, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्रार्थना के लिये आवश्यक है। प्रार्थना के रहस्य मय परिणाम पर विश्वास होना जरूरी है। उसके स्वरूप का ज्ञान होना भी ज़रूरी है। और आचरण की शुद्धता भी उसमें मुख्य स्थान रखती है। इसही की पुष्टि इन्जील के निम्न वाक्य से होती है:—

"प्रभू पापात्माओं से दूर है। पर वह सत्यानुयायियों की प्रार्थना सुनता है।" (Proverbs. १५। २६)

वस्तुतः एक पापात्मा के नेत्र बाह्य इच्छाओं और विषय वासनाओंकी ओर लगे रहते हैं। इस लिये उसकी दृष्टि अभ्यन्तर की ओर जा ही नहीं सकती। इसके विपरीत धर्मात्मा पुरुष

सत्य धर्मनिष्ट कार्य करने वाला होता है, जिससे उसकी दृष्टि अपने अंभ्यन्तर रूप में पैठ जाती है और उत्तरोत्तर वृद्धि को भी प्राप्त हो जाती है। इस ही लिये ईसा ने प्रार्थी के लिये हिंसा करने की भी मनाई की है। वह कहता है:—

"जब तुम अपने हाथ फैलाओगे, तो मैं अपने नेत्र बन्द कर लूँगा। हां! जब तुम प्रार्थना करोगे तो मैं न सुनूंगा। तुम्हारे हाथ तो रक्त से भरे हैं।" (यशैयाह १। १५)

प्रार्थना के विषय में इन बातों का ध्यान रखकर ही प्रत्येक धर्म में उसका निरूपण किया गया है। ईसाई धर्म की प्रार्थना और उसका रहस्य निम्न प्रकार बतलाया गया है:—

"ऐ हमारे पिता! तू जो आकाश में है। तेरा नाम पवित्र माना जावे। तेरा राज्य आवे। तेरी इच्छा जैसे आकाश में पूर्ण होती है पृथ्वी पर हो। हमारी रोज़की रोटी आज हमें दे। और जिस तरह हम अपने क़र्ज़दारों को मुक्त करते हैं, तू भी हमारे कर्ज़ से हमें मुक्त करदे। और हमें लालच में न पड़ने दे। बल्कि पापों से बचा, कारण कि राज्य और शक्ति और प्रभुत्व अनन्तकाल तक तेरा है। आमीन!" (मत्ती ६।६—१३)

"विश्वस्तः यह प्रार्थना नहीं है सुतरां निम्नोल्लिखित बातों का समुदाय है:—(१) जीवन की स्तुति (अथवा परमात्मगुण-वर्णन), (२) उसके राज्य के विकाश की आशा, और एक नूतन क्रमका आरम्भ, जिसमें जीवन (आभ्यंतर परमात्मा) की इच्छा का पृथ्वी पर इस प्रकार पूरा होना है जैसे वह आकाश पर होती है; (३) रोजाना केवल पेट भरने के लिये रोटी की आकांक्षा, अर्थात् वास्तव में व्यक्तिगत सम्पत्ति व

प्रभुता का हृदय से निरोध करना; (४) पापों का पश्चाताप, और (५) भविष्य के पापकृत्यों का भय तथा पाप से मुक्ति पाने की उत्कट इच्छा। ईसामसीह की बताई हुई प्रार्थना का ऐसा अर्थ है। परन्तु यह तो मात्र जैन सामायिक का फोटू है; जिसको परमात्मा महावीर ने प्रतिदिवस ध्यान करने के लिए क़रीब दो हज़ार छःसौ वर्ष हुए अपने अनुयायियों को सिखाया था। सामायिक के अङ्ग जैनशास्त्रों के अनुसार निम्नप्रकार हैं:—

(१) पूर्वकृत पापों का पश्चाताप।
(२) भविष्य में पापों से बचने की भावना।
(३) व्यक्तिगत मोह एवं द्वेष का त्याग।
(४) तीर्थंकर के ईश्वरीय गुणों की स्तुति, जो हमारे लिए आदर्श है।

(५) किसी मुख्य तीर्थंकर की उपासना, कि जिस का जीवनचरित्र हमारे जीवन को पवित्र बनाने का द्वार है कारण कि वह स्वयं पापों की अवस्था से परमात्मावस्था के उच्चतम पद को प्राप्त हुआ है।

(६) शरीरसे मनको हटाना और उसको आत्मामें लगाना

इन में से प्रथम के दो अंग तो पापों के काटने वाले हैं। तृतीय हृदय से विषयवासना को दूर करता है, चौथा हृदय के ऊपर परमात्मापन की छाप डालता है और उत्कृष्टता के उस उच्चतम शिखिर को प्रकट करता है जहां आत्मा पहुंच सकती है। पांचवें का अर्थ एक जीवित आदर्श के चरणानुकाओं का अनुकरण करने से कर्मों से छुटकारा पाना है और छठा आत्मा के स्थान पर शरीर को ही मनुष्य मानने के भ्रम

को दूर करता है और इन्द्रियलोलुपता को हटाता है। मुझको इस क्रम में बताना चाहिये कि इन्जील के ईश्वरीय राज्य का भाव,जिसके देखने के लिये ईसा के भक्त लालायित हैं, इसके अतिरिक्त किआत्मा का परमात्मापन प्रकट हो और कुछ नहीं है। उस राज्य की प्रशंसा ईसा ने एक स्थल पर इस प्रकार की थीः—

'ईश्वर का राज्य प्रत्यक्षतया नहीं आता है और लोग यह न कहेंगे कि देखो! यहां है अथवा देखो! वहां है, कारण कि ईश्वर का राज्य तुम्हारे भीतर है।' (लूका १७। २०-२१)

"अब हमारे भीतर जो कुछ है वह केवलजीवन है। अस्तु ईसाइयों की प्रार्थना के इस पद का कि 'तेरा राज्य आवे, वास्तव में यही अर्थ है कि ईसा का भक्त अपनी ही आत्मिक शक्ति के विकाश का इच्छुक है। अब मैं आप को मुसलमानों की प्रार्थना का विषय, जिसमें से वह भाग जो केवल उन के पैगम्बर साहबसे सम्बन्धित था, छोड़ दिया गया है, बताऊंगा:-

मैंने पवित्र हृदय से केवल परमात्मा से प्रार्थना करने का प्रण किया है।

परमात्मा बड़ा है।
ऐ परमात्मा! विशुद्धता तेरे लिये है।
तेरे लिए स्तुति हो।
तेरा नाम बड़ा है।
तेरी उत्कृष्टता बहुत विशाल है।
तेरे अतिरिक्त अन्य कोई देव नहीं है।
मैं परमात्मा के निकट शैतान से रक्षा की इच्छा करता हूं।
परमात्मा के नाम से जो अतिकृपालु और दयालु है।

स्तुति परमात्मा की है जो सर्व जगतों का स्वामी है।

अतिकृपालु और अति दयालु।

स्वामी है रोज़े जज़ा का।

ऐ परमात्मा! तेरी ही हम उपासना करते हैं और तुझ से ही सहायता चाहते हैं।

दिखा हम को सीधा मार्ग उन लोगों का मार्ग जिन पर तूने कृपाकोर की है।

जो न वह हैं जिन पर तू क्रोधित हुआ है और न भटकने वाले हैं।

आमीन!

"कह दो कि वह परमात्मा एक है। परमात्मा अनादिनिधन है। न उससे कोई उत्पन्न हुआ और न वह किसी से उत्पन्न हुआ। और न कोई उसके समान है।

"परमात्मा बड़ा है। मैं अपने उत्कृष्ट परमात्मा की विशुद्धता की प्रशंसा करता हूं।

मैं अपने उत्कृष्ट परमात्मा की विशुद्धता की प्रशंसा करता हूं। "परमात्मा उसको सुनता है जो उसकी प्रशंसा करता है।

अय मेरे परमात्मा! प्रशंसा तेरे लिए है। परमात्मा बड़ा है।

"मैं अपने उत्कृष्ट परमात्मा की विशुद्धता की प्रशंसा करता हूं।

"मैं अपने उत्कृष्ट परमात्मा की विशुद्धता की प्रशंसा करता हूं।

"मैं अपने उत्कृष्ट परमात्मा की विशुद्धता की प्रशंसा करता हूं।

"मैं परमात्मा की शक्ति से उठता बैठता हूं । परमात्मा बड़ा है ।

"मैं अपने उत्कृष्ट परमात्मा की विशुद्धता की प्रशंसा करता हूं ।

"मैं अपने उत्कृष्ट परमात्मा की विशुद्धता की प्रशंसा करता हूं ।

"मैं अपने उत्कृष्ट परमात्मा की विशुद्धता की प्रशंसा करता हूं ।

"मैं परमात्मा, अपने प्रभू को क्षमा याञ्चना करता हूं ।

मैं उसके समक्ष पश्चाताप करता हूं । परमात्मा बड़ा है ।

सर्व जीह्वा की उपासना परमात्मा के लिये है। और सर्व उपासना शरीर की भी परमात्मा के लिए है और दान भी ।

"परमात्मा की शांति तुझपर हो, ऐ रसूल और परमात्मा की दया एवं प्रसाद तुझपर हो ।

शांति हो हमपर और परमात्मा के धर्मालु दासों पर ।

"मैं साक्षी देता हूं कि कोई अन्य प्रभू नहीं सिवाय परमात्मा के ।

ऐ परमात्मा ! तेरेलिये प्रशंसा हो और तू बड़ा है ।

ऐ परमात्मा हमारे प्रभू ! हमको इस जीवन के सुख और नित्य जीवन के सुख भी प्रदान कर ।

हमको नर्कों के दुःखों से बचा ।

"परमात्मा की शान्ति और दया तुम्हारे साथ हो ।"

परमात्मा की शान्ति और दया तुम्हारे साथ हो ।

—(देखो ह्युजेज डिक्सनरी ऑफ इस्लाम)

"यहां भी स्तुति, पश्चाताप, पापों का भय, उन महात्माओं के चरणचिन्हों पर चलने की अभिलाषा, जिनपर जीवन दयालु हुआ है, और जो भ्रम में नहीं पड़ते हैं, जीवन की एकता, साधुता और जिह्वा एवं शरीर के ईश्वर की उपासना और धन के दान में व्यय करने में दृढ़ता ही पाए जाते हैं।

"बौद्ध धर्म की प्रार्थना भी इसी ढङ्गपर एक प्रकार की अभ्यन्तर भावना का समुदाय है जिस में इज़हार श्रद्धा का है। और भावना ध्येय एवं उत्साह की है इज़हार की अपेक्षा बौद्धमत की प्रार्थना में बुद्ध की वन्दना, उसके सत्यमार्ग और संघ की विनय, विशेषतया उपासना और प्रशंसा करने के रूप में होती है, जो श्रद्धा की दृढ़ता को भी साथ ही साथ प्रकट करती है। और यथार्थ ध्येय की भावना के रूप में वह नैतिक कमियों को दूर करने के लिए प्रयत्न के पूर्णप्रण या भावके रूपको धारण करती है। (देखो इन्साइक्लोपेडियाऑफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स जिल्द १० पृष्ठ १६७)।"* किसी को प्रसन्न करने अथवा कुछ प्राप्त करने की वाञ्छा उस में नहीं है। वह अपने आदर्श को पूर्ण कृतकृत्य मानते हैं और जानते हैं कि वह हमारी इच्छा-वाञ्छा की पूर्ति नहीं कर सकते। हमारी पूजा-अर्चना उन्हें क्षुभित नहीं कर सकती। हमारी भावनाएं ही हमारे लिए कार्यकारी हैं। बौद्धाचार्य नागसेन यही कहते हैं:—

"Though worshipped, these Unequalled ones. alike,
By gods and men, unlike them all they heed.

* असहमत संगम पृ० ४२१-४१८।

Neither a gift nor worship. They accept,
It not, neither refuse it. Through the ages,
All Buddhas were so, so will ever be !"
(The Questions of king Milinda. iv, 1, 10.)

भावार्थ यही है कि इन अनुपम पुरुषोंकी उपासना, अर्चना यद्यपि हम करते हैं परन्तु ये न उसे स्वीकर करते हैं और न अस्वीकार। जिस तरह पृथ्वी में किसी प्रकार का भी बीज बोया जाय उसे विषाद-हर्ष कुछ भी नहीं होता। प्राकृतिक रूप में वह बीज उससे आवश्यक जीवनसत गृहण करके बड़े २ पेड़ों और फलों में परिवर्तित हो जाता है। उसी तरह आदर्श रूपी पृथ्वी में भावमय उपासना-अर्चना-रूपी बीज बोने से वह स्वतः ही इच्छित फल-प्राकृतस्वरूप में बदल जायगा। यह ही भाव हिन्दुओं की उपासना का है। हिन्दू गायत्री में सूर्य्य से प्रकाश और ज्ञान पाने की प्रार्थना की गई है। उसका अर्थ है किः—

"हम ध्यान करते हैं इस आकाशीय जीवित करने वाले (सूर्य्य) की प्रभुता पर। वह हमारी बुद्धि को खोले।"

सूर्य्य से प्रार्थना करनेके अर्थ अपनी ही आत्मा की प्रार्थना करने से है; क्योंकि मैत्रायण उपनिषद् में लिखा है किः—

"सूर्य्य वाह्य आत्मा है। और प्राण (जीवन) अभ्यंतर आत्मा है। एक के कार्य्य की दूसरे के कार्य्य से समानता मानी गई है। अस्तु ! सूर्य्य पर ओ३म् के सदृश विचार कर और उसको आत्मा के साथ लगाले।"—(प० हि० भाग जिल्द १ पृष्ठ ४७३)

पारसियों की प्रार्थना का अनुवाद निम्न प्रकार है:

"इस कारण अहु (आकाशीय प्रभू) का चुनाव होना है; इसलिये रतु (सांसारिक महात्मा) प्रत्येक नियमपूर्ण विद्वत्ता से हृदय की पवित्रता का उत्पादक होना चाहिए, और जीवन के कृत्यों का जो मजदा के लिए किए जायें। और राज्य अहुरा का हो।

जिसने अहु वा रतु को दयार्द्रों का सहायक स्थित किया है।
(३० रि० ए० भाग १ पृष्ठ २३८)

"हॉग साहब अपनी पुस्तक एस्सेज़ ओन पार्सीज़ (Essays on Parsees) के पत्र १४१ पर इसका अर्थ और भी विशेष प्रकट रूप में निम्न रूप से लिखते हैं :—

"इसलिए कि आकाशीय परमात्मा का चुनाव होना है। ऐसे ही एक सांसारिक महात्मा को पवित्र विचारों का देनेवाला, और पवित्र जीवन कृत्यों का जो मजदा के लिए किए जावें बताने वाला होना चाहिये।

और राज्य अहुरा के लिए है जिसको मजदा ने
गरीबों का सहायक नियत किया है।"

"यहाँ भी भोगों (सुख) की प्राप्ति के लिए भिक्षा मांगने का कोई प्रश्न नहीं है, सुतरां केवल आकाशीय प्रभू वा पथ प्रदर्शक और संसारी महात्मा के आत्मिक गुणों का है। अतः यह प्रकट है कि शब्द प्रार्थना इन प्रार्थना सम्बन्धी लेखों एवं वक्तव्यों के रूप में अर्थहीन शब्द है। और, प्राचीन काल में इसका अर्थ कसी भी सांसारिक सुख वा प्रसाद के लिए

भिक्षा-याञ्चना करने का न था। (उससे भाव) प्रत्यक्ष है कि प्रति दिवस ध्यान में वे सब बातें सम्मिलित होनी चाहिए जो श्रद्धा, धर्म और मनकी शांति की वर्धक हैं। अब श्रद्धा हृदय पर इस विचार के जमाने से कि आत्मा स्वयं परमात्मा है, और उन महात्माओं के जीवन चरित्रों को जो स्वयं परमात्मा होगए हैं; विनय के साथ पढ़ने से बढ़ती है। धर्म पापों से बचने से प्राप्त होता है। अर्थात् अपने पापों को स्वीकार करने से और उनका पश्चाताप करने से। और शांति - राग और द्वेष को हृदय से निकाल डालने से, और शारीरिक इच्छाओं एवं विषयवासनाओं के नष्ट करने से। यह सब बात जैनधर्म के सामायिक में ख्याल में रक्खी गई हैं; जो इसी कारण ध्यान करने का सर्वोत्तम साधन है।"* उसका पूज्य ब्र० शीतलप्रसादजी कृत पद्यमय हिन्दी रूपान्तर निम्न प्रकार है:—

हे जिनेन्द्र! सब जीवन से हों मैत्री भाव हमारे।
दुःख दर्द पीड़ित प्राणिन पर करूं दया हर बारे॥
गुणधारी सत्पुरुषन पर हो हर्षित मन अधिकारे।
नहीं प्रेम नहिं द्वेष वहां विपरीत भाव जो धारे॥ १॥
हे जिनेन्द्र! अब भिन्न करन को इस शरीर से आतम
जो अनन्त शक्ति धर सुखमय दोष रहित ज्ञानातम॥
शक्ति प्रकट हो मेरे में अब तव प्रसाद परमातम।
जैसे खड्ग म्यान से काढ़त अलग होत तिम आतम॥ २॥
दुःख सुखों में, शत्रु मित्र में, हो समान मन मेरा।
वन मन्दिर में लाभ हानि में हो समता का डेरा॥
सर्व जगत के थावर जङ्गम चेतन जड़ उलझेरा।
तिन में ममत करूं नहिं कब हीं छोड़ूं मेरा तेरा॥ ३॥

---

* असहमत संगम ४२६

हे मुनीश ! तव ज्ञानमयी चरणों को हिय में ध्याऊँ ।
लीन रहूँ, वे कीलित होवें थिर उनको विठलाऊँ ॥
छाया उनकी रहे सदा अव सब औगुण नष्ट कराऊँ ।
मोह अँधेरा दूर करन को रत्न दीप सम भाऊँ ॥ ४ ॥
एकेन्द्री दो इन्द्री आदिक पञ्चेन्द्री पर्यन्ता ।
प्राणिन को प्रमाद वश होके इत उत में विरचन्ता ॥
नाश छिन्न दुःखित कीये हों भेले कर कर अन्ता ।
सो सब दुराचार कृत पाप दूर होहु भगवन्ता ॥ ५ ॥
रत्नत्रयमय मोक्षमार्ग से उलटा चलकर मैंने ।
तज विवेक इन्द्रिय वश होके अर कषाय आधीने ॥
सम्यक् व्रत चारित्र शुद्धि में किया लोप हो मैं ने ।
सो दुष्कृत पाप दूर हो शुद्ध किया मन मैंने ॥ ६ ॥
मन वच काय कषायन के वश जो कुछ पाप किया है ।
है संसार दुःख का कारण ऐसा जान लिया है ॥
निन्दा गर्हा आलोचन से ताको दूर किया है ।
चतुर वैद्य जिम मन्त्र गुणों से विष संहार किया है ॥७॥
मति भ्रष्ट हो हे जिन ! मैंने जो अतिक्रम कर डाला ।
सु आचार कर्म में व्यतिक्रम अतीचार भी डाला ॥
हो प्रमाद आधीन कदाचित अनाचार कर डाला ।
शुद्ध करण को इन दोषों के प्रतिक्रम कर्म सम्हाला ॥ ८ ॥
मनशुद्धि में हानिकारक जो विकार अतिक्रम है ।
शील स्वभाव उलंघन को मतिहो जाना व्यतिक्रम है ॥
विषयों में वर्तन होजाना अतिचार नहिं कम है ।
है स्वछंद आसक्त प्रवर्तन अनाचार इकदम है ॥ ६ ॥
मात्रापद अर वाक्यहीन, या अर्थहीन वचनों को ।
कर प्रमाद बोला हो मैंने दोष सहित वचनों को ।

नम्य! नम्य! जिनवाणि सरस्वति! शोधो मम वचनोंको।
कृपाकरो हे मात! दीजिये पूर्णज्ञान रत्नों को॥ १०॥
बार बार वंदूं जिन माते तू जीवन सुखदाई!
मन चिन्तित वस्तु को देवे चिन्तामणि सम भाई।
रत्नत्रय और ज्ञान समाधि शुद्धभाव इकताई।
स्वात्मलाभ और मोक्ष सुखों की सिद्धि देजिनमाई॥ ११॥
सर्वसाधु यति ऋषि और अनगार जिन्हें सुमरे हैं।
चक्रधार अर इन्द्र देवगण जिनकी स्तुति करे हैं।
वेद पुराण शास्त्र पाठों में जिनका गान करे हैं।
सो परमदेव! मम हृदय तिष्ठो तुझमें भाव भरे हैं॥ १२॥
सब को देखन जाननवाला सुख स्वभाव सुखकारी।
सब विकारी भावों से बाहर जिनमें है संसारी॥
ध्यान द्वार अनुभव में आवे परमातम शुचिकारी।
सो परमदेव मम हृदय तिष्ठो भाव तुझी में भारी॥ १३॥
सकल दुःख संसार जाल के जिसने दूर किये हैं।
लोकालोक पदारथ सारे युगपत देख लिये हैं॥
जो मम भीतर राजत है मुनियों ने जान लिये हैं।
सो परम देव मम हृदय तिष्ठो समरस पान किये हैं॥ १४॥
मोक्षमार्ग त्रयरत्नमयी जिसका प्रगटावन हारा।
जन्म मरण आदि दुःखों से सब दोषों से न्यारा॥
नहिं शरीर नहिं कलंक कोई लोकालोक निहारा।
सो परमदेव मम हृदय तिष्ठो तुम बिन नहिं निस्तारा॥ १५॥
जिनको सब संसारि जीवों ने अपना कर माना है।
राग द्वेष मोहादिक जिसके दोष नहीं जानो है॥
इन्द्रिय रहित सदा अविनाशी ज्ञानमयी बाना है।
सो परमदेव मम हृदय तिष्ठो करता अति कल्याना है॥ १६॥

जिसका निर्मल ज्ञान जगत में है व्यापक सुखदाई ।
सिद्ध शुद्ध सब कर्म बन्ध से रहित परम जिनराई ॥
जिसका ध्यान किये क्षण क्षण में सब विकार मिटजाई ।
सो परमदेव मम हृदय तिष्ठो यही भावना भाई ॥ १७ ॥
कर्म मैल के दोष सकल नहिं जिसे पर्श पाते हैं ।
जैसे सूरज की किरणों से तम समूह जाते हैं ॥
नित्य निरञ्जन एक अनेकी इम मुनिगण ध्याते हैं ।
उस परमदेव को अपना लखकर हम शरणा आते हैं ॥ १८ ॥
जिसमें ताप करण सूरज नहिं ज्ञानमयी जगभासी ।
बोध भानु सुख शान्ति कारक शोभ रहा सुविकासी ॥
अपने आतम में तिष्ठे हैं रहित सकल मल पासी ।
उस परमदेव को अपना लखकर शरणाली भवनासी ॥ १९ ॥
जिस में केवल ज्ञान दर्श से सकल जगत प्रतिभासे ।
भिन्न भिन्न षट् द्रव्यमई गुण पर्ययनय सनतासे ॥
है शुद्ध शांत शिवरूप अनादि जिन अनन्त फटिकासे ।
उस परमदेव को अपना लखकर शरणा ली सुखभासे ॥ २० ॥
जिसने नाश किये मन्मथ अभिमान मूर्छा सारी ।
मन विषाद निद्रा भय शोक रति चिन्ता दुखकारी ॥
जैसे वृक्ष समूह जलावत वन अग्नि भयकारी ।
उस परमदेव को अपना लखकर शरणा ली सुखकारी ॥ २१ ॥
है व्यवहार विधान शिला पृथ्वी तृण का सन्थारा ।
निश्चय से नहिं आसन हैं ये इन में नहिं कुछ सारा ॥
इन्द्रिय विषय कषाय द्वेष से रहित जो आतम प्यारा ।
ज्ञानी जीवों ने गुण लखकर आसन उसे विचारा ॥ २२ ॥
नहिं सन्थारा कारण हैगा निज समाधि का भाई ।
नहिं लोगों से पूजापाना संघ मेल सुखदाई ॥

रात दिवस निज आतम में तू लीन रहो गुणगाई।
छोड़ सकल भवरूप वासना निज में कर इकताई ॥ २३ ॥
मम आतम विन सकल पदारथ नहिं मेरे होते हैं।
मैं भी उनका नहिं होता हूं नहिं वे सुख बोते हैं ॥
ऐसा निश्चय जान छोड़ के बाहर निज टोते हैं।
उनसम हम नित स्वस्थ रहैं ले मुक्ति कर्म खोते हैं ॥ २४ ॥
निज आतम में आतम देखो हे मन परम सहाई।
दर्शन ज्ञान मई अविनाशी परम शुद्ध सुखदाई ॥
चाहे जिसी ठिकाने पर हो हो एकाग्र अधिकाई।
जो साधु आपे में रहते सच समाधि उन पाई ॥ २५ ॥
मेरा आतम एक सदा अविनाशी गुण सागर हैं।
निर्मल केवल ज्ञानमयी सुख पूरण अमृत घर है ॥
और सकल जो मुझ से बाहर देहादिक सब पर है।
नहीं नित्य निजकर्म उदय से बना यह नाटक घर है ॥ २६ ॥
जिसका कुछ भी ऐक्य नहीं है इस शरीर से भाई।
तब फिर उसके कैसे होंगे नारी बेटा भाई ॥
मित्र शत्रु नहिं कोई उसका नहिं संग साथी दाई।
तन से चमड़ा दूर करे नहिं रोम छिद्र दिखपाई ॥ २७ ॥
पर के संयोगों में पड़ तनधारी बहु दुख पाया।
इस संसार महावन भीतर कष्ट भोग अकुलाया ॥
मन वच काया से निश्चय कर सब से मोह छुड़ाया।
अपने आतम की मुक्ति ने मन में चाव बढ़ाया ॥ २८ ॥
इस संसार महावन भीतर पटकन के जो कारण।
सर्व विकल्प जाल रागादिक छोड़ो सर्म निवारण ॥
रे मन! मेरे देख आतम को भिन्न परम सुख कारण।
लीन होहु परमातम माहीं जो भवताप निवारण ॥ २९ ॥

पूर्वकाल में कर्मबन्ध जैसा आतम ने कीना।
तैसाही सुख दुःख फल पावे होवे मरना जीना॥
पर का दीया यदि सुख दुःख को पावे बात नहींना।
अपना किया निरर्थक होवे सो होवे कबहू ना॥ ३० ॥
अपने ही बांधे कर्मों के फल को जिय पाते हैं।
कोई कोई को देता नहीं ऋषिगण इम गाते हैं॥
कर विचार ऐसा दृढ़ मन से जो आतम ध्याते हैं।
पर देता सुख दुख यह बुद्धि नांहि चित में लाते हैं ॥ ३१ ॥
जो परमातम सर्व दोष से रहित भिन्न सब से है।
अमितिगति आचारज वन्दे मन में ध्यान करे है॥
जो कोई नित ध्यावे मन में अनुभव सार करे है।
श्रेष्ठमोक्ष लक्ष्मी को पाता आनन्द भाव भरे है॥ ३२ ॥ इति॥

इस प्रकार प्रार्थना का रहस्य सर्व धर्मों से प्रकट है। सब में ही बाहर भटकने के स्थान पर अपने आप पर विश्वास करने का उपदेश गर्भित है। सब का यही मत है कि स्वयं प्रत्येक जीवित प्राणी में वह परमोत्कृष्ट जीवन ज्योति विद्यमान है जो परम ज्ञान और सुखरूप है। वह उसही का अनुभव कर स्वयं सर्वदर्शी और सर्वज्ञाता एवं पूर्ण सुखी हो जावेगा। परन्तु संसार प्रलोभनों में फँसे हुये प्राणी के लिए यह एकदम सहज नहीं है कि वह भेद विज्ञान को पाले। उसके आत्म नेत्र सहसा खुल नहीं सकते। इसलिए उन महापुरुषों के गुणों में अनुरक्त होना-उनका गुणगान करना इस आत्मप्राप्ति में सहायक हो सकते हैं जिन्होंने स्वयं अपने प्रयत्नों द्वारा परमात्म पद को पालिया है। ऐसे महानपुरुषों के चरण चिन्हों पर चलना हमारे लिए श्रेयस्कर है। परन्तु यह आवश्यक है कि जब हम स्वयं मिथ्या बुद्धि के वश हुए पुद्गल में फँसे हुए

हैं तो हमारा भ्रमालु मन उनही पदार्थों में शीघ्र ही अनुरक्त हो सकता है जो स्वयं साकार पुद्गलरूप हों। अपने सद् प्रयत्नों द्वारा परमात्मरूप हुए सिद्ध-पुरुषों ने किस ढङ्ग से उस कृत कृत्य अवस्था को प्राप्त किया था—इस बात को जानने की प्रत्येक हृदय में उत्कण्ठा उत्पन्न होगी। तनिक गम्भीर विचार करने से यह समझ में आजाता है कि निराकुल अवस्था में ही अपने निज की ओर उपयोग लगता है। एक बड़ा व्यापारी दिनभर अपने व्यापारिक लैन दैन से थककर जब रात्रि को शयन-शय्या पर अपने मानसिक उद्वेग का अन्तकर ज़रा निराकुलता को पाता है तबही वह अपने दैनिक कार्यों की तीव्रालोचना करता है और ऐसी ऐसी गलतियों को सुगमता से पालेता है जिनके मारे वह हैरान था। मात्र यह है कि निराकुल अवस्था में ही उपयोग का वास्तविक उपभोग हो सकता है। और वह निराकुलता एकान्त में किसी एक विषय पर चित्त को एकाग्र करने से प्राप्त होती है। इसलिए यह स्वतः सिद्ध है कि आत्मा के निजगुण ज्ञान सुख आदि-जो इस समय ओझल हैं वह उस ही समय झमकर प्रकाश में आने लगेंगे जिस समय जीवित प्राणी वाह्य झमटों से मनको हटाकर उन गुणरूप अपने आत्मा में तन्मय करेगा। इसलिए सिद्ध पुरुषों ने आत्म-ध्यान में लीन होकर ही सिद्ध अवस्था को प्राप्त किया था यह प्रत्यक्ष प्रगट है।

अब जब कि यह प्रगट है कि ध्यान अवस्था ही सिद्धि का मुख्य द्वार है तब यह स्वभाविक और आवश्यक है कि उसही अवस्था की प्रति मूर्तियों का अवलम्बन ले हम स्वयं ध्यान का अभ्यास करें। क्यों कि वाह्यनेत्र रूपी पदार्थ पर ही अटक सकते हैं। और उनके वहां अटकने से मन कुछ देर के

लिए स्थिरता प्राप्त कर लेता है। इस स्थिर अवस्था को-शांतिमयदशा को अधिक देर तक बनाए रखने के लिए प्रारंभिक अभ्यासी के लिए अथवा आभ्यन्तर दृष्टि को नहीं प्राप्त हुए प्राणी के लिए यह आवश्यक होगा कि वह उन महापुरुषों के गुनगान इस ढंग से करे जिसमें कि स्वयं उस को अपना आत्मरूप झलक जाय, जैसे कि हम ऊपर देखचुके हैं। अतएव इसप्रकार मनोवैज्ञानिक ढङ्ग पर किसी मूर्तिका अवलम्बन अपनी आत्मप्राप्ति के लिए अथवा यूं कहिये कि आनन्दमार्ग पर पहुंचने के लिए आवश्यक प्रमाणित होता है। वस्तुतः मूर्ति पूजा आदर्शरूपमें उद्देश्यसिद्धिमेंपरम सहायक है। इसी लिए यह संसार के प्रत्येक धर्म में किसी न किसी रूप में स्वीकार की गई है।

तिस पर यदि हम मनुष्य प्रकृति की ओर गहन दृष्टि से अन्वेषण करें तो हमें पता चल जाता है कि मनुष्य में यह एक प्रारंभिक माद्दा रहा है कि वह अपने पूर्वजों (Ancestors) के प्रति पूज्य भाव रक्खे। प्राचीन काल से ही मालूम होता है कि प्रत्येक जाति अपने पूर्वजों को बड़ा मान देती आई है और जिस बात को उन्हों ने उनके लिए नियत किया उस को वह मानती आई है। एक आधुनिक विद्वान् इस विषय में कहते हैं कि :—

"Reverence towards the ancestors can be found everywhere on the world, as it is only a fur the extension of the reverence of the child towards his parents. There is some historical truth in the supposition, that the rewote ancestor is the originater of the triter. This rever-

ence towards the ancestors turned very soon in the direct worship of ancestors. But the combination with the godly principle realized much later and not everywhere completely. It seems to be a typical semitic feature to deify the ancestors which spread from them also to other nations." (Dr.O. Pertold. PH.D. In the Jaina Gazette. F. N. Page 100. vol. XIX.)

भाव यह है कि संसार में पूर्वजों के प्रति विनय भाव सर्वत्र देखने में आयगा, मानो वह पिता-पुत्र के परस्पर विनय वृत्ति का विकाश रूप है। इस मान्यता में भी कुछ ऐतिहासिक सत्य है कि प्राचीनतम पूर्वज द्वारा ही जाति व्यवस्था की उत्पत्ति हुई है। यही पूर्वजों के प्रति विनयभाव समयानुसार उन पूर्वजों को पूजारूप में पलट गया। परन्तु जो इस पूजा में जो देवरूप कल्पना की गई है वह उपरान्त की गढ़ना है और सर्वत्र पूर्णतः प्रचलित भी नहीं है। पूर्वजों को देवरूप देना सेमिटिक लोगों (Semitic) का कार्य था। और उन्हीं से वह अन्य जातियों में पहुंच गया। भारतवर्ष के प्राचीन धर्मों में जैनधर्म के इस विषय के विवरण से यदि यहां हम मुकाबला करें तो उक्त विद्वान के कथन को ठीक पाते हैं। जैन शास्त्रों में बतलाया गया है कि वर्तमान कर्मयुग के प्रारंभ में जब भोगभूमि का लोप होने लगा तब मनुष्य मानुषिक क्रियायों से अनभिज्ञ थे। उनकी इन बातों की कठिनाई को अन्तिम कुलकर अथवा मनु एवं प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने दूर किया था। साधारण जनता को उस प्रारंभिक ज़माने में इन पुरुषों के प्रति आदर था और वह इनमें विश्वास रखती

थी। फिर जब ऋषभदेव ने धर्ममार्ग का प्रतिपादन किया तब उस पूज्य भाव की सृष्टि हुई जिसको उक्त विद्वान देवपूजा बतलाते हैं। सारांश यह कि प्रकृत खोज की असलियत एवं प्राचीन धर्म के शास्त्रों की साक्षी इस बात की पुष्टि में पर्याप्त हैं कि मनुष्य स्वभाव ही इस बात के लिए लालायित है कि वह अपने पूर्वजों को विनय करे। आदर्श पुरुषों की पूजा करे उनको आदर देने के लिए उनकी प्रतिमूर्तियां बनावे। और उन ध्यानाकार पवित्र महापुरुषों की मूर्तियों के समक्ष नत मस्तक हो उनके गुणगान में अपने को तन्मय कर दे। इसही बात को लक्ष्यकर "न्याय-कुसुमाञ्जली" के मान्यकर्ता कहते हैं:–

"पूज्या न प्रतिमार्हतामिति वचः स्यात कस्य चेतविनो ?
निरूपेश्वर मूर्तिमारचयिता भ्रान्तः कथम नेतिचेद ?
जीवन्मुक्तमहेशमभ्युपयताम् नो नो इदं दूषणम्,
ध्यानालम्बनहेतवे स्फटिकृते रूपेशबिम्बोपि सन् ।"

—४।२६।

अर्थात्–कौन विचारवान् पुरुप कहेगा कि अर्हंत् भगवान की मूर्ति को पूजा नहीं करना चाहिए? यदि वह कहे कि हमने अरूपी परमात्मा की मूर्ति बनाकर ग़लती की है तो वह मिथ्या कहता है। क्योंकि यह दूषण हम पर लागू नहीं हो सकता है। हम जीवन्मुक्त को परमात्मा स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त अमूर्तीक परमात्मा की मूर्ति बनाना लाभकारी है क्योंकि वह ध्यान के लिए एक अच्छा अवलम्बन है और हमारे उद्देश्य की याद दिलाने वाली है। वह तो परमात्मा के वीतरागता, शान्तता, और ध्यान आदि साक्षात् गुणों का प्रतिबिम्ब होता है। इसही बात को उर्दू के एक कवि शेख साहिब किस खूबी से दिखलाते हैं वह ज़रा देखिये:–

उसमें है एक खुदाई का जलवा बगरना शेख !
सिजदा करेंसे फायदा पत्थर के सामने ?"

अर्थात्—परमात्मा की उस मूर्ति में खुदाई का जलवा परमात्मा का प्रकाश और ईश्वर का भाव मौजूद है, जिसकी वजह से उसे सिजदा-प्रणामादिक किया जाता है। वह वास्तव में परमात्मा को-परमात्मा के गुणों को ही प्रणामादिक करता है, धातु पाषाण को प्रणामादिक करना नहीं है। और इसलिए उसमें लाभ ज़रूर है। जैनदृष्टि से खुदाई का यह जलवा परमात्मा के परम वीतरागता और शान्ततादि गुणों का भाव है जो जैनियों की मूर्तियों में साफ तौर से झलकता और सर्वत्र पाया जाता है। परमात्मा के उन गुणों को लक्ष्य करके ही जैनियों के यहां मूर्ति की उपासना की जाती है।'*
और इस प्रकार की आदर्श पूजा मनुष्य के लिए स्वाभाविक ही है। जिस प्रकार भूगोल के विद्यार्थी को अध्यापक विविध देशों के नक्शों-प्रतिबिम्बों से ही उन देशों का परिचय करा देता है, उस ही तरह एक वीतराग परमात्मा की मूर्ति की सहायता से भक्तवत्सल मनुष्य को उस प्रभू के साक्षात् दर्शन उसमें हो जांयगे। और उसके समाधि को प्राप्त होने की दृढ़ता से एक समय ऐसा आयगा कि उसे इस मूर्ति रूपी अवलम्बन लेने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। यह सब कार्य कैसे होजाता है इस का स्पष्टीकरण एक जैन विद्वान ने निम्न उदाहरण से अच्छी तरह किया है:-

"कल्पना कीजिए, एक मनुष्य किसी स्थान पर अपनी छतरी भूल आया। वह जिस समय मार्ग में चला आरहा था, उसे सामने से एक दूसरा आदमी आता हुआ नजर पड़ा

* उपासनातत्व पृष्ठ १७

जिसके हाथ में छतरी थी। छतरी को देखकर उस मनुष्य को झट से अपनी छतरी याद आगई और यह मालूम होगया कि मैं अपनी छतरी अमुक जगह भूल आया हूं और इसलिये वह तुरन्त उसके लाने के लिए वहां चला गया और ले आया। अब यहां पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उस मनुष्य को किसने बतलाया कि तू अपनी छतरी अमुक जगह भूल आया है। वह दूसरा आदमी तो कुछ बोला नहीं, और भी किसी तीसरे व्यक्ति ने उस मनुष्य के कान में आकर कुछ कहा नहीं। तब क्या वह जड़ छतरी ही उस मनुष्य से बोल उठी कि तू अपनी छतरी भूल आया है? परन्तु ऐसा भी कुछ नहीं है। फिर भी यह ज़रूर कहना होगा कि उस मनुष्य को अपनी छतरी के भूलने की जो कुछ खबर पड़ी है और वहां से लाने में उसकी जो कुछ प्रवृति हुई है उन सबका निमित्त कारण वह छतरी है, उस छतरी से ही उसे वह सब उपदेश मिला है और ऐसे उपदेश को 'नैमित्तिक उपदेश' कहते हैं।"+ परम वीतराग, उत्कटशान्ति और निश्चल ध्यानमुद्रा को प्रकट करने वाली प्रतिमायें स्वतः ही तद्रूप होती हैं। वह छतरी की तरह ही देखने वाले को अपने भूले हुए आत्म-स्वरूप का स्मरण करा देती हैं। दर्शक के हृदय में यह ख़याल उसी क्षण उत्पन्न हो जाता है कि 'हे आत्मन्! तेरा स्वरूप तो यह है, तू इसे भूला कर संसार के माया-जाल में और कषायों के फन्दे में क्यों फंसा हुआ है।' इस आत्म-स्मृति का परिणाम यह होता है कि वह दर्शक विना किसी विघ्नबाधा के यमनियमादिका का पालन कर आत्मसुधार के मार्ग पर लग जाता है। यदि कोई दर्शक अपने अन्तरनेत्रों चि

+ उपासनातत्व पृष्ठ २६

वेकशान के अभाव में उस मूर्ति से उपयुक्त शिक्षा ग्रहण न कर सके तो इसमें मूर्ति का दोष कुछ भी नहीं है। यह तो उस दर्शक को कमजोरी है। अतएव ऐसी हितकारक मूर्तियां अवश्य ही सर्वथा पूजनीय हैं।

संसार के विविध धर्मों में भी इस स्वाभाविक और आवश्यक मूर्तिपूजा-आदर्शपूजा को स्वीकार किया गया है; परन्तु दुःख है कि विवेकहीन मनुष्यों ने उसके मूलभाव को आंखों से ओझल करदिया है, जिसके कारण उसका वास्तविक रूप ही नष्ट होगया है। मुसलमानों में भी ताज़ियो आदि के रूप में यह बुत-परस्ती चल रही है। ईसाइयों में भी इस का अभाव नहीं है। रोमन कैथोलिक चर्च (गिरजाघर) में तो हज़रत ईसा और उनकी माता कुमारी मेरी एवं उनक अन्य अवस्थाओं की मूर्तियां विराजमान रहती हैं। इस में वह मूर्ति जो कि ईसा के क्रास के ऊपर चढ़ने को प्रगट करती है, हमारे लिए स्पष्टरूप से शिक्षा देरही है कि भौतिक शरीर से ममत्व मत रक्खो। इस पौद्गलिक नश्वर शरीर को आत्म प्राप्ति के लिए त्याग और तप के कठिन मार्ग में उत्सर्गीकृत करदो! कितनी उच्चशिक्षा है, परन्तु दुःख है कि मोह-मद से अन्धा हुआ प्राणी इस को देखने में असमर्थ है। उधर मुसलमानों का क़ाबे में जाकर हज़रत मुहम्मद के पवित्र स्थान का ज़्यारतकरना अथवा उनकी स्मृति में ताज़िये निकालना उनकी (हज़रत मुहम्मद) को ताज़ीमकरना है। उनके उसकार्य को आदरदेना है जो उन्होंने अपने जीवन में किया था। उन्होंने अपने जोवनमें अरब के उन खूंखार मनुष्यों को अलंकार की भाषामें प्रेम की शिक्षा दी थी। वह स्वयं प्रेम और अहिंसा के भावों को समझे हुये थे और उस ही का उपदेश उन लोगों को देना

चाहते थे जो खूनरेज़ी को ही सच्चा धर्म समझते थे। इस लिए इस परिस्थिति के मुताबिक ही उन्हों ने अहिंसा धर्म का उपदेश जज़ीरुल अरब में किया था! यहां तक कि नग्न-मुद्रा भी उन के पहिले वहां आवश्यक समझी जाती थी। हज़रत मुहम्मद का मैत्री भाव उनके इस उपदेश से ही अन्दाज़ा आ सकता है जिसका भाव यह है :—

"भलाई और बुराई को एक सी नहीं समझना चाहिये। बुराई का नाश भलाई से करो और फिर देखो जिससे तुम्हारी दुश्मनी थी वह तुम्हारा गहरा दोस्त है। परन्तु इस भाव को वे ही पहुंच सकते हैं जिन्हों ने संतोष को अपना लिया है और जिन पर विशेष कृपा है।' परन्तु ज़रा आज के हमारे मुस्लिम भाइयों को देखिये! हज़रत मुहम्मद को ताज़ीम में ताजिये निकालकर अथवा हज्ज करके भी वे उनके उत्तम अहिंसा भाव को ग्रहण करने में असमर्थ हैं। इस लिए उनकी यह आदर्श पूजा न होकर कोरी मूर्तिपूजा अथवा बुतपरस्ती है। बोद्धों के निकट अपने उपासनीय देव की पूजा करना आहुति-प्रार्थना और यज्ञबलिदान से महत्वशाली मानी गई है।

भाव यही है कि ईसाई, इस्लाम, बौद्ध आदि प्रचलित सब ही धर्मों में यह स्वाभाविक पूजाक्रम मान्य है, परन्तु उनमें उनके अनुयायियों ने उसके रूप को बिल्कुल पलट दिया है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि मूर्ति पूजा के मूल उद्देश्य का परिचय जनता को कराया जाय! क्योंकि कोई भी शक्ति ऐसी दृष्टिगत नहीं होती जो इस मनुष्य स्वभाव को पलट सके! कट्टर से कट्टर विरोधी भी किसी न किसी रूप में उसको स्वीकार अवश्य करता है। ईश्वर की शब्दों को करके उसके गुणों को एक आकार में रखकर गुणगान

करना भी मूर्ति पूजा में ही शामिल है। एक असभ्य भी अपनी किसी आराध्य वस्तु-तीरकमान आदि में पूज्यभाव रखता है। सारांश यह कि अपने हितैषी महानुभाव के प्रति विनयभाव रखना मनुष्य के लिए स्वभावसिद्ध बात है। प्रख्यात् अंग्रेज़ तत्ववेत्ता टॉमस कारलायल स्पष्ट कहता है कि:—

मैं कहता हूं कि महान् पुरुष तो भी प्रशंसा के योग्य हैं। मैं कहता हूं कि वस्तुतः उनके अतिरिक्त प्रशंसा करने योग्य कोई पदार्थ नहीं है। अपने से उच्चतम व्यक्ति के गुणगान करने, प्रशंसा करने की भावना से अधिक उत्तम भावना मनुष्य के हृदय में नहीं हो सकती है। इस समय एवं और सब समयोंमें वह मनुष्य के जीवन में जान डालने वाला प्रभाव है।........
.... वीरोपासना तब तक जीवित है जब तक मनुष्य है। इस अठारवीं शताब्दी में भी बोस्वेल (*Boswell*) अपने जांन्सन को (Johnson) उपासना बिलकुल यथार्थ रीति से करता है। श्रद्धाहीन फ्रान्सीसी भी अपने वोल्टेयर में श्रद्धा रखते हैं और उस वक्त जब कि वह अपने जीवन की अन्तिम क्रिया के समय उनको पुष्पवर्षा के नीचे दब जाता है एक प्रकार की अद्भुत वीर उपासना प्रकट करते हैं।......
पेरिस में उसकी गाड़ी एक पुच्छल तारे के सिरकी भांति है जिसकी पूँछ सारी गलियों में फैल जाती है। महिलायें उसके पोस्तीन (Fur) में से एक २ दो दो बाल पवित्र स्मारक की तौर पर नोच लेती हैं। समग्र फ्रान्स में कोई भी ऐसा सुन्दरता, उत्कृष्टता और सौम्यता में प्रसिद्ध नहीं था जिसने यह न समझा हो कि यह हम से भी अधिक सुन्दर व्यक्ति उत्कृष्ट और सौम्य है।........ यह सदैव ऐसे ही रहेगा।

हम सब महान् पुरुषों से प्रेम करते हैं और उनकी विनय करते हैं। हां! क्या किसी अन्य पदार्थके समक्ष भी हम सचाई से मस्तक झुका सकते हैं? आह! क्या प्रत्येक सत्पुरुष यह अनुभव नहीं करता है कि अपने से जो वास्तव में उच्च है उसकी उपासना करने से वह स्वयं उच्च हो जाता है? इससे अधिक उत्तम और पवित्र कोई भावना मनुष्य के हृदय में वास नहीं करती है। और मुझे यह विचार बहुत हर्षदायक है कि कोई भी विश्वासशून्य तर्कवितर्क अथवा साधारण क्षुद्रता अभिन्नता व तबियत का झुलसापन किसी समय का भी इस उत्तम स्वाभाविक भक्ति और उपासना को जो मनुष्य के हृदय में है, नष्ट नहीं कर सकते हैं।.........यह एक स्थाई नींवका पाषाण है जिस पर से मनुष्य अपना निर्माण कर सकते हैं। यह बात कि मनुष्य किसी न किसी भाव में वीरात्माओं की उपासना करता है और यह कि हम सब महान् पुरुषों की विनय करते हैं और सदैव करते रहेंगे। मेरे विचार में समस्त नष्ट कारक वृत्तियोंमें जीवित चट्टान (सहारा) है।"

जो वाक्य मोटे टाइप में दिये गयेहैं वह स्वयं अपने भाव को प्रगट करते हैं। आज भी स्त्री और पुरुष सहस्रों की संख्या में लण्डन के ट्रेफालगर स्क्वेयर में एक पाषाण बुत की विनय करने के लिए एकत्रित होते हैं। वे उस स्थान में चारों ओर रोशनी करते हैं; वह अपने उपासना के पदार्थ (मूर्ति) पर फूलों के हार चढ़ाते हैं। क्या उनका यह कार्य मूर्ति पूजा है? क्या वे मूर्तिपूजक हैं। नहीं,नहीं,यह बात साधारण रूप में भी असंभव है! कोई भी अंग्रेजों को मूर्तिपूजक नहीं ठहरा सकता है। यह पाषाण के टुकड़े की पूजा नहीं है, वे लोग उस

से कुछ भी वाञ्छा नहीं करते हैं। वे उसको आहार अर्चन नहीं करते हैं, न वे उसके निकट प्रार्थना करते हैं। यदि आप उन की इस 'बुत-पूजा' को ज़रा अधिक सूक्ष्म दृष्टि से देखेंगे तो आपको विदित हो जायगा कि यह पूजा उस भाव की भक्ति है जिसको वह बुत व्यक्त करता है।'* यह एक आदर्श पूजा है। एक वीतराग भगवानकी मूर्तिके समक्ष बिना किसी प्रार्थना याञ्चनाके विनय करना इसही आदर्शपूजाका अवलम्बन लेना है वस्तुवः आत्मा के उद्देश्य प्राप्ति में और उन महान पुरुषों की उपासना का, जिन्होंने उस आदर्श को प्राप्त कर लिया है, कार्य कारण रूपी अविनाभावी संबन्ध मिलता है: क्योंकि आदर्श-(उद्देश्य) सिद्धि के लिये एकाग्रचित्त की आवश्यकता है और उसकी प्राप्ति केवल उन्हीं लोगों का अनुसरण अर्थात् चरण चिन्हों पर चलने से संभव है जिन्होंने उसको प्राप्त कर लिया है। अतएव उन महान पुरुषों की उस ध्यान अवस्था को प्रतिबिम्ब भी हमारे लिए पूर्ण कार्यकारी है। उसका सहारा लेकर ही हम आदर्शरूप होने की योग्यता प्राप्त कर सकते हैं। यह कहना कि धातु-पाषाण किस रूप हमारे लिये कार्यकारी हो सकता है बिलकुल मिथ्या भावना है। आदर्श पूजा से अनभिज्ञता प्रकट करना है। जैसे कि ऊपर बतला दिया जा चुका है कि हमें मूर्ति से कोई ताल्लुक नहीं है। चाहे वह पाषाण की हो और चाहे स्वर्ण की हो; परन्तु वह हो ध्यानाकार शान्त मुद्रा को लिये हुए; क्योंकि हमारा उद्देश्य तो भावों की उपासना से है। उन ही भावों को अपने हृदय में भरने से है। कविवर मैथिली शरण की निम्न कविता से भी यही भाव स्पष्ट हो रहा है। बात यह थी कि एक राणा ने एक समन्त के समक्ष

---

*अमर जीवन और सुख का संदेश पृष्ठ ६-७

यह प्रतिज्ञा की थी कि वे उसके अमुक किले को तोड़ कर ही अन्न जल गृहण करेंगे। प्रतिज्ञा तो हो गई परन्तु उसकी पूर्ति के लिये दिनों की आवश्यकता थी। उतने दिनतक भूखे रहना कठिन था इसलिये प्रतिज्ञा पूरी करने के लिये मन्त्रियों द्वारा उस किले की मूर्ति को तोड़ने की योजना की गई थी। उसी समय उस उपस्थित सामन्त के हृदय में यह भाव उठे थे कि :—

'तोड़ने दूं क्या इसे नक़ली क़िला मैं मान के।
पूजते हैं भक्त क्या प्रभु मूर्ति को जड़ जान के॥
अज्ञजन उसको भले ही जड़ कहें अज्ञान से।
देखते भगवान को धीमान उसमें ध्यान से॥

रङ्ग में भङ्ग।

इससे पाठकों को मूर्तिपूजा का भाव और भी स्पष्ट हो गया होगा। अतएव प्रार्थना सम्बन्ध में हम पूरी तरह विचार कर यह देखते हैं कि प्रार्थना स्वयं हमको अपने आभ्यन्तर रूप परमात्मा ही की करनी है। परन्तु संसार के प्रपञ्चों में फँसे हमारे भौतिक-नेत्र उसके दर्शन सहसा नहीं कर सकते। इसलिए उन महान पुरुषों की रूपी मूर्तियों का अवलम्बन लेकर और उनके गुणों का बखान विनय पूर्वक करके हम अपने असली रूप को पा सकते हैं। परमोच्च सुख को प्राप्त कर सकते हैं। एक आचार्य इस ही बात को निम्न श्लोक द्वारा स्पष्ट करते हैं :—

देवेन्द्रचक्र महिमान ममेयमानं।
राजेन्द्र चक्र मवनीन्द्र शिरोर्चनीयम्॥
धर्मेन्द्र चक्रमधरीकृत सर्वलोकं।
लब्ध्वा शिवं च जिन भक्तिरुपैति भव्यः॥

अर्थात्—(परम सुखरूप वीतराग) जिनेन्द्र की है भक्ति

जिसके ऐसा भव्य जीव अपरिमित देवेन्द्र समूह की महिमा को और राजाओं के मस्तक से पूजनीय चक्रवर्ती के चक्र को तथा नीचे किया है समस्त लोक जिसने ऐसे तीर्थंकर पद को प्राप्त हो कर मोक्ष को पाता है। अतएव पाठकों को आदर्श पूजा द्वारा आत्मलाभ करना परमावश्यक है।

(५)

उपासना के शेषांग !

शिव को कारणभूत यह, दया रसायन पाय।
हिंसक सुखी निहार कर, व्याकुल चित्त न थाय॥
धर्म सूक्ष्म भगवान का, हिंसा में नहिं दोप।
धर्म मुग्ध इम कथन सुनि, कबहुं न हिंसा पोप॥
देवनि तें ही धर्म है, तातें तिन सब देय।
इम दुर्बुद्धि विचार कर, कबहु न जीव हणेय॥
पूज्य हेतु छागादिको, घाते दोषी नाहिं।
इम अतिथिन के हेतु भी, कबहु न जीव हणांहिं॥

—श्री पुरुपार्थसिद्ध्युपाय।

उपासना का दूसरा विषय यज्ञ बलिदान है। वास्तव में यदि प्राकृत रूप में हम देखें तो धर्म में इस की आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि हम ऊपर देख चुके हैं कि ईश्वर न किसी को प्रसन्न हो कुछ देता है और न अप्रसन्न हो किसी पर दुःखों का पहाड़ ढकेल देता है। प्रत्येक प्राणी अपने ही कृत कर्मों का फल भोगता है। जो वह बोता है उसी को वह काटता है। वह स्वयं ही अपने शुभ प्रयत्न द्वारा परम सुखी हो सकता है। और स्वयं ही अपनी परिस्थिति को कष्टमय बना सकता है। इसलिये इस 'सत्यमार्ग' में किसी भी दूसरे महान पुरुष के हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है। तो फिर शायद आप

पूछें कि संसार के विविध धर्मों द्वारा इसके प्रचार की क्या आवश्यकता थी ? इसके उत्तर में हमें तनिक उन धर्मों के यज्ञ-विधान सम्बन्धी वाक्यों को गम्भीरता पूर्वक पढ़ना चाहिये और फिर देखना चाहिये कि क्या वास्तव में उसमें पशु बलि-दानका विधान है? यह तो हम प्रथम ही देखचुके हैं कि आनन्द के सत्यमार्ग में अथवा सुख के राज्यमार्ग तक पहुंचने के लिये इस प्रारम्भिक गृहस्थ पगडण्डी में इन्द्रिय निग्रह की आवश्य-कता पड़ती है। महान पुरुष का विनय पूर्वक ध्यान करते हुए उनके चरण चिन्हों का अनुसरण करने के लिये अवश्य ही पञ्च पापों का त्याग करना पड़ता है। मन, वचन, काय को अपने आधीन रखना जाता है। शरीर का उपभोग हमको स्वयं करना होता है। स्वयं अपने को शरीर के आधीन नहीं करना होता है। स्वयं अपनी इन्द्रियों का बलिदान जीवित प्राणी को पवित्र स्वाभाविक वेदी पर समर्पण करना पड़ता है। प्रत्येक धर्म में इस ही बलिदान की आज्ञा मिल सकती है। जीवित प्राणियों का बलिदान कहीं भी जायज़ नहीं ठहराया जा सकता है। जहां सत्य है वहां यही बात मिलेगी और वास्तव में प्राचीन ज़माने में यह रिवाज चालू नहीं था। संसार में सब से प्राचीन ग्रंथ 'वेद' माने गए हैं। स्वयं उन में यथार्थ भाव से देखने में जीवित प्राणियों को बलि का निषेध है। उनमें तो जीवित प्राणियों की रक्षा करने का ही विधान है। अथर्ववेद की प्रथम ऋचा इस ही बात की शिक्षा देती है:-

'ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ १ ॥'

अन्वयार्थ—(ये) ये (त्रिषप्ताः) त्रिषु जलस्थलान्तरिक्षेषु प्रसक्ताः (विश्वारूपाणि बिभ्रतः) अनेक विध शरीराणि

धारयन्तो नाना जन्तवः (परियन्ति) सर्वत्र भ्रमन्ति (तेषाम्) जलस्थलान्तरिक्षचराणां विविधजीवानाम् (तन्वः) शरीराणि (बला) बलवान् श्रेष्ठ इति यावत् अथवा (बला) बलात्कारेणान्यायेनेति यावत् (वाचस्पतिः) वेदवाण्याः पालको विद्वान् (अघ) न हिनस्तु किन्तु (मे) मां प्रीणयन्तु (दधातु) पुष्णातु ।-भावार्थः-महाकारुण्यको जगदीश्वरो जीवान् बोधयन्तिः "सर्वैश्वर्यैक कारणीभूतायै मत्प्रीतये विद्वद्भिः सर्वे जन्तवः सदा रक्षणीयाः न च तेषु केचन हिंसनीयाः।"

(अहिंसा धर्म प्रकाश पृष्ठ २-३)

भाव यह है कि समस्त पृथ्वी, जल और आकाश में बहने वाले विविध प्रकार के जीवित प्राणी जो इस संसार में चक्कर लगा रहे हैं उनको वेदों का ज्ञान अथवा वेदों में श्रद्धा रखनेवाला व्यक्ति कभी न मारे, बल्कि जो मेरी (ईश्वर) की खुशी चाहे वह सदैव उनके प्राणों की रक्षा करे। इसी प्रकार यजुर्वेद (१८-२४) में भी कहा है कि "समस्त जीवित प्राणियों को मैं मित्रकीभांति सम भाव से देखूंगा और यजुर्वेद ब्राह्मण के निम्न शब्द भी वेदकाल में जीवित प्राणियों का होमा जाना अप्रमाणित करते हैं :-

"मनुष्य, घोड़े, बैल, मेंढे, ऊँट, बकरे, भैंसे आदि जीवित प्राणियों के शरीर चूंकि वीर्य से उत्पन्न हुए हैं, इसलिए यह सब अपवित्र हैं। अतएव इनको बिल्कुल नहीं भक्षण करना चाहिए। शालि के चावल और जौ, जो पवित्र अनाज हैं वही हवन के योग्य हैं। इसलिए उनको ही यज्ञ के बाद खाना चाहिए।"

(देखो आईने हमदर्दी भाग २ पृष्ठ २)

इसके साथ ही महाभारत का निम्न वर्णन वेदों में यथार्थतः

पशु बलिदान का निषेध करता है। कथा है कि एक राजा ने बैल का नष्ट किया शरीर देखकर एवं गउमेध में गउओं और बछड़ों की दुःखभरी बिलबिलाहट सुनकर और उन क्रूर ब्राह्मणों को वहां देखकर जो विधिपूर्वक यज्ञ कराने आए थे, यह कहा कि सर्वजीवों को संसार में अभय सुख मिले।...... और राजा ने कहा, केवल वे ही जो नियमित मर्यादा का उल्लंघन करते हैं, जो बुद्धिबल से हीन हैं; जो नास्तिक हैं और जो यज्ञों एवं धार्मिक क्रियाओं द्वारा, प्रशंसा प्राप्त करने की वाञ्छा रखते हैं, वे ही यज्ञों में पशुओं को होमने का ज़ोर से समर्थन करते हैं। मनु ने सर्व कार्यों में अहिंसा को ही प्रधानता दी है। सच है मनुष्य फल-प्राप्ति की कामना से मेरे यज्ञों में पशुओं को होमते हैं।.........'सुरा, मांस, मधु, मदिरा और चावल एवं सरसों के बीजों का समावेश छला मनुष्यों द्वारा किया गया है। इन सब को (यज्ञ में) होमना वेदों में वर्जित है। इन सब की कामना मान, भ्रम और कामवेदना से उत्पन्न होता है। वे जो सच्चे ब्राह्मण हैं प्रत्येक यज्ञ में विष्णु के अस्तित्व को पाते हैं।" (शान्तिपर्व २६५।१-१३)

इस से स्पष्ट है कि वेदों में पशु बलिदान वर्जित था। और वैसे भी जब हम वेदकाल की परमोच्चसीमा की सभ्यता का विचार करते हैं, जैसे कि उसे विलसन सदृश प्राच्यविद्या-महार्णवों ने प्रमाणित की है, तो हमको सहसा विश्वास नहीं होता कि वेद कालीन उक्त प्रकार अहिंसक हिन्दू ऋषियों ने पशु बलिदान अथवा नरमेध को स्वीकार किया हो! जो ऋषिगण हिंसकों को, राक्षसों को हिंसा के लिए श्राप देते हों वे किस तरह स्वयं हिंसा का उपदेश दे सकते हैं? ऋग्वेद

में राक्षसों और मांस भक्षकों को श्राप दिया गया। (देखो विलकिन्स हिन्दू मांइथोलोजी पृष्ठ २७) एक जगह उस में स्पष्ट कहा है कि "भक्षकगण सन्तानरहित हों।" (ऋग्वेद १ २१-५) अतएव यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि वेदों में बलिविधान स्वीकृत है। वास्तव में आवश्यक यह है कि वेदों को शब्दार्थ में न पढ़ा जावे, बल्कि उनके भावार्थ को ग्रहण करने से हमें उनमें आत्मोन्नति के लिए बहुत कुछ सामिग्री मिलती है। वेदों के विषय में एक आधुनिक विद्वान् तत्ववेत्ता के निम्न शब्द बड़े मार्के के हैं :—

"वेद भाषा बड़ी उत्तम शैली की काव्य रचना है। संस्कृत में उससे उत्तम अलङ्कार कम मिलेंगे। धर्मज्ञान के पूज्य नियमों को ही देवी देवताओं के रूपमें वर्णन किया गया है। वर्तमान समय के पुरुष बड़े सङ्कुचित विचारवाले होते हैं। बुद्धिमत्ता की अपेक्षा इनको शूद्र कहना अनुचित नहीं होगा। ऐसे लोगों को वास्तव में वेदों का पठन पाठन मना है कि यह कहीं कुछ का कुछ अर्थ न लगा लेवें। वेद बुद्धिगम्य ही हैं, परन्तु जब उनका अर्थ ग़लत लगाओगे तो वेदों का दोष कुछ नहीं है। इसलिए पिछले समय में विद्याओं में काव्य अलङ्कार निरुक्त आदि पर अधिक ज़ोर दिया जाता था। कारण यही है कि जो व्यक्ति कि काव्यरचना निरुक्त व अलङ्कार की विद्या से अनभिज्ञ है वह कभी वेद के वास्तविक भाव को नहीं समझ सकता। वर्तमानकाल में लोग वेद भाषा को शब्दार्थ में पढ़ते हैं। इस प्रकार तो यदि शूद्र भी संस्कृतभाषा सीखलें तो पढ़ सकेगा। तो फिर ब्राह्मण (बुद्धिमान्) ही को पढ़ने की आज्ञा क्यों दी जाती ? अस्तु, यथार्थ बात यह है कि वेद काव्य-अलङ्कार युक्त हैं और उनका अर्थ केवल ब्राह्मण (पंडित)

गण ही जान सकते हैं। शूद्र (तुच्छ बुद्धि के मनुष्य) नहीं *"

(गऊवाणी पृष्ठ २१।२२)

इस प्रकार वेदों को उनके यथार्थ भाव में पढ़ने से यज्ञ सम्बन्धी हिंसा का उनमें अभाव मिलता है। तो फिर यह जानना आवश्यक होता है कि यज्ञ विधान वेदों के नाम पर कब से प्रचलित हुआ है? संसार में हिंदू धर्म और जैन धर्म ही प्राचीन धर्म शेष हैं। बौद्ध आदि अन्य धर्म तो उपरान्त की रचनायें हैं। अतएव जैनधर्म हमें इस यज्ञ विषय में क्या बतलाता है यह देखना चाहिये। जैन शास्त्रों में वेदों को ब्राह्मणों को पवित्र कृति बतलाया गया है और कहा गया है कि एक समय राजा वसु के दरबार में एक व्यक्ति नारद और उसके गुरुभाई पर्वत में 'अज' शब्द के अर्थ पर जिसका प्रयोग देव पूजा में होता था, विवाद हुआ। इस शब्द के दो अर्थ हैं, एक तो तीन वर्ष के पुराने, न उगने लायक धान और दूसरे बकरा। पर्वत मांस लोलुपी था सो वह उसका अर्थ बकरा करता था। नारद पुराने अर्थ की पुष्टि करता था। सर्व जनता की सम्मति, सनातन रीति और प्रतिवादी की युक्तियों से पर्वत की पराजय हुई। परन्तु राजा को जो उसका शिष्य था अपने पक्ष में पर्वत ले आया और उससे अपने अर्थ की पुष्टि कराई। फलतः राजा मार डाला गया और पर्वत को दुर्गति के साथ निकाल दिया गया। इतने पर भी पर्वत हताश नहीं हुआ। अपने मत के प्रचार में दृढ़ प्रयत्न था इतने में ही एक उसे

---

* वेदों के मुख्य देवता सूर्य, इन्द्र और अग्नि आत्ममार्ग के त्रिविध रूप हैं। सूर्य सर्वज्ञता सूचक चिन्ह है। इन्द्र का भाव संसारी आत्मा कौन से है। अग्नि तपस्या की मूर्ति है जो मोक्ष का कारण है। इसका विशेष वर्णन, 'असहमतसंगम' और गऊवाणी में देखना चाहिये।

पटलवासी देव मिलगया जिसका वैर राजा सगर व सुलसासे था देव पर्वत का सहायक बन गया वह उसे राजा सगर के राज्य में लेगया। वहां उसने मरी रोग फैलाने प्रारम्भ किए। लोग त्राहि त्राहि करने लगे। पर्वत ने इससे बचने का उपाय मांस को आहुति बताई। लोग पहिले तो झिझके, परन्तु और कोई चारा न देख उन्होंने वही किया जो पर्वत कहता था। रोग कम हो गए। पर्वत पर उसका विश्वास जम गया। फिर क्या था। क्रमकर परवत ने उससे अज, अश्व, गो और अन्त में नरमेधयज्ञ कराया। मायावी विमान में होमित जीव को बिठाल कर ऊपर की ओर जाता हुआ वह देव सबको दिखाने लगा। लोगों को यज्ञों को मोक्षप्रदायक मानने में ज़रा भी आनाकानी नहीं है। अन्त में सागर और सुलसाने भी अपने आपको नर-मेध में भस्म करदिया। पटलवासी देवोकी इच्छापूर्ति हुई। उसने रोगादि भी शान्त करदिये और वह अपने स्थान को चलागया। इसलिए बलिदान का बहुत कुछ बनावटी प्रभाव चलेजाने पर भी रोगादि के अभाव में उसकी ओर प्रारम्भ में लोगों का ध्यान ही नहीं गया। धीरे२ इस विषय के आचार नियम और शास्त्रादि भी रच लिए गए। अनुमानतः ऋग्वेद के प्राचीन मन्त्रों में भी इस समय कुछ परिवर्तन करदिया गया था। ओर उसही की मान्यता धीरे २ सर्वत्र हो गई।

हिन्दू शास्त्रों में भी यज्ञों में पशुवध होमने की प्रथा का जन्म इसही प्रकार किञ्चित हेर फेर से मिलता है। महाभारत के शान्तिपर्व के ३३९ वें अध्याय में स्पष्ट लिखा है कि "एक दफा कुछ देवों ने उत्तम ऋषि ब्राह्मणों से कहा कि शब्द 'अज' का अर्थ बकरा लगाना चाहिये। ऋषियों ने इनका उत्तर इस भाँति दिया कि वैदिक श्रुति यह घोषणा करती है कि यज्ञ

केवल बीजों (अनाज)द्वारा ही किया जाता है, इन्हीं को 'अज' कहते हैं। बकरों का वध करना तुम को उचित नहीं है। ऐ देवताओ! वह धर्म भले और सदाचारी पुरुषों का नहीं हो सकता है? जब यह विवाद ऋषि और देवताओं में हो रहा था, उस समय राजा वसु वहां पर अकस्मात् आ निकले और उनको दोनों पक्षों ने अर्थात् देवताओं और ऋषियोंने इस बात के निर्णय के लिये अपनी ओर से पंच मुकर्रर कर दिया। राजा वसुने अन्याययुक्त होकर देवताओं का पक्षपात किया और शब्द 'अज' का अर्थ बकरा ही बतलाया। इस पर ऋषियों को क्रोध आया और उन्हों ने वसु को श्राप दिया जिस से वह पृथ्वी में धंस गया।' इसी शान्तिपर्व के ३३७ वें अध्याय में लिखा है कि वसु ने एक समय अश्वमेध यज्ञ किया और उसमें किसी प्राणी का वध नहीं किया था वरन् यज्ञ को समस्त सामिग्री जंगली उपज की थी। अतः यह स्पष्ट है कि प्रारंभ में यज्ञ बिना पशुवधके होते थे।" (गऊवाणीपृष्ठ ८१-८२)

'महाभारत' के अश्वमेधपर्व में भी एक इसी भावको प्रकट करने वाली कथा दी हुई है। उसमें जब दोनों ने जीवित पशुओं को होम के लिए पकड़ा तब बड़े बड़े ऋषियों को दया आई। वे ऋषिगण देवों के राजा शक्र के पास गए और उसे इस प्रकार के यज्ञ का अनौचित्य दर्शाया। उसे अधर्म-पूर्ण कृत्य बतलाया और अनाज के दानों से ही यज्ञ करने का परमर्श दिया। इस पर अन्य ऋषियों से विवाद खड़ा हो गया। मामला निबटारे के लिए एक राजा के सुपुर्द किया। राजा ने दोनों प्रकार के यज्ञों को ठीक बतला दिया। परिणामतः राजा मरकर नरक में गया। (अश्व० ९२।११-२५)

बौद्धों के यहां भी यज्ञ बलिदान की उत्पत्ति के विषय में

स प्रकार की कथा किञ्चित हेर फेर से प्रचलित है। उन के 'सुत्तनिपात' नामक ग्रंथ के सातवें 'ब्राह्मण धम्मक सुत्त' में यह कथा इस प्रकार अङ्कित है कि प्राचीन ब्राह्मण ऋषि इन्द्रिय निग्रह में दत्तचित्त क्षमाशील थे। उनसे पांचों इन्द्रियों के विषय दूर थे। अपने ही आत्मलाभ में वे लीन थे। उनके पास न पशुधन था और न ऐहिक सम्पत्ति थी। केवल उन के पास आत्मध्यान का अपूर्व ख़ज़ाना था। उसही को संभाल वे रखते थे। ऐसे ही रंगविरंगे कपड़ों को पहिनने वाले ब्राह्मणोंकी पूजा दूर २ के लोग किया करते थे। ४० वर्ष तक ये ब्राह्मण गण अखण्ड ब्रह्मचर्य्य का अभ्यास करते थे। वे विवाह भी नहीं करते थे। यदि सजातीय स्त्री से प्रेम होगया तो वे उसके साथ रहने लगते थे। वे शीलधर्म, क्षमा, दया, संतोष, व्रत आदि की सराहना करते थे। उनमें कोई सर्वोत्कृष्ट स्वप्न में भी स्त्री संभोग की वाञ्छा नहीं करता था। उनही का अनुकरण अन्य भी करते थे। यह लोग चावल, कपड़े, घी और तेल उचित रीति से इकठ्ठा करके उनसे यज्ञ करते थे। और वे यज्ञों में गउओं को नहीं होमते थे। माता, पिता आदि सम्बन्धियों की भांति गायें भी हमारी सर्वोत्तम हितैषिणी हैं। ऐसे साहसी और धर्म निष्ठ ब्राह्मणों का अस्तित्व जब तक रहा तब तक यह जाति भी फलती फूलती दशा में रही। परन्तु उपरान्त उनमें एक परिवर्तन होगया। राजाओं के ऐश्वर्य और सम्पत्ति को देख कर उनका जी ललचा आया। तब उन्हों ने इस संबंध में ऋचायें रचकर राजा ओक्काक के पास जाकर कहाः तुम्हारे पास बहुत धन है–अनाज है। तुम अपनी सम्पत्ति और धन का यज्ञ करो।

तब उस राजा ने ब्राह्मणों के कहने पर अश्वमेध, पुरुष-

मेध, आदि यज्ञ किए और उनको विशेष सम्पत्ति दक्षिणा में दी। इससे उन ब्राह्मणों की आकाङ्क्षा और अधिक बढ़गई। उन्होंने पशुधन आदि चाहा। बस फिर ऋचाएं रचकर वे राजा ओक्काक के पास पहुंचे और उससे गऊमेध कराया, जिस में हज़ारों गायें होमदी गईं। इस पर देवता, पितृगण, इन्द्र, असुर और राक्षस चिल्ला उठे कि यह घोर अन्याय है। इसके पहिले तीन रोग थे, परन्तु इसके कारण ९८ रोग उत्पन्न होगए। यह अन्याय प्राचीन समय से चला आरहा है। यह ब्राह्मण धर्म से च्युत होगए हैं।" इस तरह बौद्धों के कथन से भी यही प्रमाणित है कि प्राचीन ऋषि यज्ञ में चावल आदि ही होमते थे। पशुओं के प्राणों को धर्म के नाम पर नष्ट नहीं करते थे। (The Sutta Nipata; SBE; Vol x. Pt. II pp 47—52)

सारांश यह कि इन बातों से प्रमाणित है कि संसार के उपलब्ध ग्रंथों में सर्व प्राचीन माने जानेवाले वेद यज्ञों में पशुहिंसा का विधान नहीं करते हैं। वह अलंकृत भाषा में लिखे हुए हैं। इस लिए उनके मूल भाव को कोई नहीं समझ सकता है। मालूम होता है कि पूर्व समय में विद्वानों के मध्य अलंकृत भाषा में लिखने का एक रिवाज़ पड़ गया था। और इस भाषा का प्रचार चहुं ओर दूर दूर तक हो गया था। पारसियों का जेन्दावेस्था; यहूदियों के मान्य ग्रन्थ, मुसलमानों की रवायत और ईसाइयों की बायबिल भी इसही अलंकृत भाषा में लिखे मिलते हैं।* संभव है कि इन मत प्रवर्तकों को बहुधा ऐसे लोगों से पाला पड़ता हो, जो सहसा अपनी चिरगृहीत रिवाजों के ख़िलाफ़ कुछ सुनना नहीं चाहते थे। ऐसे मूढ़ लोगों के

---

* इसके लिए मि० चम्पतराय जी का असहमत संगम देखना चाहिये।

कानों तक भी इन मत प्रवर्तकों को सच्चे धर्म का संदेश पहुं-चाना इष्ट था। इसलिए उन्हों ने उस समय विद्वानों में प्रच-लित अलंकृत भाषा में ही अपने धर्मशास्त्रों की रचना की होगी। क्योंकि यह स्वाभाविक बात है कि विद्वानों में मान्य अथवा सभ्यसमाज द्वारा आदर की जाने वाली भाषा में प्राणी अपने धर्म ग्रंथों की रचना करे। इससे उन मूढ़ लोगों में जो बुद्धि-मान् थे वे शीघ्र ही इन मत प्रवर्तकों की शरण में आगए और उनकी सहायता से उन लोगों में उनके धर्म का प्रचार भी आसानी से हो सका! इसही बात को प्रत्येक धर्म प्रवर्तक ने अपने ही ग्रंथ में प्रकट कर दिया है। इस लिए प्रत्येक धर्म शास्त्र को बड़ी होशियारी के साथ पढ़ना चाहिये।

हिन्दू शास्त्रों के उक्त विवरण से प्रमाणित है कि उन के निकट यज्ञ में हिंसा करनी ठीक नहीं बतलाई गई है। हिन्दू धर्म के निम्न शास्त्र-वाक्य भी इसही बात की पुष्टि करते हैं। रामायण में वर्णित है कि जब रामचन्द्र जी राजसूर्य यज्ञ करने को चले तो भरत ने उनसे कहा 'आप समस्त पशुओं और सारे संसार के रक्षक हैं। इसलिए आप का इस यज्ञसे क्या उपकार हो सकता है? ऐसे यज्ञ से तो सारे राजवंश नाशको प्राप्त होते हैं।'

महाभारत में कहा है कि "वे मूल्यमय यज्ञों में ब्रह्म की उपासना नहीं करते हैं। वे धर्म के मार्ग का अनुसरण करते हैं। वे जो यज्ञ करते हैं उन से किसी भी जीवित प्राणी को कष्ट नहीं पहुंचता। वे लोग केवल वृक्ष और फल फूल एवं जड़ों को ही हवि द्रव्य मानते हैं। ··· ···ये द्विजगण, यद्यपि उनके सर्व कार्य पूर्ण हो चुके हैं, अब भी यज्ञ इसही इच्छा से करते हैं कि सर्व प्राणियों की भलाई

हो और वे अपनी आत्माओं को ही हविपदार्थ ख्याल करते हैं।" (शान्ति २६६,२५-२६) इस उद्धरण से तो यही भान होता है कि हिन्दू आचार्य एक जैनाचार्य के शब्दों को दुहरा रहा है। जैन शास्त्रों में महाभारत के पुरातन पुरुषों को अहिंसाधर्म सेवी लिखा है। और उन्हें अपनी आत्मोन्नति का ध्यान था, यह प्रगट किया है। जैन पांडवपुराण अथवा द्विसंधान काव्य में पाठकगण इसही बात को पायेंगे। और यहां हिन्दू आचार्य भी उन्हीं के कथन की पुष्टि कर रहा है। इस से जैन शास्त्रों का यह कहना सत्य प्रमाणित होता है कि प्राचीनकाल में पहिले धर्म के नामपर हिंसा नहीं होती थी। ब्राह्मण वर्ण पूर्ण अहिंसक और विशेष आत्मोन्नति को प्राप्त अभिवन्दनीय था। परन्तु भगवान् शीतलनाथ जी के समय से उनमें शिथिलाचार प्रवेश कर गया और अन्ततः भगवान मुनिसुव्रतनाथ के समय में, जिनके तीर्थकाल में श्री रामचन्द्र जी हुए थे, वे अहिंसा धर्म से अलग होगये और यज्ञों में पशुहिंसा करनेलगे। इस विषय की पुष्टि के लिए उन्होंने आचारग्रन्थ भी रचलिए यह हम ऊपर देख चुके हैं। सारांशतः इस से यह प्रमाणित है कि भारतवर्ष में प्राचीनकाल के प्रारम्भ में धर्म के नामपर हिंसा जायज़ नहीं थी। जैनधर्म प्रारम्भ से ही अहिंसा धर्म का उपदेश देता चला आरहा है; जिनके प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभनाथ जी को हिन्दूपुराण भी स्वीकार करते हैं।

श्री मद्भगवतगीता में भी ज्ञान यज्ञ ही सर्वोत्तम यज्ञ कहा है। उसमें कहीं भी धर्म के नामपर हिंसा करने का विधान नहीं किया है। स्पष्ट लिखा है कि "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।" भगवद्गीता के चौथे अध्याय के २४ वें तथा २६ से ३१ वें श्लोक तक इसही प्रकार के आत्मीय यज्ञ का

विधान किया गया है। महाभारत के निम्न शब्द तो धार्मिक अहिंसा के महत्व को पूर्णतः प्रगट करते हैं :-

"हे राजन्! वह पुरुष जो सर्व प्राणियों को अपने अहिंसक भाव का विश्वास दिला देता है वह परमोच्च स्थान को प्राप्त होता है। सर्व प्राणियों को अपने पूर्ण अहिंसाभाव का विश्वास दिलाने का फल जो एक पुरुष पाता है वह एक हज़ार यज्ञों के करने अथवा प्रतिदिन उपवास करने से नहीं मिल सकता। सर्व को सर्व वस्तुओं में प्राणही सब से अधिक प्यारे हैं। इसलिए सर्व के प्रति दयाभाव रखना चाहिये।" (स्त्री १०, २५-२८) और उसी के शान्तिपर्व के निम्न वाक्य धर्म किस यज्ञ में है इसको स्पष्ट कर देते हैं :—

"यज्ञ में प्राणियों को अवश्य ही दुःख पहुंचाया जाता है, क्योंकि यज्ञ विना हिंसा के नहीं किये जाते। इस लिये हे युधिष्ठिर! ऐसा यज्ञ कर, जिसमें कभी भी हिंसा न हो!"

"इन्द्रियों को पशु बनाओ, धर्म को वेदी बनाओ, अहिंसा की आहुति दो। ऐसा आत्मा का यज्ञ मैं हमेशा करता हूं।"

हिन्दू शास्त्रों में यज्ञ हिंसा का विरोध तो देख लिया, अब ज़रा यह भी जानना हितकर होगा कि उनमें अश्वमेधादि का क्या मतलब बतलाया है? यदि उन से जीवित प्राणियों के होमने का विधान नहीं है तो किस बात का है?

हिन्दुओं के 'शतपथ ब्राह्मण' में इन यज्ञों का स्वरूप इस तरह समझाया है :—

"अश्वमेध यज्ञ--अश्व=मुल्क, आग। मेध=घी अर्थात् देश (मुल्क) से यज्ञ की सामिग्री इकट्ठी करकर यज्ञ करना, न कि घोड़ा मार कर हवन करना, अथवा आग में घी डालना।

गऊमेध यज्ञ— गऊ=अनाज, पृथ्वी। अनाज के द्वारा

हवन करना, न कि गाय को मारकर हवन करना।

नरमेध यज्ञ—अतिथिसत्कार यज्ञ है। अर्थात् जो महात्मा गृहस्थों को उपदेश करने आते हैं उनका आदर, विनय और सेवा करना, न कि नरों को मारकर हवन करना।"

और पंचतन्त्र में अजमेध का भाव तीन वर्ष के पुराने चावल को होमना बतलाया है। न कि बकरों को होम देना। अब ज़रा आइये इन शब्दों के अर्थ व्याकरण की दृष्टि से क्या होते हैं, यह भी ज़रा देख लीजिए।

अश्वमेध—अश्व=जो न बढ़े न घटे—ऐसा सिर्फ परमात्मा है। अतएव परमात्मा में मन लगाकर जो कार्य किया जाय वह अश्वमेध है।

गऊमेध—गऊ इन्द्रियों को कहते हैं। इनको दमन करके जो कार्य किया जाय, वह गऊमेध है।

नरमेध—नृ अर्थात् सर्व संसार का स्वामी। इसमें दिल लगाकर जो कार्य किया जाय वह नरमेध है।

अजमेध—अजा अर्थात् जो उत्पन्न न हो। अतएव परमात्मा में हृदय लगाकर जो कार्य किया जाय वही अजामेध है।

(देखो आइने हमदर्दी भाग २ पृष्ठ २-४)

इस प्रकार हिन्दू शास्त्रों से यह प्रमाणित नहीं होता कि धर्म के नामपर हिंसा की जावे। प्रत्युत यज्ञ का भाव उनसे आत्मनिग्रह का ही प्रतिभाषित होता है। अश्वमेध का भाव जो बृहद् आरण्यक उपनिषद् में दिया है, उस से इस बात को और भी खुलासे ढंग से पुष्टि होती है। उसमें लिखा है कि:—

"ओ३म्! प्रातःकाल वास्तव में यज्ञ के अश्व का सिर है; सूर्य्य उसका नेत्र है, वायु उसकी स्वांस है; उसका मुख सर्व

त्यागी अग्नि है ; कर्ण बलिदान के घोड़े का शरीर है। स्वर्ग लोक उसकी पीठ, आकाश उसका उदर और पृथ्वी उसके पांव रखने की चौकी है। ध्रुव (Poles) उसके कटिभाग हैं; पृथ्वी का मध्य भाग उसकी पसुलियां हैं। ऋतुयें उसके अवयव हैं, महीना और पक्ष उसके जोड़ हैं; दिन और रात उसके पाँव हैं; तारे उसकी हड्डियां हैं, और मेघ उसका मांस है। रेगिस्तान उसके भोज्य हैं जिनको वह खाता है: नदियां उसकी अँतड़ियाँ हैं, पहाड़ उसके जिगर और फेफड़े हैं, वृक्ष और पौधे उसके केश हैं; सूर्योदय उसके अगाड़ी के भाग हैं। और सूर्यास्त उसके पीछे के भाग हैं। जब वह जमुहाई लेता है तो बिजली होती है; जब वह हिनहिनाता है तो वह गर्जता है, जब वह मूतता है तो वह बरसता है, उसका स्वर वाणी है. दिन वास्तव में उसके सामने रक्खे हुए यज्ञ के बर्तन की भांति है, उसका पलना पूर्वी समुद्र में है, रात वास्तव में उस के पीछे रक्खा हुआ बर्तन है, उसका पलना पश्चिमी समुद्र में है. यह दोनों यज्ञ के बर्तन घोड़े के गिर्द (इधर उधर) रहते हैं: घुड़दौड़ के अश्व के तौर पर वह देवताओं का वाहन है; युद्ध के घोड़े की भांति वह गन्धर्वों की सवारी है; तुरङ्ग के सदृश वह असुरों के लिए है, और साधारण घोड़े के समान मनुष्य के लिए है। समुद्र उसका साथी है, समुद्र उसका पलना है।"

"यहां संसारबलिदानके घोड़ेके स्थानमें पायाजाता है। इस का यही भाव है कि योगी को संसारका त्याग करदेना चाहिए संसार इन्द्रियों के समूह मनका विषय भोग है और उसका सर्वथा त्याग करदेना मोक्षमार्ग में उन्नति करने के लिये अति आवश्यक है। मन घोड़े की भांति चञ्चल है और उसी प्रकार

शरीर को इधर उधर खींचे फिरता है; जिस प्रकार घोड़ा रथ को खींचता है। इसलिये अश्वमेध का अर्थ समस्त संसार के भोगों और पदार्थों के त्याग का है। इसी प्रकार और प्रकार के यज्ञों का भी भाव है। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट बतलाया गया है कि स्वयं मनुष्य ही बलि का पशु है। महाभारत के अश्वमेध पर्व में इस गुप्त रहस्य की व्याख्या पूर्णरूप से कर दी गयी है। वहां यह बता दिया गया है कि दस इन्द्रियां यज्ञ करनेवाली हैं, उनके विषय समाधि हैं, उनका स्वाहा करना बलिदानहै,चित्त का करसा (श्रवा) है।"

(गऊवाणी ६२-६३)

वस्तुतः यज्ञ बलिदान का भाव परमात्म तत्व की प्राप्ति का है। मनुष्य को अपने में स्थित अधमत्व को बलि करके परमात्मपद को प्राप्त करना ही उनसे इष्ट है। वेदान्त रामायण में यही लिखा है :-

त एव ब्राह्मणाः सर्वे गावश्च सत्क्रियाः स्मृताः ।
तांश्चैव भक्षितास्सर्वा राक्षसै रतिहिंसनैः ।
नित्याभ्यासो वेदयज्ञस्तेनातीव विनाशितः ॥

अर्थः—"ये सब सुन्दर धर्म ब्राह्मण हैं-इन धर्मों की क्रिया सोई गऊ है-इन ब्राह्मण गौवों को भी जीव मारने में पड़े चतुर जो राक्षस सो खाय लेते.भये। भगवान को ध्यान नित्य करना सोई वेद की यज्ञ है-उस यज्ञ को भी राक्षसों ने नाश किया।"
(वेदान्तरामायण, लक्ष्मी वेङ्कटेश्वर प्रेस पृष्ठ ४७)

हिन्दू शास्त्रों के निम्न उद्धरण भी उक्त बात की पुष्टि करते हैं:-

(१) "बलिदान कर्ता स्वयं बलिका पशु है। स्वयं बलि दान कर्ता को बलिदान स्वर्ग पहुंचाता है।" (तैत० ब्रा० ३।१।२।४-२)

(२) "बलिदान कर्त्ता ही पशु है।" (श० ब्रा० ११।१-८)

(३) " अन्ततः पशु स्वयं बलिदान कर्ता है।" (तैत० २ । २, ८-२)

(४) " बलिदान कर्ता वस्तुतः स्वयं बलि है।" (तैत० ब्र० १ । २८)

(५) " योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
सजीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते ॥

अर्थात्-अहिंसक (निरपराधी) जीवों को जो अपने सुख की इच्छा से मारता है वह जीता हुआ भी मृतप्रायः है, क्यों कि उसको कहीं सुख नहीं मिलता।" (निर्णयसागर प्रेस की मनुस्मृति ५ । ४५ पृष्ठ १८७) ।

(६) मनुजी कहते हैं :—

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
मांसानि च न खादेद् यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥ ५३ ॥

भावार्थ-वर्ष वर्षमें एक पुरुष अश्वमेध करके सौ वर्ष तक यज्ञ करे और एक पुरुष बिल्कुल कोई मांस न खाय तो उन दोनों का समान ही फल है।

(७) व्यास जी पुराणों में इस तरह कहते हैं :—

" ज्ञान पाली परिक्षिप्ते ब्रह्मचर्यदयाऽम्भसि ।
स्नात्वाऽति विमले तीर्थेपाय पङ्कापहारिणि ॥"
" ध्यानाग्नौ जीवकुण्डस्थे दममारुतेदीपिते ।
असत्कर्म समित्क्षेपैरग्निहोत्रं कुरुत्तमम् ॥"
" कषायपशुभिर्दुष्टैधर्मकामार्थ नाशकैः ।
शममन्त्र हतैर्यज्ञं विधेहि विहितं बुधैः ॥"
" प्राणिघातात्तुयो धर्ममीहते मूढ़ मानसः ।
स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाऽहि मुखकोटरात् ॥"

अर्थात्-ज्ञानरूप पाली से युक्त ब्रह्मचर्य और दया रूप

जलमय अत्यन्त निर्मल पापरूप कीचड़ को दूर करने वाले तीर्थ में स्नान करके ध्यानाग्निमय दमरूप वायुसे संतप्त हुआ जीवरूप कुण्ड में असत्कृत्यरूप काष्टों से उत्तम अग्निहोत्रोंको करिए। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायरूप दुष्ट पशुओं को (जो धर्म, अर्थ तथा कामको नाश करने वाले हैं) शमरूप मंत्रसे मारकर पण्डितोंसे किए हुए यज्ञ करो। और प्राणियों के नाश से जो धर्म की इच्छा करता है वह श्यामवर्ण सर्प के मुख से अमृत की वृष्टि चाहता है।-(अहिंसा दिग्दर्शन पृष्ट २६)।

(८) सांख्यदर्शन कहता है :—

"यूपं छित्त्वापशून् हत्वा कृत्वा रुधिर कर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे नर्के केन गम्यते ?"

अर्थात्—यज्ञस्तम्भ को छेद कर, पशुओं को मारकर रुधिर का कीचड़ करके यदि स्वर्ग में गमन होता हो तो फिर नरक में किन कर्मों से गमन हो सकेगा ?

(९) अर्चिमार्गियों के उद्गार हैं :-

"देवापहहारव्याजेन यज्ञव्याजेन येऽथवा।
घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा घोरां ते यान्ति दुर्गतिम्॥"

भावार्थ-देव की पूजा के निमित्त या यज्ञकर्म के निमित्त से जो निर्दय पुरुष प्राणियों को निर्दय होकर मारता है वह घोर दुर्गतिमें जाता है।

(१०) वेदान्ती कहते हैं :-

"अन्धे तमसि मज्जामः पशुभिर्ये यजामहे।
हिंसा नाम भवेद् धर्मो न भूतो न भविष्यति॥"

भावार्थ-जो हम लोग यज्ञ करते हैं वह अन्धकारमय

स्थान में डूबते हैं क्योंकि हिंसा से न कदापि धर्म हुआ और न होगा ।

(११) हिन्दू पद्मपुराण (आनन्दाश्रम सीरीज़) के अध्याय २८० पृष्ठ १६०८ पर लिखा है कि :-

"यक्षाणां च पिशाचानां मद्य मांस भुजां तथा ।
दिवौकसां तु भजनं सुरा पान समं स्मृतम् ॥ ६५ ॥

भावार्थ-"यक्ष, पिशाच और मद्य मांस प्रिय देवताओं का भजन सुरापान के समान ही कहा है। अर्थात् सुरापान करने से जो पाप-बन्ध होता है वही पापबन्ध इन देवताओं के भजन से भी होता है। फिर भी जो लोग श्राद्ध में मांस खाने का आग्रह करते हैं उन लोगों ने प्रायः श्रीमद् भागवत के ७ वें स्कन्धका १५ वां अध्याय नहीं देखा है यदि देखा होतातो कभी आग्रह नहीं करते । देखिये उसके श्लोक ७वें और ११वें को :-

"न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद् धर्मतत्व वित ।
मुन्यन्नैः स्यात परा प्रीतिर्यथा न पशु हिंसयाः ॥ ७ ॥
तस्माद्दैवोपपन्नेन मुन्यन्ने नापि धर्म वित् ।
संतुष्टोऽहरहः कुर्यान्नित्य नैमित्तिकीः क्रियाः ॥ ११ ॥

"भावार्थ-धर्म तत्व के ज्ञाता पुरुष तो श्राद्ध में न किसी को मांस देते हैं और न खाते हैं। क्योंकि मुनियों के खाने योग्य व्रीही आदि शुद्ध अन्न से पितरों को जैसी परम प्रीति होती है, वैसी पशु की हिंसा से नहीं होती। ११ वें श्लोक के पहिले अर्थात् दसवें श्लोक में कहा है कि यज्ञ करने वाले को देखकर पशु डरते हैं कि यह हत्यारा अज्ञानी हम लोगों को मारेगा, क्योंकि यह पर-प्राण से स्वप्राण का पोषण करने वाला है ।"

(अहिंसा दिग्दर्शन पृष्ठ ६०-६१)

(१२) बृहन्नारदीय पुराणके अध्याय १२में भी लिखा है:—

"देवरेण सुतोत्पत्ति मधुपर्के पशोर्वधः ।
मांस दानं तथा श्राद्धे वानप्रस्थाश्रमस्तथा ॥
इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः ।"

भावार्थ—"अश्वमेध, गोमेध, सन्यासी होना, श्राद्ध सम्बन्धी मांस भोजन और देवर से पुत्र की उत्पत्ति, ये पांचों बातें कलियुग में वर्जित हैं ।

(१३) पशु यज्ञ करने वाले से विनति करता है कि :—

"नाहं स्वर्गफलोपभोग तृषितो नाभ्यर्थितस्त्वं मया ।
संतुष्टस्तृण भक्षणेन सततं साधो ! न युक्तं तव ॥
स्वर्गे यान्ति यदित्वया विनिहता यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो ।
यज्ञं किं न करोषि मातृ पितृभिः पुत्रैस्तथा बान्धवैः ॥

भावार्थ—"हे यज्ञ करने वाले महाराज ! मैं स्वर्ग के फलोपभोग का प्यासा नहीं हूं और न मैंने तुम से यह प्रार्थना ही की है कि तुम मुझे स्वर्ग पहुंचा दो, किन्तु मैं तो केवल तृण के ही भक्षण से सदा प्रसन्न रहता हूँ । अतएव हे सज्जन ! तुम्हें यह कार्य (यज्ञ) करना उचित नहीं है, और यदि तुम्हारा मारा हुआ प्राणी स्वर्ग में निश्चय से जाता ही हो, तो इस यज्ञ में अपने माता पिता आदि बन्धुओं को ही मारकर स्वर्ग क्यों नहीं पहुंचा देते ?"

(१४) एक महात्मा कहते हैं कि :—

"रसातलं यातु यदत्र पौरुषं क्व नीतिरेषाऽशरणो ह्यदोषवान् ।
निहन्यते यद्बलिनाऽति दुर्बलो हहा ! महा कष्टमराजकंजगत ॥"

भावार्थ—"जो दुर्बल जीव बली से मारा जाता है इस विषयमें जो पौरुष है वह रसातल को चला जाय; और अदोषवान यानि निर्दोष जीव अशरण हो अर्थात् उसका कोई रक्षक

न हो, यह कहां की नीति है। बड़े कष्ट की बात है कि बिना न्यांयाधीश संसार अराजक हो गया है।"

(१५) कठोपनिषद् में भी पूछा गया है :-

'सत्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वं श्रद्धानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥

भाव यह है कि वह अग्नि कौनसी है जिससे अमरत्व प्राप्त होता है। उत्तर में कहा गया है कि :-

'प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्त लोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धित्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥ १४ ॥
लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथावा।
सचापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्त मथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥ १५ ॥

अर्थात्-अग्नि कौनसी है और कौनसी ईंटें आदि काम में लानी होंगी। इस रूप का यज्ञ घी, पुष्प आदि से किया जाता है। और यह नाचिकेत यज्ञ कहा गया है कि यज्ञकर्ता को यह पुल रूप है। यही परमोत्कृष्ट अविनाशी ब्रह्म है। यही अभयस्थान को पहुंचाने के लिये पुल है। यथा :-

"यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परं।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि ॥ २ ॥"

इस ही प्रकार के यज्ञ करने की अभिलाषा इस उपनिषद् में की गई है। उक्त प्रकार हिन्दू धर्म में हम बलि हिंसा का पूर्णतः निषेध पाते हैं। उन में धर्म के नाम पर जो हिंसा होने लगी थी वह किस दुःसमय के प्रभाव के कारण हुई थी, यह ऊपर बताया जा चुका है। अतएव यह प्रत्यक्ष प्रगट है कि भारतवर्ष से ही धर्म के नाम पर हिंसा करने का प्रचार अन्य देशों में हो गया था। इस ही बात की पुष्टि निम्न विवरण से भी होती है :-

"इस में सन्देह नहीं है कि एक समय में यह (बलिदान विधान) बहुत दूर देशों तक फैलगया था और म्लेच्छ देश के वासियों ने भी इसको स्वीकार करलिया था। इसी कारण से पश्चात् को यह कभी पूर्णतया बन्द नहीं होसका : यद्यपि अधिक बुद्धिवाले मनुष्य शीघ्र इस बात को जान गए थे कि बलिदान का प्रभाव वास्तविक नहीं वरन् असत्य है और उन्होंने इस बात को निश्चित करलिया कि रक्त का बहाना अपनी या बलि प्राणी की मुक्ति का कारण कभी नहीं हो सकता। परन्तु इस प्रथा की जड़ें दूर २ तक फैलगई थीं और एकदम नष्ट नहीं हो सकती थीं। यह बहुत समय व्यतीत होजाने के पश्चात् हुआ कि बलिदान की प्रथा के विरोध में जो लहर उठी थी उसमें इतनी शक्ति पैदा होगई थी कि सुधार का काम कर सके। इस निमित्त से चिन्हाश्रित यानी भावार्थ का आधार यज्ञ शास्त्रों के अर्थ बदलने के हेतु ढूंढा गया, और मुख्य जाति के बलि पशुओं के लक्षणों और उनके नामों और युक्तिक भावों के गुप्तार्थ क़ायम करने के लिए प्रयोग किया गया। इस प्रकार मेंढ़ा, बकरा, सांढ़, जो बलि पशुओं में तीन मुख्य जाति के जीव हैं, आत्मा को कुछ घातक शक्तियों के, जिनका नाश करना आत्मिक शुद्धता की वृद्धि व मोक्ष के हेतु आवश्यकीय है, चिन्ह ठहराये गये। यह युक्ति सफल हुई, क्योंकि एक ओर तो उसने यज्ञ की विधि को ईश्वरीय वाक्य की भांति अखण्डित छोड़ा और दूसरी ओर बलिदान की अमानुषिक प्रथा को बन्द करदिया और मनुष्यों के विचारों को इस विषय में सत्यमार्ग की ओर लगादिया। परन्तु पाप के बीज में, जो बोयागया था इतनी अधिक फूटकर फैलने की शक्ती थी कि वह बलिदान सिद्धान्त के भावार्थ के बदल जाने से पूर्णरूप से

नष्ट न होसकी। क्योंकि तमाम गुप्त शिक्षावाले अर्थात् अलङ्कारयुक्त मतों ने, बलि के ख़ून द्वारा स्वर्ग में जा पहुंचने की नवीन प्रथा को स्वीकार करलिया था और वह सहज में ही एक ऐसी रीति के छोड़ने के लिये, जिस में उनके प्रिय भोजन अर्थात् मांस खाने की क़रीब २ साफ़ तौर से आज्ञा थी, प्रस्तुत नहीं किये जा सके।

"यहूदियों के मन में भी ऐसाही परिवर्तन एक समय में हुआ जैसा कि हिन्दूधर्म में हुआ। सैमवल-१ अध्याय १५ आयत २२ में लिखा है :-

"क्या ख़ुदावन्द को सोख़तनी कुरवानियों और ज़वीहों में उतनी ही खुशी होती है जितनी कि ख़ुदावन्द की आवाज़ की सुनवाई में ? देख ! आज्ञा पालन करना वलिदान करने से अच्छा है और सुनवा होना मेड़ों की चर्वी से।"

"यह एक प्रचलित रीतिका प्रवल खण्डन है। शास्त्र के भावार्थको बदलनेका प्रयत्न इस वाक्यसे स्पष्ट होजाता है :-

'मैं तेरे घर से कोई बैल नहीं लूंगा और न तेरे बाड़े में से बकरा.........अगर मैं भूखा होता तो तुमसे न कहता......क्या मैं बैलों का मांस खाऊँगा और बकरों का खून पिऊँगा? ईश्वर को धन्यवाद दे और अपने प्राणों को परमात्माके समक्ष पूराकर।'—ज़बूर ५० आयात ६-१५।

"जरेमिया नबी की किताब इस विचार को और पुष्टि करती है और इस प्रकार ईश्वरीय वाक्य बतलाती है:-

'.........मैंने तुम्हारे पुरुषाओं को नहीं कहा, न उनको आज्ञा दी.........भूनी हुई बलि और ज़बीहों के लिये, परन्तु इस बात की मैंने उनको आज्ञा दी कि मेरी बात को सुनो.... और तुम उन सब रीतियों पर चलो जो कि मैंने तुमको बतलाई

हैं ताकि तुम्हारे लिये लाभदायक हो।' (जरेमिया नबी की किताब अध्याय ७ आयत २१-२३)······इस प्रकार इस कुरीति का प्रारम्भ हुआ। यह महान दुखकारी और कष्टदायक है और मनुष्य को बजाय मोक्ष या पुण्य के लाभ के नर्कगामी बनाती है।" (गऊवाणी पृष्ठ ८८-८९) यही कारण है कि आज हिन्दूलोग यज्ञ सम्बन्धी मन्त्रों का अर्थ भावार्थ में लगाते हैं एवं गऊ और नरमेध को धार्मिक समझ उनका घोर विरोध करते हैं। इनके साथही अब अश्वमेध भी उनमें करीब २ बिलकुल बन्द होगया है। केवल अजमेध के बजाय कुछ मनुष्य ना समझी से देवताओं के प्रसन्नार्थ बकरे का मांस देवी-देवताओं को भेंट चढ़ाते हैं। उनके भक्त लोग उनके सामने मनौती करते हैं। रोग से मुक्ति अथवा पुत्र की प्राप्ति की वाञ्छा करते हैं और उसकी पूर्ति हेतु बकरा चढ़ानेका वायदा करते हैं। शुभोदय से कहीं उसी मानता के उपरान्त आराम हो गया अथवा लड़का उत्पन्न हो गया तो यह लोग समझते हैं कि यह देवी माता की प्रसन्नता का फल है। तब वे आप भी प्रसन्न होते हैं और निरपराधी बकरे को गाजे बाजे के साथ भूषित करके देवी माता के मठ पर ले जाते हैं और वहां पर देवी माता के सामने उसको नहला कर और फूल चढ़ाकर तथा ब्राह्मणों से स्वर्गप्राप्त करानेवाले मन्त्रों को मारने के समय पढ़वाकर बकरे का प्राण निर्दय रीति से ले लेते हैं। यहां पर एक विशारद जो कवि का वचन देकर कहते हैं वह याद आता है :-

"माता पासे बेटा मांगे कर बकरे का सांटा।
अपना पूत खिलावन चाहे पूत दूजे का काटा।
हो दीवानी दुनियां॥

"देखिये! दूसरे के पुत्र को मारकर अपने पुत्र की शान्ति

चाहने वाली स्वार्थी दुनियां को। यहां पर ध्यान देना उचित है कि पहिले मानतारूप कल्पना ही झूठी है, अगर मानता से देवी आयुष्य को बढ़ाती होती तो दुनियां में कोई मरता ही नहीं ! जो लोग मानता मानते हैं उनसे अगर शपथपूर्वक पूछा जाय तो वहभी अवश्य ही यह स्वीकार करेंगे कि सभी मानता हम लोगों को फलीभूत नहीं होती। कितनी दफे हजारों मानता करने पर भी पुत्रादि मरण को प्राप्त होता ही है। अतएव मानता दोनों प्रकार से व्यर्थ ही है, क्योंकि रोगी की अगर आयुष्य है तो कभी मरने वाला नहीं है, तब मानता का कोई प्रयोजन नहीं है, और यदि आयुष्य नहीं है तो बचने लवा नहीं है, तो भी मानता निष्फल है। और भी विचारिये कि यदि बकरे के लालच से देवी तुम्हारे रोगों को नष्ट करेगी तो वह तुम्हारी चाकरनी ठहरी, अथवा रिश्वत (घूस) लेने वाली हुई क्योंकि जिससे माल मिले उसका तो भला करे और जिससे न पावे उसका भला न करे। घूस खाने वाले की दुनियां में कैसी मानमर्यादा होती है सो पाठक स्वयंही विचार कर सकते हैं।" (अहिंसा दिग्दर्शन पृष्ठ २२-२४)

इस प्रकार हिन्दू धर्ममें किसी दृष्टिसे भी धर्म के नाम पर जीवित प्राणियों की हिंसा करना स्वीकार नहीं की गई है। जो लोग वृथा ही धर्म की आड़ लेकर प्राणियों का वध करते हैं वह अपनी आत्मा को पतित बनाने के साथ ही साथ धर्म को भी कलंकित करते हैं। प्राकृतरूप में धर्म के नाम पर कभी भी हिंसा स्वीकार नहीं की जासकती। जैनधर्म सर्वज्ञ प्रणीत धर्म है। उसमें हिंसा का सर्वथा निषेध है और वस्तुतः प्रत्येक धर्म में यथार्थता के अनुरूप में उसका निषेध होना ही चाहिये; क्योंकि :-

"मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणी ।
अहिंसैव हि संसार मरावमृतसारणिः ॥ ५० ॥
अहिंसा दुःख दावाग्नि प्रावृषेण्य घनावली ।
भवभ्रमिरुगार्तानामहिंसा परमौषधी ॥ ५१ ॥

—हेमचन्द्राचार्य

भावार्थ—अहिंसा सब प्राणियों की हित करने वाली माताके समान है, और अहिंसा ही संसाररूप मरु (निर्जल)—देश में अमृत की नाली के तुल्य है; तथा दुःख रूप दावानल को शान्त करने के लिये वर्षाकाल की मेघ पंक्ति के समान है एवं भवभ्रमणरूप महारोग से दुखी जीवों के लिये परमौषधि की तरह है।

इस प्रकार हम संसार में भ्रमवश पशु बलिदान की सृष्टि होते देखते हैं! वैसे प्रत्येक मत में इसका निषेध उसही प्रकार किया गया है। जिस प्रकार हिन्दू धर्म में है। यहाँ पर हम साधारणतः प्रत्येक मतके धर्मशास्त्र का उद्धरण देकर इस निषेध का दिग्दर्शन कर लेंगे; जिससे पाठक जान जाँयगे कि किसी भी महापुरुष ने अन्य जीवों के प्राण लेने से पुण्य की प्राप्ति होना स्वीकार नहीं किया है। यहूदी लोगों के धर्मशास्त्र इसका खुला विरोध करते हैं; यथाः—

"दाऊद ने अपने पैरवों के हक़ में जो लोग कि ख़ुदा के नाम या पीरों के नाम या पैरवों के नाम पर बकरी, बैल आदि की बलि करते थे यूँ कहा है कि 'ऐ मेरी उम्मतवालो सुनो! मैं कहता हूं और ऐ इसरायल मैं तुझपर शहादत दूँगा–ख़ुदा तेरा ख़ुदा मैं ही हूं। मैं तेरी क़ुरबानियों–बलिदानों–और तेरे चिल्लाने के नज़राने के कारण जो सदैव मेरे सामने होती है लानत करूंगा। मैं तेरे घर से बैल और तेरे बाड़े से बकरी न

लूँगा, क्योंकि जंगलके सारे जानवर और कोहिस्तानके हज़ारों जीवित प्राणी मेरे हैं। मैं पहाड़ के सारे परन्दों को जानता हूं और जंगली चरन्द मेरे पास हैं। यदि मैं भूका हूं तो तुझ से न कहूंगा क्योंकि दुनियाँ और उसके सारे जीव मेरे हैं क्या मैं बैलों का गोश्त खाऊँगा? और बकरों का लहू पीऊँगा?"

(ज़बूर अ० ५ आ० ८–१३)

"ख़ुदावन्द कहता है कि तुम्हारे ज़िबहों (बलिदानों) की कसरत से मैं काम में मेंढों की सोख़तनी क़ुरबानी–फरबा बछड़ों की चरबी नहीं चाहता। भेड़ों, बैलों, बकरीयों का लहू नहीं पीता हूं। जब तुम दुआ पर दुआ माँगोगे तो मैं न सुनूंगा। तुम्हारे हाथ तो लहू से भरे हैं।"

(ज़बूर अ० १ आ० ११–१५)

प्राचीन अहदनामे इञ्जील की निम्नलिखित आयतें भी बलिदान का निषेध करती हैं:—

(१) "क्या प्रभू भूनी हुई बलि से अथवा यज्ञ में होमित वस्तु से खुश होता है? या इस से कि उसकी आज्ञा मानी जावे। देख कि आज्ञा मानना बलिदान से और उसकी आज्ञा को सुनना मेंढ़ों को चर्बी से उत्तम है।" (१ सेम्युएल१५।२२)।

(२) "हे प्रभू! मेरे ओंठोंको खोलदे, तो मुख तेरी स्तुति वर्णन करेगा। कि तू बलिदान से खुशी नहीं होता, नहीं तो मैं देता। भूनी हुई बलि में तुझे आनन्द नहीं है।"

(ज़बूर ५१।१५–१६)

(३) "प्रभू कहता है तुम्हारे बलिदान की अति से मुझे कौन काम? मैं मेढोंको भूनी हुई बलिदानसे औरमोटे बछड़ों की चरबीसे भरपूर हूं और बैलों भेड़ों और बकरों का

रक्त नहीं चाहता हूं।.........झूठे चढ़ावे मत लाओ, लोबान से मुझे नफरत है, नूतन चन्द्र और सबत और ईदों जमायत से भी। मैं ईद और अधर्म दोनों को सहन नहीं कर सकता हूं। मेरा मन तुम्हारे नूतन चन्द्रमाओं और तुम्हारी ईदों से क्लेश-मय है। वे मुझको भार के सदृश कष्टसाध्य हैं। मैं उनको सहन करने से थक गया हूं। और जब तुम अपने हाथ फैलाओगे तो मैं तुम से अपने नेत्र छुपा लूंगा। हां! जब तुम प्रार्थना करोगे तो मैं नहीं सुनूंगा। तुम्हारे हाथ रक्त से भरे हुए हैं।" (यशैयाह १। ११-१५)।

(४) "वह जो बैल को बलिदान करता है ऐसा है जैसे उसने एक मनुष्य को मार डाला। और वह जो एक मेमने को बलिदान करता है ऐसा है जैसे उसने एक कुत्ते की गरदन काट डाली हो। जो बलि चढ़ाता है ऐसा है जैसे उसने सूअर का रक्त चढ़ाया हो। हां उन्हों ने अपने २ मार्ग चुन लिये हैं और उनके हृदय उनके द्वेषमय कुकृत्यों में संलग्न हैं।"

(यशैयाह ६६।३)

(५) "मैंने दया की इच्छा (आज्ञा) की थी न कि बलिदान की और परमात्माज्ञान का इच्छुक हुआ था। भूनी हुई बलिदान के स्थान पर!" (होसिया ६।६)।

(६) किस अर्थ के हेतु शेबा से लोबान और एक दूरस्थ देश से सुगंधित ईख मेरे लिये आते हैं। तुम्हारी भूनी हुई बलिदान मुझे पसन्द नहीं है और तुम्हारे यज्ञ मेरे निकट आनन्दमय नहीं हैं।" (जैरमयाह ६। २०)।

(७) वे मेरे चढ़ावे के लिये मांस का बलिदान करते हैं और उसे भक्षण करते हैं। प्रभु उसको स्वीकार नहीं करता

अब वह उनकी बुराई स्मरण करेगा। और उनके अपराधों का उनको दण्ड देगा, वे मिश्र (बंधन) को पुनः जावेंगे।"
(होसिया ८। १३)

(८) "मैं तुम्हारी ईदों से घृणा करता हूं और उनसे द्वेष करता हूं और मैं तुम्हारे धार्मिक संघों की गन्ध नहीं सूंघूंगा।" और यदि तुम हर प्रकार भूनी हुई बलि एवं मांस को मेरे लिए अर्पण करो तो मैं उनको स्वीकार न करूंगा। और तुम्हारे मोटे बैलों के धन्यवाद अर्चनाओं की ओर भी आकर्षित नहीं होऊँगा।" (एमोस ५। २१-२२)

(९) अपने बलिदानों में भूनी हुई बलिओं को घुसेड़ दो और मांस खाओ, क्योंकि जिस दिवस मैं तुम्हारे बाप दादाओं को मिश्र की पृथ्वी से निकाल लाया मैंने उन्हें भूनी हुई बलि चढ़ाने की शिक्षा नहीं दी और न बलिदान के लिये कोई आज्ञा दी। बल्कि मैंने केवल इतना ही कहकर उन को आज्ञा दी कि मेरे शब्दों के श्रवण करने वाले हो और मैं तुम्हारा परमात्मा हूंगा और तुम मेरे लोग होगे। और तुम उन सब नियमों पर चलो जो मैं तुमको बताऊँ जिससे तुम्हारा भला होवे।" (जेरेमयाह ७। २१-२३)।

(१०) बलिदान और चढ़ावे को तूने नहीं चाहा। तूने मेरे कान खोले; भूनी हुई बलि और पापों की बलि का तू इच्छुक नहीं है।" (ज़बूर ४०।६)

(११) मैं गीत गाकर परमात्मा के नाम की स्तुति करूँगा और धन्यवाद कर उसकी प्रसंशा करूँगा। इससे प्रभू बैल और बछड़े की निस्बत जिनके सींग और खुर होते हैं, विशेष आनंदित होगा।" (जबूर ६९।३०-३१)।

(१२) "परमात्मा का (यथार्थ) बलिदान मानकी मार्जना

है। हे परमात्मा तू एक पवित्र और द्रवीभूत हृदय को घृणा को दृष्टि से नहीं देखेगा।" (ज़बूर ५१।७१)।

(१३) "मैं क्या लेकर प्रभु के समक्ष में आऊँ और परमोत्कृष्ट ईश्वर के आगे क्यों दण्डवत करूं। क्या भूनी हुई बलियों और एक वर्ष के बछड़ों को लेकर इसके आगे आऊँ? क्या प्रभु सहस्रों मेढ़ों से व तेल की दस सहस्र नदियों से प्रसन्न होगा? क्या मैं अपने पहलौटी के पुत्र को अपने पापों के बदले में दूं, अपने शरीर के फल को अपनी आत्मा के अपराधों के हेतु में दे दूँ? "हे मनुष्य! उसने तुझ को यह दिखाया है जो कुछ कि भला है। और प्रभु तुझ से और क्या चाहता है इसके अतिरिक्त कि तू न्याय करे और दयार्द्र चित्त हो प्रेम रक्खे और अपने परमात्मा के साथ नम्रता से चले।"

(मा॰काह ६।६-८)

"यह स्वयं इञ्जील के प्राचीन अहदनामे की आयतें हैं और इनके पढ़ने के पश्चात् मन में इस विषय में संशय नहीं रहता है कि बलिदान सम्बन्धी आज्ञाओं का शब्दार्थ लगाने से भारी भ्रम उत्पन्न हुआ है। कारण कि यह आज्ञायें कभी भी शब्दार्थ रूप में नहीं लिखी गई थीं। नूतन अहदनामे में इस अभागे भ्रम को दूर किया गया है। "मैं दया का इच्छुक हूं नकि बलिदान का।" (मत्ती ६।१३) यह नवीन इञ्जील का प्रेम सूत्र है।" * इस प्रकार ईसाइयों की बाइबिल में धर्म के नाम पर प्राणी हिंसा की प्रथा के लिये कोई ईश्वरीय आदेश उपलब्ध नहीं है। 'हाबील' और 'काइन' के बलिदानों का जो उसमें उल्लेख है उनको शब्दार्थ में नहीं लेना चाहिये। इस विषय में एक विद्वान का निम्न कथन विशेष दृष्टव्य है :-

* असहमत संगम ४४१-४४५

"इस में कुछ सन्देह नहीं रहजाता कि जब मूसा ने बलिदान का आदेश किया तब उसका तात्पर्य निस्सहाय, निरपराध प्राणियों की हिंसा से नहीं था; क्योंकि यदि ऐसा होता तो ऊपर उद्धृत किये गए घृणा और नफ़रत से पूर्ण ईश्वरीय वचन निरर्थक होते। और फिर यह भी नहीं कहा जाता कि 'तुम अपने भुने हुए पशुओं को अपनी भेंटों में घुसेड़ दो और मांस भक्षण करो क्योंकि मैंने तुम्हारे बापदादों से यह नहीं कहा था और न उन्हें उस दिन, जिस दिन मैं मिश्र से निकाल लाया था, पशुओं को भूनकर बलिदान करने की आज्ञा दी थी- इत्यादि।' (जरमिया ७–२१। २२) इन प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि जिन वाक्य समूहों में बलिदान की आज्ञा का आभास होता है उनके भावार्थ को हमें समझना चाहिये। निस्सन्देह यह प्रतिपादन करना, और वह भी स्वयं अपने ईश्वर की आज्ञा के विपरीत, कि परमात्मा पशुओं के मांस और रुधिर में रुचि रखता है और उनके समक्ष करने में आनन्दित होता है, बहुत घटिया सिद्धान्त (Theology) है। आधुनिक विद्वानों की अपेक्षा डेविड ने इस मर्म को अच्छी तरह समझा। अपने ईश्वर को मुखातिब होकर वह गायन करता है:—

'यज्ञ और बलिदान की तूने इच्छा नहीं की। मेरे कानों को तूने खोल दिया है; और भुनी बलि और पाप की भेंट को तूने नहीं माँगा।" (जबूर ४०६)

"इन्जील के नवीन अहदनामे में बलिदान का भाव बिलकुल बदल जाता है। यसू कहता है कि 'मुझे दया चाहिये न कि बलिदान।' (मिती की इन्जील ६–१३ व १२–७) तिस पर यह विदित होगा कि बलिदान के लिये जो पशु लिये जाते हैं वह आमतौर से ऊँट व मेंढा व बकरा हैं। अब यदि हम यह बात

समझ सकते हैं कि प्राचीन समय में लोगों ने राशि चक्र और मनुष्य के अङ्गों में एक प्रकार की सादृश्यता क़ायम की थी और राशियों के चिन्हों का अपने सिद्धान्त को अनभिज्ञ लोगों से छिपाने के हेतु प्रयोग किया था, तो उन वाक्यों का जो बाह्य स्थूल भाव में निरपराध पशुओं की घात के कारण बन गई हैं, अर्थ लगाना कठिन न होगा। राशियों के चिन्हों में से तीन हमारे लिये बहुत आवश्यक हैं, क्योंकि उनके चिन्ह वही तीन पशु हैं जो बलि के लिये बहुधा चुने जाते हैं; यद्यपि पश्चात् बलि-सूचीमें और पशुभी सम्मिलित करदिये गए हैं। यह तीन मेष (मेंढा), वृष (बैल), मकर (बकरा) हैं। वराहमिहिर की बृहद्ज्जातक नामी पुस्तक में यह लिखा है कि 'राशियों का प्रत्येक चिन्ह मनुष्यशरीर के किसी भाग-विशेष का बोधक है, जैसे 'मेष' शिर से, वृष मुख से......मकर जानु (घुटनों) से सूचित किया जाता है।' (सैक्रेड बुक्स आफ दि हिन्दूज जिल्द १२ पृष्ठ ६–७) यहां हमने शरीर के अन्य अङ्गों का वर्णन छोड़ दिया है क्योंकि हमें यहां उनसे प्रयोजन नहीं है। संस्कृत भाषा के मेष, वृष और मकर पत्तो-एरजि, टोरस और प्रांकोर्नस हैं। इस प्रकार मेंढा, बैल और बकरा भी शारीरिक सृष्टि अर्थात् मनुष्य के जिस्म के तीन मुख्य अङ्गों के जो गुप्त वादियों के कथनानुसार बाह्य सृष्टि का नमूना है, सूचक हैं।

"अब चूंकि हमें स्वयं जहोवा का प्रमाण इस विषय पर उपलब्ध है कि वह भुनी भेंटों व बलिदान का इच्छुक नहीं है (जरेमिया ७–२२), इसलिये हमें यह खोज करना चाहिये कि पैग़म्बरों के बलिदान सम्बन्धी उपदेश का यथार्थ भाव क्या था, क्योंकि यह बात तो निस्सन्देह है कि उन्होंने किसी न किसी प्रकार के बलिदान की आज्ञा अवश्य दी है। आइये देखें,

कि दैवी आज्ञाओं और वाक्यों से इस विषय पर कितना प्रकाश पड़ता है। इसके लिये हम यहां कुछ देवी आज्ञायें उद्धृत करते हैं :–

"परन्तु मैंने उन्हें यह आज्ञा दी कि मेरी बात मानो और मैं तुम्हारा खुदा हूंगा······और तुम उन मार्गों पर चलो, जो कि मैंने तुम्हारे लिये बतलाये हैं ताकि तुम्हारे लिए अच्छा हो।"

(जरेमिया ७–२३)

'मुझे दया चाहिये न कि बलिदान। मैं आहुतियों की अपेक्षा ईश्वरीय ज्ञानको अधिक चाहता हूं।' (होसिया ६–६)

गीतकार डेविड कहता है :–

'मैं ईश्वर के नाम की प्रशंसा गाऊँगा और धन्यवादों से उसकी कीर्ति बढ़ाऊँगा। इससे ईश्वर, ऐसे बेल या साँड की अपेक्षा जिसके अङ्ग और खुर हैं अधिक प्रसन्न होगा।'

(ज़बूर ६९–३०, ३१)

'परमात्माका बलिदान विनीत हृदय है। हे ईश्वर! तू एक मानरहित, पश्चातापपूर्ण हृदय से घृणा न करेगा।'

(ज़बूर ५१–१७)

"सींग और खुरवाला बैल स्वीकार नहीं है परन्तु बेसींग और खुर वाले की इच्छा है अर्थात् मान कषायको नष्ट करना है। परमात्माके समक्ष घमण्डकी गरदन झुकानी है। प्रोवर्ब्स की पुस्तक में कहागया है :–

'यज्ञ की अपेक्षा न्याय और विवेक से कार्य करना ईश्वर को अधिक ग्राह्य है।' (२१–३)

"इसी भाव को ईसामसीह ने और भी अधिक प्राबल्य के साथ कहा है :–

'उसे पूर्ण हृदय से, पूर्ण विवेक से, पूर्ण आत्मा से व पूर्ण

शक्ति से प्यार करना व अपने पड़ोसी से आत्मवत् प्रेम करना, यह समस्त भुनी भेंटों और बलिदानों से बढ़कर है।'
(मर्कुस की इन्जील १२-३३)

"अन्त में पौलस रसूल ने कुछ भी गुप्त न रखकर अपने रोम निवासियों के संदेश में बहुत समय का छिपा हुआ मर्म खोल दिया है। वह लिखता है :—

'इसलिये हे भाइयो, मैं तुमसे परमात्मा की दयाओं के नाम पर विनय करता हूँ कि तुम अपने ही शरीरों का, सच्चा, पवित्र और स्वीकृत होने योग्य बलिदान करदो। यह तुम्हारी सच्ची सेवा है।' (रूमियो का ख़त १२-१)

"जिस प्रकार कि प्राचीन ज्योतिष में 'मेष' 'वृष' और 'मकर' काल पुरुष के मस्तक, मुख और जानु के द्योतक हैं। उसी प्रकार वे संकेतविज्ञान में अहंकार शक्ति के मद और कामवासना के भी द्योतक हैं। अतः नीच अहंकार-भाव, अभिमान और कामवासना के बलिदान का ही आदेश पैगम्बरों ने किया है, न कि दयामय ईश्वर के नाम पर हनन किये गये जीवधारियों के मृत व मरणोन्मुख शरीरों के बलिदान का। परमात्मा उसी से प्रसन्न होता है जो अपने शरीर का जीवित बलिदान * देता है। एक विनीत हृदय जिसमें से अभिमान व कामवासना का समस्त लेश दूर कर दिया गया है एक ऐसा

---

* "कुरान शरीफ़ अध्याय २२ में लिखा है कि—

"बलिदान के ऊँट हमने तुम्हारे लिये ईश्वर की आज्ञा पालने के चिन्ह बनाये हैं—उनका मांस ईश्वर को स्वीकार नहीं होता है और न उनका रुधिर, परन्तु तुम्हारी नेकी उसको स्वीकार है।"

* परमात्मा से भाव अन्तरात्मा की उच्च स्वाभाविक अवस्था से है।

बलिदान है जो परमात्मा तत्काल स्वीकार करता है ! पर इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि यह सब दम्भ भाव से न किया जाय। जब भक्त अपने बहिरात्मा को मस्तक नवाकर गर्दन झुकाकर घुटनों के बल बैठकर (अर्थात् नम्रता पूर्वक) अर्पण करदेता है तब यह बलिदान किसी प्रकार अस्वीकृत नहीं हो सकता, और इसके उपहार स्वरूप बलिकर्ता को शाश्वत-जीवन प्रदान होता है।

"ऐसा क्यों होता है, यह बड़ी सुलभता से समझ में आ सकता है। अहंकार से भरीहुई आत्मा अपने को बहुत से अभिलाषा रूपी बन्धनों से जकड़ लेती है और उन बन्धनों की सख्ती के कारण नाना प्रकार के दुःख भोगती है। और सब से बड़ा आश्चर्य इस बात का है कि वह वेदना से चिल्लाती और कराहती तो अवश्य है पर उसका अहंकार किञ्चित भी नहीं घटता, उल्टा बढ़ता ही जाता है और कषाय और विषय वासनाओं व अज्ञान की रस्सियां उसके अङ्ग में अधिकतर गड़ती जाती हैं। सहस्रों जीव ऐसी ही अवस्था में उत्पन्न होते और उसी में मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। पर अपनी कराल वेदना का कारण जानने की परवाह ही नहीं करते ! गो कि इसका प्रति विधान थोड़ा सा विवेक करने से सुलभ होजाता है। बन्धन की रस्सियां इस कारण से अधिक गड़ती हैं कि हमारा अन्तरङ्ग फूल गया है। इसका कारण 'अहंकार' है। क्या हमें अब भी इसके प्रति विधान के बतलाने की आवश्यक्ता है ? विचारवानों के लिये वह स्पष्ट है। अहङ्कार का थोड़ा सा ग़ुरूर निकाल डालो तो तत्क्षण आराम मिलेगा; इसको बिलकुल नष्ट करदो तो रोग जाता रहेगा। इसी कारण श्री शङ्कराचार्य ने अपने किसी लेख में कहा है कि स्वात्म-

अनुभव की समाधि से कुछ क्षण में ही सैकड़ों वर्षों के पाप नष्ट होजाते हैं। मानलो कि हम एक दो मील लम्बी रस्सी किसी मशक की भांति फूले हुये पदार्थ पर कसकर बांध दें और फिर उसे जल्दीसे जल्दी खोलदेनेका प्रयत्न करें तो इसकी दो युक्तियां हैं, एक तो यह कि बन्धनों को एक एक करके निकालें ; जिसमें समय बहुत लगेगा। पर दूसरी युक्ति बहुत शीघ्रता की यह है कि उस फूलेहुये पदार्थ के भीतर से वायु निकालदी जाय, जिस से कि सारे बन्धन स्वयं ही एक दम अलग गिर पड़ें। यही हाल पापों का है जो अशुभ कर्मों के समूह रूप आत्मा पर इकट्ठे होगये हैं। एक फूले हुये पदार्थ और आत्मा में अन्तर केवल इतना ही है कि पदार्थ तो बाह्य हवा से भराहुआ है और आत्मा स्वयं अपने आत्माभिमान ही से फूला हुआ है, क्योंकि अहङ्कार का भाव ही अभिमान है। अशुभ कर्म आत्मा को 'अहम्' और 'मम' भावरूपी रस्सियों के बन्धन में डाल देते हैं और ज्यों २ उसकी चेतना में 'मेरे' और 'तेरे' भाव की वृद्धि होती जाती है त्यों २ आत्मा अधिक २ कष्ट पाता है। परन्तु परमात्मा मानो उसका विपत्ति में सहायक होने को तत्पर है लेकिन बिदून बलिदान के वह कुछ कर नहीं सकता है। मूर्ख लोग इसके लिये बेज़बान जानवरों का बलिदान बताते हैं। परन्तु अन्तरङ्ग में निवास करनेवाला परमात्मा पशु-घात का इच्छुक नहीं है, क्योंकि इससे तो बे दर्दी के कारण अशुभ कर्मों की रस्सियां और भी कस जाती हैं। अतः केवल बलिदान जो ईश्वर को स्वीकृत होता है वह बहिरात्मा के मस्तक, गर्दन और जानुओं का है जिसको प्राचीन समयके मनुष्योंने 'मेष' 'वृष' और 'मकर'के रूपमें दर्शाया है।

नोट-ईसासे पूर्व की दूसरी शताब्दि अथवा उससे पहले

समय की (आज से क़रीब सवा दो हज़ार वर्ष पहिले की) "The Letter of Aristeas" नामक पुस्तक में इन पशुओं का अलंकृत भाषा में क्या भाव था यह स्पष्ट लिखा है। "हलाल" और "हराम" जो जानवर माने गए हैं वह शरीरकी अपेक्षा नहीं, बल्कि आत्मोन्नति के लिहाज़से माने गए थे, यह इसके विवरण से स्पष्ट है। उसके अंग्रेज़ी अनुवाद के निम्न भाव यही प्रमाणित करते हैं:—

"जितने भी यह रूपान्तर-विधान किए गए हैं यह सब धर्म के एवं पवित्र ध्यान के बढ़ाने और चारित्र को विशुद्ध बनाने के लिए हैं। क्यों कि जितने भी पक्षी हैं, जिन को हम 'हलाल' मानते हैं, वे सब पाल्तू और साफ आदतोंके लिए विख्यात् हैं। और वे अपनी बसर गेहूं व दालों पर करते हैं। ...परन्तु "हराम" (मना किए हुए) पक्षियों के छूने से तू जानेगा कि वे वहशी और मांसभक्षी हैं और अपनी शक्ति को अपनी जाति के शेष पक्षियों का सताने एवं ऊपर बताए हुए पाल्तू पक्षियों पर हमला करके खाजाने में खर्च करते हैं। वे इन्हीं पर हमला नहीं करते बल्कि मेमनों और बकरी के बच्चों को उठा लेजाते हैं और मृत एवं जीवित मनुष्यों के शरीरों को हलाक करते हैं। इन प्राणियों द्वारा......जिनको उसने नापाक कहा है, धर्म संस्थापक (Law-giver) ने यह संकेत किया है कि वह जिनके लिए धर्म-नियमों का विधान हुआ है, अपने हृदयों में धर्म का अभ्यास करें और अपनी शक्ति में विश्वास रखकर दूसरों को सतायें नहीं, न किसी की कोई चीज ठगें, बल्कि अपने जीवनों को धार्मिक नियमों के अनुकूल बनावें। ......तब उसने इन सब नियमों को अर्थात् इनमें से एवं शेष प्राणियों मेंसे कौन से हमारे लिए जायज हैं—अलंकार रूप में

बतलाया। क्योंकि खुरों का अलग करना और पंजों को विभाजित करना इस बातके द्योतक हैं कि हमारे प्रत्येक दैनिक कार्यों में कौनसा धर्मानुकूल था और कौनसा नहीं अर्थात् इस बात के भेद विवक्षा का।......चूहे प्रत्येक वस्तु को अपने भोजन के लिए ही नहीं बल्कि वैसे ही कुतरते और ख़राब करते हैं कि वह मनुष्य के किसी मतलब की नहीं रहती। और छछूंदर जाति अपने लिए खास है, क्यों कि उपरोक्त आदत के अलावा उसको एक खासंयित है जो उस को नापाक बना देती है यानी वह कानों द्वारा गर्भ धारण करती है और मुंह से बच्चे जनती है। और इसी लिए इस तरह को आदत मनुष्य के लिए ख़राब है अर्थात् जब कभी वे उन वस्तुओं को अपने भाषण द्वारा प्रकट करते हैं जिनको उन्हों ने कानों द्वारा धारण किया है और दूसरों को पापकर्म में लगाते हैं; तो वे गहरी अपवित्रताके अपराधी हैं और उन्हों ने अपनी अधार्मिकता से अपने को बुरी तरह सान लिया है। और तुम्हारा राजा, जैसे कि हमें बतलाया गया है, न्यायतः उन्हें प्राण दण्ड देता है।......इस लिए अब जो कुछ मांस और पशुओं के प्रति कहा गया है उसका मतलब धर्म से और मनुष्य के आपसी धार्मिक व्यवहार से है।"

(Thackeray's English Translation pp. 53-57 quoted in the supplement of the Confluence of Opposites p.2.

इससे स्पष्ट और अधिक विवेचन क्या हो सका है। प्राचीन मत-प्रवर्तकों ने अलंकृत भाषा में आत्मवाद की शिक्षा दी थी, यह प्राचीन वक्तव्य से स्पष्ट है। इस लिए धार्मिक ग्रंथों के ऐसे विवेचनों को शब्दार्थ में गृहण करी हिंसा को

अपनाना सर्वथा अनुचित हैं। मतं प्रवर्तकों का भाव हिंसा जनित अधार्मिकता फैलाने का नहीं था, विवेकवान पुरुष इस बातको उपरोक्त उद्धरण से हृदयङ्गम कर लेंगे और जो हठी हैं उनके प्रति कुछ कहना ही वृथा है। वह जानबूझकर अपनी आत्मा को दुःख की भट्ठी में डाल रहे हैं।

हम आशा करते हैं कि यह···व्याख्या उस अनावश्यक और हानिकारक हिंसा के, जो धार्मिक त्योहारों के अवसरों पर दयालु ईश्वर के नाम पर की जाती है बन्द कराने को यथेष्ट होगी। यहूदी और मुसलमान भाइयों से हम अनुरोध करते हैं कि वे अपने धार्मिक ग्रन्थों 'बाइबिल' और 'कुरान' की ईश्वरीय आज्ञाओं के सत्यभाव को ढूंढें। उन हिन्दू भाइयों से भी, जो इस अमानुषिक कर्म में प्रवृत्त होते हैं, हमारी प्रार्थना है कि वे भी अपने धार्मिक ग्रन्थों का मनन करें जिन में यथार्थ में हिंसा यज्ञ की कहीं भी शिक्षा नहीं दी गई है। जिन प्राचीन ऋषियों की विचार शृंखला ऐसी शुद्ध और सूक्ष्म थी कि वे आदि ही में प्रश्न करते हैं 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' अर्थात् हम किस देवता को अर्घ्य से पूजा करें, और उत्तर पाते हैं कि जो सर्व जीवों के हृदयों में व्याप्त है--वे ऋषी हम पूजते हैं ऐसे परमात्मा के लिये किसी पशुयज्ञ का कैसे उपदेश दे सकते हैं? और यह क्योंकर सम्भव था कि वे एक ओर तो इतने कठिन त्याग का उपदेश देते कि 'अहङ्कार' को पूर्णतया नष्ट करदो और दूसरी ओर उसी 'अहङ्कार' की पुष्टि के लिये मांस और रुधिर का बलिदान बताते? स्पष्ट शब्दों में स्वयम् 'वेद' ही याज्ञिक और यज्ञकी अपृथक्ता बतलाते हैं। निम्न लिखित वाक्य इस विषय के (और भी) प्रमाण हैं :—

१ 'स्वयं याज्ञिक ही बलि है। क्योंकि वह (यज्ञ या बलि)..

स्वयं याज्ञिक को स्वर्ग ले जाता है।' (तैत्र० ब्रा० ३-१२.४.३)

२ 'स्वयं याज्ञिक ही पशु है।' (श० प० ब्रा० ११-१.८.३)

३ 'पशु ही अन्त में स्वयं याज्ञिक है।' (तैत्र० ब्रा० २-२.८.२)

४ 'याज्ञिक ही यथार्थ में बलि है।' (तैत्र० ब्रा० १-२८)

"अतः स्पष्ट है कि जिन धर्मों की हमने यहां परीक्षा की है वे सब इस विषय पर एकमत हैं कि जिस बलिदान का आदेश दियागया है उसका बलिदान करनेवाले के अपने ही अधमात्मत्व के बलिदान से अभिप्राय है; बेचारे निरपराध पशुओं के बलिदान से नहीं। इसलिये हमें...ऐसे बलिदान देने चाहिये जो...रुचिकर और ग्राह्य हों और ईश्वर के पवित्र नाम पर निरपराध जीवों का रुधिर बहाने से परहेज करना चाहिये। 'सींग' और 'खुर' वाले 'वृष' के स्थान में हमें यज्ञ की वेदीपर 'सींग' और 'खुर' रहित 'वृष' का, अर्थात् स्वयं याज्ञिक की गर्दन का ही जो 'मद' और 'अहङ्कार' का चिन्ह है बलि चढ़ाना चाहिये। मेष और मकर जो अबतक भ्रमसे इस नाम के जीवधारी समझे गये थे अब स्वयं याज्ञिक के अहंबुद्धि और काम वासना सिद्ध होते हैं। यज्ञ के चिन्हचार सम्बन्धी व्याख्या के बारेमें अब हमें केवल यह कहना है कि प्रकृति के अन्य पदार्थों के समान काल पुरुष मेंभी पौज़ीटिव (Positive=बलवर्धक) और नेगेटिव (Nagative=निर्बल कारक) अंश होते हैं (देखो बृहज्जातकार) अतःजो चार प्रवृत्तियां चार पशुओं 'सिंह' 'मेष' 'वृष' और 'मकर' द्वारा सूचितकी गई हैं उनमेंसे सतरूप Positive केवल एकनिर्भयता ही है जिसका बोधक सिंह है। क्यों कि बलिदान का ध्येय अपने स्वाभाविक परमात्म-पन को प्रकट करना है। इसलिये केवल उन्हीं वृत्तियों का जो घातनीय Nagative बतलाई गई हैं अर्थात् जो आत्मिक निर्बलता के

कारण हैं बलिदान करना चाहिये। इसी कारण पुराने ऋषियों ने 'मेष' 'वृष' और 'मकर' को जो 'असत' अर्थात् दौर्बल्योत्पादक प्रवृत्तियों के बोधक हैं–परमात्म तत्व को प्रसन्न (प्रगट) करने के हेतु बलिदान करने के लिये चुना था।"+

इस ही प्रकार के बलिदान का विधान म० बुद्ध ने किया था। उन्होंने एक स्थल पर कहा है जिसका भाव यह है कि :-

"जब मनुष्य पञ्च व्रतों–हिंसा, झूंठ, कुशील, चोरी और सुरापान इन सर्व के त्याग का पालन हृदय से करता है तो वही उसका यज्ञ बलिदान है। यह बड़े समारोह, अतुल दान आदि से कहीं उत्तम है। दूसरे शब्दों में दौर्बल्योत्पादक अशुभ प्रवृत्तियों का निरोध ही सच्चा यज्ञ है।" यह म० बुद्ध ने बतलाया था और रक्त मांसाश्रित यज्ञों की घोर निन्दा की थी; यथा :-

"यज्ञों के लिये बड़ी सभा एकत्रित करते हैं, वह अज्ञानवश ही करते हैं। देवताओं की सन्तुष्टि के निमित्त होने वाले यज्ञों का अन्त करने के लिये यथार्थ धर्म को छोड़दो। जो पुण्य कमाने को जीव मारता हो उसके हृदय में दया कहां होगी? यदि यज्ञों का फल शाश्वत भी होता हो तो भी उनमें प्राणी–वध अनुचित है। तिस पर उन का फल तो क्षणिक स्वर्ग सुख है तो फिर क्या इस क्षणिक सुख के लिये जीवित प्राणी का वध पूजा के नाम पर करना चाहिये?" सारांशतः प्रगट है कि बौद्ध भी यज्ञ में हिंसा करना बुरा बतलाते हैं।

पारसियों के मत में भी यज्ञ बलि के नाम पर

+ जैन होस्टल मैगज़ीन के विशेषांक (१९३१) के पृष्ठ ७५-८० से उद्धृत

जीवित प्राणी की हिंसा करना जायज़ नहीं बतलायी गयी है।
उनके शायस्त-ला-शायस्त (११।५) में लिखा है कि :—

"ऐसे भी लोग हुये हैं जिन्होंने रक्षा का उल्लेख किया है और ऐसे भी कि जिन्हों ने मांस बलिदान का। जिस किसीने रक्षा का उल्लेख किया है वह ऐसा है कि जिसने उत्तम कहा है और जिस किसी ने मांस बलिदान के विषय में कहा है वह ऐसा है जिसने प्रत्येक बात प्रशंसनीय नहीं कही है।"

(से० बु० ई० भाग५ पृ० ३३७-३३८)

इसी ग्रंथ में अगाड़ी कहा है कि (अ० १०-१२४ से० बु० ई० भाग ५ पृ० ३३२) "नियम यह है कि मांस द्वारा जबकि उसमें से दुर्गन्ध वा सड़ायन्द न भी निकल रही हो प्रार्थना व याचना नहीं करना चाहिये।"

इस्लाम धर्म के विषय में पहिले जो कुरान शरीफ़ की आयत उद्धृत की गई है उससे साफ़ प्रकट है कि उस में भी पशु बलिदान स्वीकृत नहीं है। हज़रत मुहम्मद इसको यथार्थता से वाकिफ़ हैं; परन्तु अपने सजातीय लोगों के क्रोध को बचाने के लिये उसने इन्द्रिय निग्रह-रूपी कुरबानी का उल्लेख उसी गुप्त ढंग में-अलंकृत भाषा में किया है। परन्तु दुःख है, जिस प्रकार ईसामसीह की गुप्त शिक्षा का प्रभाव यहूदियों पर नहीं पड़ा, उसी प्रकार हज़रत मुहम्मद की अलंकृत गूढ़ वाणी अरबवासियों के हृदयों को नहीं पलट सकी! यह उनके दुष्कर्मों का-ही प्रभाव समझिये। क्योंकि कुरानशरीफ में एक जगह स्पष्टतः पशु बलिदानका निषेध किया है। इस आयत का अनुवाद मिर्ज़ा अब्दुल फ़ज़ी ने Koran Tr. Pt. II pp. 895 में ऐसा ही किया है जिसका भाव यह है कि "किसी हालत

मेंभी उनका मांस अथवा रुधिर परमात्मा तक नहीं पहुंचेगा। केवल उनकी नेकी ही उसतक पहुंचेगी। इत्यादि विवरण पशु बलिदान की इज़ाज़त नहीं देता! अथच 'मशकुवहशरीफ' में भी यही बात कही गई है कि 'हज़रत पैग़म्बर इसलाम ने उन लोगों को जो जानवरों के सामने उनकी जिन्स को ज़िवह करते थे निहायत ख़फा होकर कहा कि ऐसा ज़ुल्म मत करो। जब दूसरे जानदार अपने साथी को ज़िवह होते देखेंगे वो अपने दिलों में किस क़द्र ख़ौफ खायेंगे। और कैसा सदमा उनके दिलपर पहुंचेगा।" तोफिर जहांमुस्लिमधर्ममें गऊ-कुशी व अन्य क़ुरवानी जायज़ की गई हैं वहां उनका रहस्य क्या है? तुलनात्मक धर्म निर्णय के प्रख्यात् विद्वान् मि० चम्पतराय जी उसका खुलासा अपनी 'गऊवाणी' नामक पुस्तक में निम्न प्रकार करते हैं :-

"यहां वही शब्द वताये जाते हैं जो मुहम्मद साहब ने कहे थे :—

'और जब मूसा ने अपने लोगों से कहा कि अल्लाह आज्ञा देता है कि तुम एक गऊ वलि चढ़ाओ। तो उन्हों ने कहा कि क्या तुम हम से ठठोली करते हो?'

'मूसा ने कहा कि खुदाकी पनाह! कि मैं मूर्ख वन जाऊँ।'

उन्हों ने कहा हमारे लिये अपने परमात्मा से पूछ कि वह हमारे लिये वर्णन करे कि वह क्या (वस्तु) है?

'मूसा ने कहा कि वह कहता है कि वह एक गऊ है जो न बूढ़ी है न वछिया है, उन दोनोंमें बीचकीअवस्था की है। अस्तु करो वह तुम जिसकी तुमको आज्ञा दी जाती है।'

'उन्हों ने कहा कि तू अपने प्रभू से हमारे लिए प्रश्न कर'

कि वह कहे कि उसका वर्ण लाल है—अति लाल है। दर्शकोंके चित्त को उसका वर्ण प्रसन्न करता है।'

'वे बोले कि दरख्वास्त करो हमारे लिये अपने प्रभू से कि वह हमारे लिए वर्णन करे कि वह क्या (वस्तु) है? कारण कि गऊयें हमारे निकट सब समान हैं और हम यदि खुदाने चाहा तो अवश्य पथप्रदर्शन पावेंगे।'

'मूसा ने उत्तर दिया कि वह कहता है कि वह एक गऊ है जो न पृथ्वी जोतने के लिये निकाली गई है, न खेत सींचने के लिये। वह नीरोग (पूर्ण) है, उसमें कोई दोष नहीं है।'

उन्हों ने कहा अब तुम ठीक पता लाये! तब उन्होंने उस को बलि चढ़ाया,यद्यपि वह ऐसा न करने के निकट थे।

'और जब तुमने एक मनुष्य (आत्मा)-को हत्याकी।'

'और उसकी बाबत आपस में वाद् विवाद किया।'

'अल्लाह ने उसको प्रकट किया जिस को तुमने छिपाया था; कारण कि हमने कहा कि मृत शरीर को बलि दी हुई गाय के भाग से छुआओ।'

'ऐसे ईश्वरने मृतक को जीवित किया।'

'और अपना चिन्ह दिखाता है।'

'शायद कि तुम समझो।'

"लाल बछिया के बलिदान (कुरबानी) की यह कथा है। और यह वास्तव में एक अद्भुत वर्णन है, जो उच्च सीमा का प्रवीण रहस्यमयव निपुण है। इसमें मूसा और यहूदी लोगों का वार्तालाप दिखाया है। मूसा यहूदियोंका पेशवा और पथ-प्रदर्शक था। अल्लाह की ओर से मूसाने यहूदियों से कहा कि उसकी आज्ञा है कि तुम गऊ बलि चढ़ाओ। अब देखिये यहूदियों का उत्तर कितना विचित्र है। वह मूसा और अल्लाह

दोनों से भिन्न हैं और स्थूलरूप में उनके शास्त्रों में भी पशु-बलिदानका वर्णन है और यही विश्वास आजकल भी यहूदी, मुसलमान, ईसाई तीनों का है कि वह लोग वास्तव में शास्त्रीय आज्ञा के अनुसार पशुबलिदान करते थे, इस परभी जब मूसा ने उनको कहा कि अल्लाह की आज्ञा है कि गाय को बलि करो तो उन्होंने मूसा से कहा :—

'क्या तुम हमसे ठठोली करते हो'

"इसका भाव यही है कि ऐ मूसा! तू जो गाय की बलि का संदेशा लाया है तो अल्लाह जिसके लिये तू बलि मांगता है वह तो प्राणियों का रक्षक दयालु परमात्मा है। वह पशुवध कैसे चाहेगा? क्या आज तू ठठोली करने बैठा है? फिर मूसा ने कहा कि खुदा की पनाह कि मैं मूर्ख बन जाऊँ। इसका भाव यह है कि मैं हँसी नहीं करता हूँ और न मुझे मूर्ख समझो, बल्कि बुद्धिमत्ता द्वारा मेरे कथन का भाव ग्रहण करो। तिस पर भी यहूदियों ने उसके कथन को शब्दार्थ में ग्रहण नहीं किया वरन् उससे यही कहा कि 'हमारे लिये अपने पर-मात्मा से पूंछ कि वह बताये कि वह क्या वस्तु है, जिसकी बलि को आज्ञा हुई है?' अब मूसा और यहूदियों के उत्तर प्रति-उत्तर द्वारा पहेली का भाव खुलता है। वह गऊ कैसी है यह मूसा बताता है कि—वह बूढ़ी नहीं है न वह बछिया है बल्कि बीच की अवस्था की है। अब यहूदियों ने फिर पूछा कि उस का रङ्ग कैसा है? मूसा ने बताया कि उसका वर्ण अति लाल (शब्दार्थ में पीला) है, दर्शकों के चित्त को उसका वर्ण प्रसन्न करता है। फिर अब भी यहूदी पूछते हैं कि वह क्या वस्तु है? कारण कि गऊयें सब एक समान हैं अर्थात् साधारण गऊ से

तो तुम्हारा मतलब है नहीं तो फिर कौन असाधारण गऊ है, जिसको बलि बताते हो! अब मूसा फिर और विवेचना करता है उस विवेचना द्वारा साधारण गऊ जातिका सम्पूर्ण निषेध कर देता है। जिस गऊ की आवश्यकता है वह गऊ है जो न पृथ्वी जोतने के लिये निकाली गई है, न खेत सींचने के लिये । गऊ जाति के जितने रोग होते हैं उन सब से वह निरोग है। उस में कोई दोष नहीं है। अब इतनी वार्तालाप होने पर वक्ता व श्रोताओं का पारस्परिक भ्रम मिटा, तब यहूदियों ने कहा कि अब तुम ठीक पता लाये अर्थात् अब पहेली का अर्थ खुला। अब उन्होंने मूसा की बुद्धि की सराहना की। तब बलिदान किया गया। यहां भी वक्ता ने इस बात को उचित समझा है कि बलिदान के अर्थ को सीमित करे ताकि साधारण भाव में उसको मूर्ख मनुष्य न समझ बैठें। इसलिये उसने यह अति-आवश्यक शब्द यहाँ पर लगा दिये कि 'यद्यपि वह ऐसा न करने के निकट थे' कुल का कुल जुमला इस भांति है :—

'तब उन्होंने उसको बलि चढ़ाया, यद्यपि वह ऐसा न करने के निकट थे।'

"यह बड़ी विचित्र बात है कि बलि चढ़ाया भी, और यद्यपि वह ऐसा न करने के निकट थे। यह दोनों बातें कैसी? इसका समाधान इस प्रकार है कि 'किसी दूसरे के प्राण घात में तो आसानी और देर का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता है। परन्तु जब अपने ही अधमात्मा का बलिदान किसी को करना होता है तो अलबत्तः दिक्कत पड़ती है। एक भी वस्तु के लिये किसी मनुष्य से कहा जाय कि इस पदार्थ का त्याग करदो तो देखो कितनी कठिनाई उसे प्रतीत होती है। और धर्म के मार्ग

पर समस्त इच्छाओं वाञ्छाओं के पुञ्ज को नष्ट करना पड़ता है। इसलिये यहाँ क़ुरान के वाक्य में यह शब्द पाए जाते हैं कि 'यद्यपि वह ऐसा न करने के निकट थे।'

"यह तो एक भाग गायकुशो के भाष्य का हुआ। दूसरा भाग इस से भी विचित्र है। उसको फिर सुनो। देखो! कहने वाला क्या कहता है?—'और जब तुमने एक मनुष्य (आत्मा) की हत्या की और उसकी बावत आपस में वाद विवाद किया, अल्लाह ने उसको प्रकट किया जिसको तुमने छिपाया था। कारण कि हमने कहा कि मृत्यु को बलि दी हुई गाय के भाग से छुवाओ। ऐसे ईश्वर ने मृत को जीवित किया और अपना चिन्ह दिखाता है शायद कि तुम समझो।'

यहां अब तक मूसा और मूसा के समय के यहूदियों का ज़िक्र हो रहा था। अब एक दम बात बदल गई और एक नई रवायत जिसमें 'तुमने क़त्ल किया। तुमने वादविवाद किया।' इत्यादि बातें मिलती हैं। मोहम्मद साहब के अनुयायियों ने न तो उस समय कोई क़त्ल किया था और न कोई खून छिपाया था और न किसी मृतक शरीर को उनके सामने किसी बलि दी हुई गाय के भाग से जिलाया गया। और बलि दी हुई गाय क़ौनसी; कथन से तो वही मूसा के समय की बलिदान की गाय प्रतीत होती है? भला शब्दार्थ में इस विषय की कैसे विवेचना हो सकेगी? और फिर अन्त का मज़मून कैसा विचित्र है :—

'और अपना चिन्ह दिखाता है शायद कि तुम समझो।'

"भावार्थ इस कुल मज़मून का स्पष्ट है। चिन्हवाद की गुप्त रहस्यमयी लेखनशैली का एक उम्दा नमूना यहां श्रोता-गणों के सामने उपस्थित है। अन्त में स्पष्ट कहभी दिया गया

है कि यह ईश्वरीय चिन्ह हैं शायद तुम्हारी समझ में आ जावें। अब स्पष्ट शब्दों में इनका अर्थ सुनो। अलंकार की भाषा में मनुष्य (शब्दार्थ में आत्मा) के मारने से भाव स्वात्मज्ञान की अनभिज्ञता से है। जिसके कारण आत्मा परमात्मपन में मुर्दा अर्थात् जीवित नहीं रहता है। मुर्दे का अर्थ पहिले ही तुझे बताया जा चुका है। भाव यह है कि जो लोग अज्ञानतावश आत्मा के अस्तित्व से इन्कार कर देते हैं उन्हों ने मानो आत्मघात किया; कारण कि बिना स्वात्मानुभव के परमात्मापन की प्राप्ति नहीं है। और स्वात्म-अनुभव बिना स्वात्मज्ञान के नहीं हो सकता। इसी कारण मिथ्यादृष्टि पुद्गलवादियों को यहां आत्महत्या का दोषी ठहराया है। 'तुम' शब्द का अर्थ मिथ्यादृष्टि पुद्गलवादियों का समझना। वादविवाद का भी यही भाव है। संक्षेपतः इस मज़मून का अर्थ कि 'जब तुमने एक मनुष्य (आत्मा) की हत्या की और उसकी बाबत वादविवाद किया तो अल्लाहने उसे प्रकट किया जिसको तुमने छिपाया था; कारण कि हमने कहा कि मृत शरीर को बलि दी हुई गाय के भाग से छुआओ। ऐसे ईश्वर ने मृतक शरीरको जीवित किया' यही है कि जब पुद्गलवादी आत्मा के अस्तित्व से इन्कार कर देते हैं तो वादविवाद में उनका क़ायल करना अति कठिन होता है। उस समय यदि आत्मसिद्धि का कोई उपाय धर्म के पास न हो तो धर्म की पराजय और अनात्मवाद की विजय हो जाय। जो महा अनर्थ हो। परन्तु धर्म तो सत्यविज्ञान है, उसकी पराजय कैसे संभव है ! इसलिए वह एक परीक्षा बताता है और प्रतिपक्षियों से कहता है कि ऐ अनात्मवादियो ! तुम वादविवाद को छोड़ कर इस एक ही परीक्षा द्वारा स्वयं देखलो कि आत्मा

है या नहीं। वह परीक्षा यह है कि इस अपनी नीच इच्छाओं के पुञ्जरूपी अधमात्मा का सर्वथा बलिदान करदो तो तत्क्षण यह आत्मा जिसको तुम जीवित नहीं मानते हो स्वयं भड़क कर जीवित होने द्वारा तुमको अपने अस्तित्व का पूर्ण परिचय देगा। बस! केवल एक यही चिन्ह मनुष्यों को आत्मा और उसके असली स्वरूप का बोध करा देने के लिये यथेष्ट है :—

'शायद कि तुम समझो।'

"......गाय के बलिदान का अर्थ अब......स्पष्ट मालूम होगया। संस्कृत में भी गौ शब्द का अर्थ इन्द्रियसमूह है। क्योंकि शब्दार्थ में गो वह है जो कि चले, और इन्द्रियां चलायमान होती हैं। इन्हीं चलायमान होने वाली इन्द्रियों को नष्ट करने का भाव 'गोमेध' का था। इन्हीं इन्द्रियसमूह को मुसलमान देशों की भाषा में नफ्स और इनके मारने अर्थात् इन्द्रिय दमन को नफ्सकुशी कहते हैं। इस नफ्स को सूफी कवि ने कविरचना में अज़दहा बांधा है जिसका मारना मुक्ति प्राप्ति हेतु आवश्यक बताया गया है :—

(१) तान गरदद नफ्स तावे रूहरा।
कैद वा यावी दिले मजरूहरा॥

(२) मुर्गेजाँ अज़ हब्से तन यावद रिहा।
गरबतेगे लाकुशी ईं अज़दहा॥

अर्थ :—(१) जबतक कि नफ्स अर्थात् इन्द्रियां आत्मा के वश में नहीं होतीं उस समय तक हृदय का आताप सन्ताप दूर नहीं हो सकता।

(२) शरीर सम्बन्ध से आत्मा मुक्त होजाय यदि इस अजदहे (नफ्स) को वैराग्य की खड्ग से मार डाला जाय।"

(पृष्ठ १०२-११०)

इस वक्तव्यसे इस्लामधर्म की गऊकुशी अथवा कुर्बानीका वास्तविक भाव प्रत्यक्ष प्रगट है। हज़रत मोहम्मद का अभिप्राय इसके द्वारा इन्द्रिय निग्रह की शिक्षा देने का था ; परन्तु शोक कि उनके गूढ़ अर्थ को समझने में लोग असमर्थ रहे! शायद पाठकगण यहां पर हज़रत मुहम्मद के सिर यह इलज़ाम मढ़ें कि उन्होंने ही स्वयं ऐसी ग़लती क्यों की जो इस अलंकृत भाषा में एक पहेली रच दी! बेशक बात तो ठीक है, परन्तु इसका उत्तर हम पहिले ही लिख चुके हैं, फिर भी उपरोक्त लेखक के शब्दों में वह निम्न प्रकार है :—

"अलङ्कार की भाषा के प्रयोग का यही फल हुआ करता है कि उसके यथार्थ भाव के जाननेवाले थोड़े होते हैं ; परन्तु उसको शब्दार्थ के भाव में समझने वाले बहुत अधिक की संख्या में हुआ करते हैं। समय के प्रभाव से यथार्थ भाव से अनभिज्ञ लोग स्वयं भारतवर्ष और अन्य देशों में भी लौकिक प्रतिष्ठा व राज्य को प्राप्त होगये और उनका ज़ोर बन्धगया। बढ़ते २ उनके अज्ञानता और अहङ्कार इतने प्रबल होगये कि वह अपने भावों के अतिरिक्त किन्हीं और विचारों को सहन न कर सके। इसीलिये मर्मज्ञ लोगों ने अपने गुप्त संगठन व संस्थायें बनालीं। गत समय में यूनान, मिश्र, मेसोपोटेमिया आदि देशों में गुप्त संस्थायें बराबर स्थापित रहीं। ऐसी ही गुप्त संस्था फ़्रीमेसनरी भी है जो अब भी प्रचलित है। इन गुप्त संस्थाओं में परीक्षा के पश्चात् गिने चुने मनुष्यों को प्रवेश कराया जाता था और उनको आत्मिक ज्ञान सिखाया जाता था। सर्वसाधारण मनुष्य इस गुप्त आत्मिक विद्या के रहस्य से अनभिज्ञ थे; और इस कारण उन्हों ने यथार्थ वस्तुओं को बहुत दफ़ा कष्ट दिया और उनके प्राणघात

भी किये। इञ्जील में स्पष्ट रीति से शिक्षा दी है कि मोतियों को असुरों के समक्ष मत फेंको कि वह उनको पाँव से कुचल डालें और उलट कर तुम को मार डालें।' यह लगभग अठारह-उन्नीस सौ वर्ष की व्याख्या है। मुसलमानों के समय में भी कठोर से कठोर अत्याचार अज्ञानतावश अनभिज्ञ पुरुषों के हाथों से मुसलमान तत्वज्ञों तथा अन्य धर्मावलंबियों पर हुये। मंसूर इसी बात पर शूलीपर चढ़ा दिया गया कि उसने आत्मा के परमात्मा होने की घोषणा जनतामें की थी! स्वयं मुहम्मद की जीवनी भी यही बतलाती है कि उनको भी अपनी जान का डर था। यदि यह सत्य है कि मोहम्मद सत्य आत्मिक ज्ञान से बहुत कुछ अँश में जानकारी रखता था तो भी उसने उस ज्ञानको स्वयं रहस्यवाद के मतानुसार ही प्राप्त किया था और रहस्यवादकी गुप्त भाषाही में उसने अपने मतका प्रचार किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ गिने चुने आदमियोंनेतो जो सूफी कहलातेथे और हज़रतमोहम्मदके पास मसजिद की इर्द गिर्द की कोठरियोंमें रहा करते थे, अपने पैगम्बर की शिक्षा का गुप्त रहस्य समझ पाया। परन्तु वह सहस्रों लाखों स्त्री व पुरुष जो मर्मज्ञान से अनभिज्ञ थे और जिनको गुप्त रहस्य मुहम्मदी शिक्षा का नहीं बताया गया उन्होंने तो दीन इस्लाम को केवल उसके ज़ाहिरी भेष में ही ग्रहण किया था। यह अनभिज्ञ लोग बड़े जोशीले और बहादुर थे। उन्होंने दीन इस्लाम को केवल यही समझकर ग्रहण किया था कि एक बाहिरी ख़ुदा की भक्ति द्वारा मन वाञ्छित फलकी प्राप्ति होती है। उन का विश्वास था कि स्वर्ग के सुख हूरोंकी सोहबत इत्यादि उनको केवल उस बाहिरी ईश्वर से बलि पशुओं की भेंटद्वारा प्राप्त हो सकेंगे। उनको न किसी ने निज आत्मा

के स्वरूप को बताया था और न उनको स्वयं कुछ परिचय निज आत्मा के स्वरूप का था और न वह उसको साधारणतया मानने पर प्रस्तुत ही होते। उनके समक्ष यह असम्भव था कि कोई व्यक्ति प्रगट रूप में निजात्मा का गुणानुवाद गा सके। इनके प्रसन्न रहने हीमें इस्लामके पैग़म्बर का लाभ था। इसलाम और राज्य और जान भी इनके असन्तुष्ट व अप्रसन्न होजाने से खतरे में पड़जाते। इसलिये मोहम्मद को प्रत्येक अवसर पर ऐसी क्रिया करनी पड़ी जिससे उनके दिलों में किसी प्रकार का भेद उत्पन्न नहो। और इसलिये उसको बलिदान के नामपर पशुवध भी उन लोगों के समक्ष करने पड़े। यदि ऐसा न करते तो अवश्य रहस्यवाद से अनभिज्ञ मुसलमान उनसे बिगड़ खड़े होते और जो लौकिक उन्नति इस्लाम ने की वह कभी नहीं होपाती।" (गऊवाणी पृष्ट ११२-११३)

इस प्रकार हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पार्सी और बौद्धादि धर्मों से हम बलिदान का भाव जीवित प्राणियों के वध से नहीं पाते, प्रत्युत अपने अपने आत्मगुणों की प्राप्ति के लिए अपने नीच मनोवृत्तियोंको मारने और दौर्बल्योत्पादक प्रवृत्तियों को कुचलने अर्थात् इन्द्रिय निग्रह का उपदेश वहां से पाते हैं। इसके अतिरिक्त बलिदान का और कुछ भाव नहीं है। बलिदानके लिये अङ्गरेज़ी में Sacrifice शब्द इसका शाब्दिक अर्थ भी इसही बात को पुष्टि करता है। इस शब्द की उत्पत्ति लेटिन भाषा के Sacrificium से हुई है जो Sacer (=पूर्ण या पवित्र) और Facere (=बनाना) से मिलकर बना है। इसलिये सेक्रीफाइस (Sacrifice=बलिदान) का वास्तविक अर्थ ऐसे कर्म से है, जो हमको पूर्ण अथवा पवित्र बना सकता है।

(३) तीर्थ यात्रा

—:o:—

परम सुख प्राप्ति का तीसरा मार्ग तीर्थ यात्रा है। तीर्थ यात्रा इस भाव से की जाती है कि आत्मा में शुद्धता का अंश बढ़े और उसकी फल प्रदायक शक्ति यात्री के हृदय की शान्ति और वैराग्य पर, जो सांसारिक व्यापार एवं गृहस्थाश्रम के बाहर ही पूर्णरूप से प्राप्त हो सकते हैं, अवलम्बित है।' तीर्थ स्थानों में एक प्राकृतिक रूप से ही शान्ति और वैराग्य का साम्राज्य व्याप्त होता है। स्वाभाविक रीति से हमारे हृदयों पर उस क्षेत्र का इतना प्रभाव पड़ता है कि हम स्वतः नेकी के कार्य करने को उतारू होजाते हैं। यह स्वयंसिद्ध वक्तव्य है। भक्तवत्सल तीर्थयात्री इसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर सकता है। ऐसे अनेक महाशय मिल सकते हैं जो एक तीर्थ स्थान के प्रभाव से अपनी दुर्वासनाओं का त्याग आजन्म के लिये कर चुके हैं। एक आधुनिक विद्वान् जिन्हें सिगार पिये बिना ज़रा भी कल नहीं पड़ती थी उन्हें इस क्षेत्र प्रभाव का साक्षात् अनुभव मिलचुका है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि मैंने उस पवित्र स्थान पर सिगार न पीने का पूर्ण प्रण करलिया। मुझे ताज्जुब है जबतक मैं वहां रहा मुझे उसकी तृष्णा ने ज्यादा मजबूर नहीं किया। मुझे उसका एक तरह से ख़्याल तक न आया। लेकिन वहां से हटते ही सिगार की याद आगई और उसके न पीने में मुझे तकलीफ मालूम पड़ने लगी; परन्तु पवित्र तीर्थ स्थान का ध्यान आते ही वह रफ़ू होजाती। और इस प्रभाव से अन्ततः वह आदत छूटगई।' इससे तीर्थ यात्रा का भाव स्पष्टहै कि वह पवित्र स्थान हमारी आत्माओंको पवित्र

बनाने में पूर्ण सहायक है। 'असहमतसंगम' नामक पुस्तक में जुनेद ने (जो एक मुसलमान दरवेश हुआ है) एक हाजी से वार्तालाप करते समय जो हज (तीर्थयात्रा) के फलों को अति उत्तमता के साथ प्रकट किया है, वह निम्न प्रकार हैः—

"उस समय से जब से तुम अपने गृह से यात्रा को चले क्या तुम सम्पूर्ण पापों की दिशा से बचकर अन्य दिशा में यात्रा करतेरहे?" "नहीं।" "तब तुमने कुछभी यात्रा नहीं की। क्या जब जब तुमने किसी स्थान पर विश्राम किया तो क्या एक पड़ाव ईश्वरके मार्ग पर भी बढ़े?" उसने कहा "नहीं।" जुनेद ने कहा "तब तुमने पड़ाव ते नहीं किए। और वस्त्राभूषण बदलने के स्थान पर जब तुमने यात्री का जामा पहिना तो क्या अपने पुराने वस्त्रों के साथ मानुषिक कृतियाँ को भी विलग फेंक दिया?" "नहीं।" "तब तुमने यात्री का जामा भी नहीं पहिना! जब तुम अरफात के स्थान पर खड़े हुए तोक्या तुमने एक क्षण ईश्वरका ध्यान किया?" "नहीं।" "तब तुम अरफातमें नहीं खड़े हुये। जब तुम मजदलीफा को गए और मिन्नत मानो तब क्या तुमने अपनी इन्द्रियलोलुपता का त्याग किया?" "नहीं।" "तब तुम मजदलीफा को नहीं गए। जब तुमने काबे का तवाफ किया तब क्या तुमने परमात्मा के नूरानी प्रकाश पर पवित्र स्थान में चित्त लगाया?" "नहीं।" "तब तुमने काबे का तवाफ नहीं किया! जब तुम सफा और मरवाके मध्य दौड़े तो क्या तुमने पवित्रता (सफा) और भलाई (मुरव्वत) को अपनेमें प्रगट किया?" "नहीं।" "तब तुम दौड़े ही नहीं। जब तुम मिना को पहुंचे तो क्या तुम्हारी समस्त इच्छाएं (मुना) तुमसे पृथक होगई?" "नहीं।" "तब तुमने अभीतक मिना नहीं देखा है। जब तुम कुरबानगाह

पहुंचे और वहाँ कु.रबानीकी तब क्या तुमने सांसारिक विषय वासनाओं की कु.रबानीकी ?" "नहीं।" "तब तुमने कु.रबानी ही नहीं की। जब तुमने कंकड़ियां फेंकीं तो क्या तुमने अपने विषयवासनामय विचारों को अपने मनसे दूर फेंक दिया ?" "नहीं।" "तब तुमने अभीतक कंकड़ियां नहीं फेंकीं हैं। और अभी तक तुमने हज नहीं किया है।"

"निःसन्देह सर्वोत्तम स्थान यात्राका वह हो सकता है कि जहां के सम्बन्ध मन को पवित्रता और उच्च साहसवर्द्धक विचारों की ओर लगाने में अग्रसर हों। वह स्थान जो तीर्थंकर भगवान के तप वा धर्मोपदेश आदि के कारण विख्यात् एवं विनय करने योग्य होगए हैं, वहां पर सत्यखोजियों को विश्वास, वैराग्य और पुराय की वृद्धि के लिए जाना चाहिये। ऐसे स्थानों पर जानेसे जहां मनुष्योंद्वारा निर्मापित देवी देवता स्थापित हैं; कोई फल प्राप्त नहीं होता है।" (पृष्ठ ४७०-४७१) हज़ारों मनुष्य गंगास्नान आदि मुख्य तीर्थ स्थानों पर जाकर खूब मलमल कर नहाते हैं और पितरों की तृप्तिके लिए मुसंडे पापी पण्डों के पेट भरते हैं एवं मृतजीवों के शवों एवं हड्डियों को जल-प्रवाह में क्षेपण करके जलको अपवित्र और अपनी आत्माओं का अहित करते हैं। क्या इस प्रकार का गंगास्नान हमारे दुष्कर्मों को धो सक्ता है ? जिस प्रकार गृहस्थी में फँसे हुए हम अपने घर पर स्नान, भोजनादि नित्य क्रियायें करते थे, वैसे ही यदि वहां की तो उससे वास्तविक फल की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इसलिए केवल गंगास्नानसे कुछलाभ नहीं है। हां ! उसको अपनी आत्मशुद्धि का आधार मान कर यदि हम उसका वास्तविक उपयोग ध्यान साधनमें करें-जैसे कि ऋषिगण करते थे-तो वह सर्वथा उपादेय है। गंगाका निर्मल जल

हमें अपने निर्मल आत्मस्वभाव के दर्शन कराने में सहायक हो सकता है--उसकी स्थिरता, शीतलता आदि गुण हमें आत्मगुणों का अनुभव करा सकते हैं। बस, इस आत्म-ध्यान साधन रूप उसकी यात्रा करना फलदायक हो सकती है वरन् कोरी शैरगर्दी से फायदा ही क्या है ? यह पवित्र स्थान महत पुरुषों के पावन स्मार्क हैं। उन महानपुरुषों की पवित्र स्मृति वहां के कण कण में मौजूद है जिन्हों ने वहां से शाश्वत सुखको प्राप्त किया था। ऐसी अवस्था में तीर्थ--स्नान भावों को विशुद्ध बनाने में साक्षात् कारण हैं उन मुक्त आत्माओं का दिव्य प्रभाव आज भी वहां प्रकट है। उस स्थान पर पहुंचते ही हमें उस महान-पुरुष का चरित्र स्मरण हो आता है और उसका प्रत्यक्ष चित्र हमारे नेत्रों अगाड़ी खिंच जाता है! क्या किसी अन्य क्षेत्र में यह प्रभाव दिखाई पड़ सक्ता है? जिस महापुरुष का चारित्र हम प्रतिदिवस पढ़ते हैं, परन्तु तो भी उस का वह स्पष्ट दर्शन नहीं कर पाते जो उस महापुरुष के स्मार्क स्वरूप उसके तीर्थ स्थान पर करते हैं। उदाहरण में भगवान महावीर का नामोच्चारण हम भक्ति से प्रति दिवस करते हैं, परन्तु वह अतुल आल्हाद उपलब्ध नहीं जो उनके मोक्ष स्थान पावापुर में प्राप्त है। इस प्रकार तीर्थयात्रा का महत्व समझना आवश्यक है।

(४) ध्यान

शेष में ध्यान पर विचार करना बाकी रहा है जिस के साथ उपासना के अंगों की समाप्ति होती है ध्यान का भाव मनको संसार की ओर से मोड़कर आत्मामें लगाना है। उस

की सिद्धि सैद्धान्तिक अथवा अन्य प्रकार की तात्विक चर-चाओंको हर समय करते रहनेसे नहीं हो सकती है । अतएव उसकी सिद्धि उसही अवस्था में हो सकती है जब मनुष्य इस अवस्था को प्राप्त करले कि उस जीवन के प्रत्येक कार्य में वह अपनी आत्मिक सत्ता के रहस्य को अनुभव करे। अतः इस दशा को पहुंचने के लिये यह आवश्यक है कि आत्मा की रह-स्यमय सत्ता के प्रत्येक कार्य और प्रत्येक भावको साक्षात् ध्यान में लाने का अभ्यास किया जावे । इसके लिए यह सुगम नहीं होगा कि चंचल मन सहसा अन्य विषयपूर्ण चित्ताकर्षक बातों को उपेक्षा को इसमें पग जावे ! वह प्रयत्न करने पर भी संसारकी ओरही भगेगा । ऐसी दशामें ऐसे रागपूर्ण साधनकी आवश्यकता प्रारंभ में अवश्य होगी जिसके द्वारा मन पर क्रम कर काबू किया जाय और वह अन्त में रूपातीत–स्वतंत्रता ध्यानका उपयोग कर सके । इसके लिए हम मूर्ति-पूजा प्रकरण में साधन बतला चुके हैं । उसका अभ्यास करनेके उपरान्तही ध्यान का पूर्ण अभ्यास किया जासक्ता है और उससे लाभभी उठाया जा सकता है ।

ध्यान की पूर्ण सिद्धिके लिये यह भी आवश्यक होगा कि क्रमकर विषय वासनाओं और इच्छाओं पर विजय प्राप्त की जाय और शारीरिक ऐशो आराम एवं इन्द्रियलोलुपता को त्यागा जाय । संयम का अभ्यास करना परममुख्य होगा । उसके लिए सादा जीवन और सादा भोजन करना होगा। पवित्र और त्यागभाव को बढ़ाने की प्रवृत्ति हरसमय रखनी होगी। सारांश यह कि ध्यान अभ्यास के लिये प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन के नियम निर्माण करने पड़ेंगे। उदाहरण के रूपमें उसे कम से कम अभ्यास के समय में भी एकान्तवास, सात्विक भोजनपान;

निद्रा पर आधिपत्य; समय की पाबंदी, किसी काम को अति अधिक नहीं करना इत्यादि। यही व्रत नियम आदि नामों से संसार में प्रख्याति पाते हैं। इनका अभ्यास करने से मन को बड़ी शान्ति मिलती है। जीवन क्रम को अनियमित रखते हुये कभी भी सिद्धी नहीं होती है। मांस, मदिरा का सेवन करते हुये और विषयवासनाओं में पगे रहते हुये कभी भी इस की सिद्धि नहीं हो सकती। इस के विषय में एक विद्वान् का कथन है कि:—

"मांस एवं मदिरा का व्यवहार वर्जित है, कारण कि उन के व्यवहार से मन की शान्ति लोप हो जाती है, विषय-वासनायें पुष्ट हो जाती हैं और वह कोमल और क्षीण स्नायु एवं नाड़ियाँ जिन से आत्मा मन से जुड़ी हुई है स्थूल व कठोर एवं अशुद्ध हो जाते हैं; जिसके कारणवश ध्यान फिर भीतर आत्मा की ओर नहीं आकर्षित हो पाता है। इञ्जीलमें यशैयाह नबी ने क्या उत्तम कहा है।" (देखो अ० २८ आ० ७–८)

"पर वह भी मदिरा के कारण अपराध करते हैं, वे नशे में डिगमगाते हैं। पुजारी और नबी नशे से अपराध करते हैं। वे मदिरा से उत्पन्न नशेसे लड़खड़ाते हैं। उनके आचरण दोष पूर्ण होते हैं, उनकी बुद्धि ठोकर खाती है; कारण कि सर्व दस्तरख्वान वमनकी भूष्टा से लदे हुए हैं और अपवित्रता से भरे हुए हैं। यहांतक कि कोई स्थान भी स्वच्छ नहीं हैं।"

"यह वर्णन ध्यानके बाह्य सहकारी कारणोंका हुआ। उसके अभ्यन्तर सहकारी कारणोंमें कुछकी धारणायें हैं जिनका अभ्यास आत्माके अनुभवके लिये अतिफलदायक साबित हुआ है इनमें से एक अति सरल धारणा यह है कि अपने शरीर के भीतर एक विशुद्ध परमात्मा को, जिसका स्वभाव उत्कृष्टज्ञान,

उत्कृष्ट सुख और उत्कृष्ट शान्ति का भण्डार है, स्थापित करके ध्यान करे। इसका ध्यान नेत्रों को अधखुला रखके और मन को भीतर की ओर लगाकर करे। यदि इसके साथ या इसकी स्थिति के लिये शब्दों की आवश्यकता पड़े तो केवल वे ही शब्द व्यवहृत किये जांय जो आत्मा के स्वाभाविक गुणों को प्रकट करते हैं। जैसे ॐ; सोहम्–अर्हन्–सिद्ध–परमात्मा–निरञ्जन आदि आदि। निम्न लिखित श्लोक ध्यान के लिये मुख्यतया उपयुक्त है :—

'एकोऽहं निर्मल शुद्धो ज्ञान दर्शन लक्षणः।
शेषा मे बाह्यजा भावा सर्वे संयोग लक्षणाः॥'

"इसका अर्थ यह है कि 'मैं एक हूं, मैं निर्मल हूं, मैं परमात्मा हूं, मैं ज्ञान दर्शन गुणों वाला हूं, अवशेष सम्पूर्ण पदार्थ मेरे बाहिर हैं। वे मेरे स्वभाव से पृथक् हैं और कर्मों से उत्पन्न हुए हैं।' इस प्रकार हमको अपनी आत्मा का ध्यान करना चाहिये। ध्यान के कायम होने पर एक समय ऐसा आवेगा जब ध्यान करता स्वयं ध्यान की मूर्ति में लय होजावेगा, अर्थात् जब परमात्म स्वरूप आत्म द्रव्य में उतर आवेगा। यहां पर इच्छुक एवं इच्छा का पात्र एक हो जाते हैं। भक्त स्वयं अपना इष्ट देव बन जाता है। (देखो आत्म धर्म पृ० २७–२९) भाव यह है कि अनुयायी और आदर्श की एकता हो जाती है। अर्थात् शुद्ध आत्म द्रव्य परमात्मा की मूर्ति के सांचे में पड़कर वैसा ही हो जाता है। इस ही को इञ्जील की भाषा में जीवन में प्रवेश करना कहा है। और इसमें जीवन और आनन्द की इतनी अधिकता होती है कि जिन्होंने इस एक क्षण के लिए भी अनुभवगम्य किया है वह सदैव के लिए तृप्त हो गए हैं।" (असहमत संगम पृष्ठ ४७२–४७४) ऐसी ही समाधि-स्थित

आत्माके अपने हृदयसे एक तान अनायास निकल पड़ती है जिसका भाव यह है कि "शारीरिक दुःखोंसे बढ़कर कोई दुःख नहीं और परम शान्ति से बढ़कर कोई आनन्द नहीं। क्षुधा से बढ़कर कोई रोग नहीं—संसार बन्धन में पड़े जीवन से निःकृष्ट कोई क्षोभ नहीं—वस्तुतः जो इस बात को सच्चे हृदय से जानता है वह कहेगा कि 'निर्वाण' (संसार से मुक्ति—परम शान्ति-अवस्था) ही सर्वोत्कृष्ट भोग है—आनन्द है।

अतएव ध्यान हमारी आदर्शप्राप्ति का अन्तिम और आवश्यक उपाय है। इसही के बल हम अपने इष्ट स्थान को प्राप्त हो पाते हैं। इसका अभ्यास उपासना के प्राथमिक अंग से प्रारम्भ करने से ही इसमें कहीं सफलता प्राप्त होती है इस के सहकारी कारण शौच और संयम हैं। उनका वर्णन आगे के पृष्ठों में किया जायगा उनका पालन करते हुए ध्यान की स्थिरता को जिस समय हम पालेंगे उस समय हम परमसुख के राजमार्ग पर आजावेंगे। फिर अपनी वर्तमान् अर्थात् गार्हस्थिक अवस्था में रहना हमारे लिए असह्य होगा। हम उत्तरोत्तर उन्नति करने के ही प्रयत्न करेंगे। क्योंकि हमें उस शाश्वत सुखरूपी अमृत का किञ्चित स्वाद आजायगा जिस के लिए दुनिया तरस रही है। अतएव इस पवित्र अवस्था को प्राप्त करने के लिए अपने आप में एवं अपने आदर्श में तथा जीवन के साधारण सात्विक संयममय नियमों में विश्वास रखना एवं तद्रूप आचरण करना लाज़मी है। प्रारम्भ में यह मार्ग कठिन प्रतीत होगा, परन्तु कुछेक काल के निरन्तर अभ्यास से वही सरल और आनन्दोत्पादक हो जायगा। इस के विषय में एक आधुनिक विद्वान् कहते हैं कि:—

"ध्यान और धारणा किसी दैवी आदर्श को सामने रखकर

करना चाहिये। इन अभ्यासों के समय बहुत से विघ्न तुम्हें बाधा देंगे। उन सबको जीतने के लिये अपनी संकल्प शक्ति दृढ़ करना चाहिये। कभी २ तुम्हें बड़े अचम्भे की बात नज़र आवेगी। कभी तुम अपने आपको बिल्कुल भूल जाओगे। परन्तु ईश्वर में श्रद्धा रखने से तुम्हारी हमेशा उन्नति होती गी और अन्त में तुम और परमात्मा एक हो जाओगे।"

(कल्पवृक्ष पृष्ठ ६ वर्ष २ अङ्क ८)

इस प्रकार सामान्यतः ध्यान का विवेचन है। इसका विशेष वर्णन ज्ञानार्णव प्रभृति ग्रन्थोंसे देखना चाहिये। अब केवल शौच और संयम का दिग्दर्शन करना शेष है जिन का पालन करना सुख के राजमार्ग तक पहुंचने के लिए परमावश्यक है।

(५) शौच और संयम

शौच और संयम अथवा तप से यथार्थ भाव आभ्यन्तर शुद्धता से है। कहा भी है कि 'शुचेर्भावः इति शौचः।' अर्थात् भावों की शुद्धता होना ही वास्तविक शुद्धता है। शौच का सम्बन्ध आत्मा से ही है जब आत्मा में से क्रोध, मान, माया, लोभादि कषाय निकल जायेंगे तब ही उसमें वास्तविक--स्वाभाविकशुचिता प्रगट होगी। वैसे दृष्टि पसारने पर संसारमें बाह्य शुद्धि को ही शौच समझा जा रहा है। यह केवल भ्रम है। मात्र-देह वस्त्रादि की शुद्धता में ही शौच की पूर्ति नहीं हो सकती। वस्तुतः 'अन्तरङ्ग शुद्धि बिना बाह्य शुद्धि प्रयोजनीय नहीं है।' ऐसी दशा में गङ्गादि तीर्थ नदियों के स्नान करने से कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता है। और न उपासना तत्व में बाह्यशुद्धता से ही काम चल सकता है। यदि कोई धर्मात्मा बनने का इच्छुक खूब साफ सुथरे अच्छे वस्त्र खूब अच्छी तरह

नहाने के उपरान्त धारण करके उपासना में व्यस्त हो और वहां वर्तनादि के विषय ही में मन को अटकाये रहे और उसमें ज़रा बाधा आने पर एकदम कषायों के वशीभूत हो जाय तो भला उसका शौच कहां रहा? हृदय ही मलिन रहा तो फिर बाहिरी शुद्धता भी समुचित नहीं हो सकती। इसलिये शौचके मूल उद्देश्य तो आत्म शुद्धि से ही है। बाह्यशुद्धि उसको विशेष कार्यकारी नहीं है। मूल में तो शरीर किसी अवस्था में भी पवित्र नहीं है। उसको जितना ही पवित्र किया जाय परन्तु वह पवित्र हो नहीं सकता। बढ़िया से बढ़िया साबुन से नहाइये और फिर बढ़िया से बढ़िया इत्र लगाइये और स्वच्छ वस्त्र धारण कीजिये परन्तु उसके संसर्ग से यह सब वस्तुयें अपनी शुचिता को खो बैठेंगी। वह दूसरों को भी अपवित्र बनाता है, इतना वह अपवित्र है। ऐसी दशा में परमार्थ मार्ग में भी उस ही पर दृष्टि अटकाए रहना ठीक नहीं है। उपासना तत्व में शौच का पालन तब ही होगा जब अन्तरङ्ग शुद्धि की ओर ध्यान दिया जायगा। शरीर और आत्मा का स्वभाव ही भिन्न है। शरीर अशुचि है तो आत्मा शुचिता रूप है। इस लिए उसमें ममत्व वश अहंभाव रखना वृथा है। शरीर के विषय में यह बात हर समय ध्यान में रखना आवश्यक है कि:—

"यावन्नगृह्यन्ते रोगैः यावन्नाभ्येति ते जरा।

यावन्न क्षीयतेचायुस्तावत्कल्याणमाचर॥"

अर्थात्—जबतक रोगों ने नहीं घेरा है, बुढ़ापा नहीं आया है और आयु क्षीण नहीं हुई है तबतक कल्याण करलेना चाहिये। इसका वास्तविक उपयोग आत्मशुद्धि करने में ही है। यही बात संयम अथवा तप से इष्ट है। नीति वाक्य स्पष्ट कहता है कि 'इन्द्रिय निरोधस्तपः' अथवा 'इन्द्रिय निरोधो संयमः'

भाव यही है कि इन्द्रियों के निरोध में ही तप है, इन्द्रियों के निरोध में ही संयम है। वस्तुतः जब उपासना तत्त्व के प्राथमिक मार्गों पर चलकर भक्तवत्सल प्रेमी आदर्शके गुणों और उसके उन उपायों को जान जाता है जिन पर चल कर उसने परम सुखधामको प्राप्त किया है, तब वहयह विश्वास करकेकि इन मार्गों में इन्द्रिय-निरोध आवश्यक है उसका अनुसरण अन्ततः वह प्रेमी करने ही लगता है। क्योंकि उसको इस बातका दृढ़ श्रद्धान होजाता है कि इन्द्रिय सुख जो है वह कर्माधीन है-क्षणिक है और दुःख का कारणही है। तिसपर इस क्षणिक विषय सुख की भांति उसको भोगनेवाला भी जड़ ही है। और उस का आत्मा उससे विभिन्न चैतन्य स्वभाव मई है। वह अपने आप में पूर्ण स्वाधीन, ज्ञानमई, सुखरूप है। इन विषय वासना में अन्धा हुआ वह अपने रूपको भूले हुए है। उसको वह तबही पा सकता है जब इस जड़ भार को उतार दूर फेंकदे-विषय वासनाओं से मुख मोड़ले। इसलिए इन्द्रियनिग्रह करना और आत्मध्यान में लीन होना परम सुख प्राप्ति का मुख्य कारण है। केवल शरीर को कष्ट देने से भी कल्याण नहीं हो सकता है। चञ्चलमन को ज्ञान अंकुश से विषय-खन्दक की ओर जाने से रोककर आत्म-गुण रूपी सुवासित ठण्डी सड़क पर चलने के लिए वाध्य करना ही संयम है। इन्द्रियों के सुखों से मुंह मोड़ आत्मलीन होने के प्रयत्न करना ही तप है। इस के विपरीत सब क्रियायें कायक्लेश मात्र हैं। आचार्य भी यही कहते हैं:-

'कषाय विषया हारो, त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासो सविज्ञेयः, शेषम् लंघनम् विदुः॥

अर्थात्-विषय कषायों का त्याग जहां होता है, वही उप-

चाल है, शेर सब लङ्घन कहाजाता है। इसलिए अन्तरङ्ग से ही विषयों की इच्छा को घटाते हुए तदनुसार बाहिर भी विषय सेवन रोकाजाय, तभी विशेष लाभदायक हो सकता है। भक्तवत्सल प्रेमी परमसुख के राजमार्ग तक पहुंचने के लिए इनका अभ्यास एक भाग में न्यूनता पूर्वक अपनी परिस्थिति के अनुसार करता है और जब वह राजमार्ग पर पहुंच जाता है तब इनका पूरा पालन करने लगता है। गृहस्थ अवस्था में परम सुख प्रेमी यमनियमों द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश करने का यथाशक्ति साधन करते हैं, जिससे कि उनकी स्थिरता ध्यान की ओर बढ़ती जाय, जो आदर्शप्राप्ति के लिए मुख्य कारण है। आधुनिक जैन तत्त्ववेत्ता मि० चम्पतराय जी जैन इस विषय में लिखते हैं किः—

"....यह ध्यान रखना चाहिये कि शौच और तप का यथार्थ भाव संपूर्णतया अभ्यन्तर अशुद्धता के दूर करने से है, न कि बाह्य शरीर के धोने से, वा भिन्न २ प्रकार के आसन माढ़ने से। आसन माढ़ना, उपवास आदि सब निःसन्देह आत्मोन्नति के लिए आवश्यक अङ्ग हैं। परन्तु यह सब विशुद्ध ध्यान केही सहायक हैं, जो वस्तुतः मोक्ष का वास्तविक कारण है। कारण कि बिदून मन, वचन, कायको वशमें लाने के ध्यान में आरूढ़ होना असम्भव है, परन्तु जहां ध्यान ही नहीं है वहां शरीर को कष्ट और आत्मा को क्लेशदेने से क्या फल? न तो राजयोग (केवल मनद्वारा ध्यान करना) और न हठयोग (शारीरिक तपस्यामात्र) ही इस हेतु फलदायक हो सकते हैं। और न केवल ज्ञानयोग (धर्म ध्यान) ही मार्ग हो सकता है। यथार्थ मार्ग सम्यक् श्रद्धान (दर्शन) सम्यक् ज्ञान और सम्यकचारित्र के मिलने से बना है। ...भक्तियोग भी अवश्य

विशेष सहायक होता है यदि उसका उपयुक्तरीत्या व्यवहार किया जावे। भक्ति का इष्टदेव कोई कवि कल्पना का देवी देवता नहीं है, सुतरां स्वयं भक्त की ही आत्मा है। यद्यपि जब तक इसमें प्राप्ति न हो उस समय तक तीर्थंकर भगवान् को ही जिनसे अन्य कोई बड़ा गुरू नहीं हो सकता है, आदर्श मानकर उनकी भक्ति करना आवश्यक होता है। जैसा कि कुरानशरीफ़ जोर के साथ बताती है, 'परमात्मा का बपतिस्मा! और परमात्मा से कौन विशेष बपतिस्मा देनेवाला हो सकता है? और हम उसके चाकर हैं।' ईसू की जीवनी तीर्थंकर भगवान के जीवन का उत्तम दर्जे के अलंकार में विवरण है। वह यहूदियों की भाषा में और यहूदियों की त्रुटियों को लिए हुए विजयी जीवन का परमेश्वरीय पुत्रावस्था का और परमात्मापन के मनुष्यात्मा में प्रकाशित होने का उच्चतम आदर्श है। यथा :—

'......मैं तुम से कहता हूं कि यहां वह है जो हेकल से भी बड़ा है परन्तु यदि तुम इसके अर्थ को जानते कि मैं बलि नहीं सुतरां दया का इच्छुक हूं तो निरपराधों को अपराधी न ठहराते।' (मत्ती १२। ६-७)

"अतः परमात्माओं की विजय-पताकाओं पर लिखी हुई सत्य की घोषणा जीवन और आनन्द का शुभ समाचार है जो 'अहिंसा परमो धर्मः' के तीन अत्युत्तम एवं मिष्टतम शब्दों में सब जीवों को जीवन की आशा दिलाता है और उसको जो उस पर अमल करे परमात्मपन का नित्य जीवन प्रदान करता है।" (असहमत संगम पृष्ठ ४७५-४७६)

इस प्रकार उपासनातत्व के सर्व अङ्गों का परिचय हम प्राप्त कर लेते हैं। परम सुख के राजमार्ग तक पहुंचने के लिए यही एक उपाय पर्याप्त है; क्योंकि यदि इसके सर्व अंगों का

समुचित पालन किया जावे तो मनुष्य निस्सन्देह राजमार्ग पर पहुंचे बिना नहीं रहे। इसलिए शेष में हमें जिन बातों को देखना है वह इस ही में गर्भित मिल जाती हैं तो भी हम उनका अलग २ पर्याप्त परिचय प्राप्त करेंगे जिससे शौच, संयम और तप का वास्तविक पालन हो सके और ध्यान की दृढ़ता प्राप्त हो। इन्द्रिय निग्रह के लिये पाठकगण देखेंगे कि सर्व धर्मों में पांच पापों के त्याग का आदेश मिलता है। हिन्दू धर्म के एक आचार्य भी निम्न प्रकार इनको आवश्यक बतलाते हैं :—

"अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं परिगृहो।
यमाः संक्षेपतः प्रोक्ताश्चित्तशुद्धि प्रदा नृणाम्॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यही वास्तविक यम हैं, मूल व्रत हैं। इन्हीं के पालन से चित्त शुद्धि होती है और अन्ततः इन्हीं के पालन से आदर्श सिद्धि-मोक्ष का लाभ होता है। अतएव अगाड़ी के पृष्ठों में हम प्रत्येक का वास्तविक परिचय प्राप्त करने के प्रयत्न करेंगे। यह ही अहिंसादि सामान्य धर्म समस्त दर्शनानुयायियों को मान्य हैं। एक विद्वान लिखते हैं कि :—

"पञ्चैतानि पवित्राणि सर्वेषां धर्मचारिणां।
अहिंसा सत्यमस्तेयं त्यागो मैथुन वर्जनम्॥"

अर्थात्—"अहिंसा, सत्य, चोरी का त्याग, ब्रह्मचर्य का पालन और सर्वथा परिग्रह वाली मूर्च्छा का त्याग, ये पांच पवित्र महाव्रत समस्त दर्शनानुयायी महापुरुषों को बहुमान पूर्वक माननीय हैं, अर्थात् सन्यासी, स्नातक, नीलपट, वेदान्ती मीमांसक, साँख्यवेत्ता, बौद्ध, शाक्त, शैव पाशुपत, कालामुखी, जङ्गम, कापालिक, शाम्भव, भागवत, नग्नव्रत जटिल आदि

आधुनिक तथा प्राचीन समस्त मतवालों ने यम, नियम, व्रत, महाव्रतादि के नाम से मान दिया है और देते भी हैं।" (अहिंसा दिग्दर्शन पृ० ४२) सांसारिक प्रपंचों में फँसे हुये मनुष्य इनका पालन कर स्वर्गसुख प्राप्त करते हैं और क्रमकर शाश्वत परमसुख को भी पालेते हैं। वस्तुतः—

"हिंसा मिथ्या चोरी मैथुन, और परिग्रह जो हैं पाप।
स्थूल रूपसे इन्हें छोड़ना, कहा अणुव्रत प्रभु ने आप॥
निरतिचार इनको पालन कर, पाते हैं मानव सुरलोक।
वहाँ अष्टगुण अवधिज्ञान त्यों, दिव्यदेह मिलते हर शोक॥"

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार

इन्हीं का क्रमवार दिग्दर्शन आइए पाठकगण करलें।

(६) अहिंसा क्या है ?

क्रीडाभूः सुकृतस्य दुष्कृतरजः संहारवात्या भवो-
दन्वन्नौर्व्यसनाग्नि मेघपटली संकेत दूती श्रियाम्।
निःश्रेणिस्त्रिदिवौकसः प्रियसखी मुक्तेः कुगत्यर्गला,
सत्त्वेषु क्रियतां कृपैव भवतु क्लेशैरशेषैः॥"

—हेमचन्द्राचार्य

आचार्य कहते हैं कि प्राणियों में दयाही करना चाहिये, दूसरे क्लेशों से कुछ प्रयोजन नहीं है; क्योंकि सुकृत का क्रीड़ा करने का स्थान अहिंसा है, अर्थात् अहिंसा सुकृत को पालन करनेवाली है और दुष्कृतरूप धूली को उड़ाने के लिये वायु समान है, संसाररूपी समुद्र के तरने के लिये नौका समान है और व्यसनरूप दावाग्नि के शान्त करने के लिये मेघकी घटा के तुल्य, तथा लक्ष्मी के लिये संकेतदूती है; अर्थात् जैसे दूती स्त्री या पुरुष को परस्पर मिलादेती है वैसेही पुरुष का और लक्ष्मी का मेल अहिंसा करादेती है और स्वर्ग में चढ़ने के

लिये सोपानपंक्ति है, तथा मुक्ति की प्रियसखी कुगति के रोकने केलिये अर्गला अहिंसा ही है।"

वस्तुतः संसार में केवल अहिंसा ही एक वस्तु है जिसके आश्रय से मनुष्य की प्रत्येक वाञ्छा पूर्ण हो सकती है। वह कल्पवृक्ष समान व्यक्ति की प्रत्येक इच्छा को पूर्ति करनेवाली है। उसकी शरण में पड़ने से, उसको अपने हृदय में विठाने से अथवा उसके समतामई निष्कण्टक मार्गपर चलने से प्राणी स्वयं सब पापों कर्मों का त्याग करता हुआ ब्रह्मचर्य, परोपकार सन्तोष, दान, ध्यान, तप, जप, आदि सर्व सद्गुणों को ग्रहण करलेता है-उनका अभ्यास अनायास करने लगता है। वास्तवमें अहिंसा एक बगीचा है और उसमें ब्रह्मचर्य, व्रत, दानादि शेष शुभकार्य क्यारियां रूप हैं। उसमें कारुण्य, मैत्री, प्रमोद और माध्यस्थ,-इन चार भावनारूप नालियों से शान्तिरूप जल इधर उधर बहता है। 'तथा दीर्घायुष्य, श्रेष्ठशरीर, उत्तमगोत्र, पुष्कलद्रव्य, अत्यन्तबल, ठकुराई, आरोग्य, अत्युत्तम कीर्तिलतादि वृक्षों की पङ्क्ति कलोल कररही हैं, और विवेक, विनय, विद्या, सद्विचार आदि की सरल और सुन्दर पत्रपङ्क्तियां प्रफुल्लित होकर फैलरही हैं; तथा परोपकार ज्ञान, ध्यान तप, जपादिरूप पुष्पपुञ्ज भव्यजीवों को आनन्दित कररहा है, एवं स्वर्ग, अपवर्गरूप अविनश्वर फलों का बुभुक्षित मुनि आस्वादन कररहे हैं, ऐसे अहिंसारूपी अमूल्य बगीचेकी रक्षाके लिये मृषावादपरिहार, अदत्तादानपरिहार, ब्रह्मचर्य सेवा, परिग्रह त्यागरूप अटल अभेद (काम-क्रोधादि अनादिकाल के अपने शत्रुओं से दुर्लंघ्य) क़िले की आवश्यकता है। विना मर्यादा कोई चीज़ नहीं रह सकती, अतएव अहिंसारूप अत्युपयोगी बगीचे के बचाने के लिये समस्त धर्मवाले न्यूनाधिक धर्म कृ-

त्थों को करते हैं यह बात सर्वथा माननीय है। यदि इस बात के न माननेवाले को नास्तिक कहाजाय तो अतिशयोक्ति नहीं है। जीवहिंसा के समान कोई पाप नहीं है और दया के समान कोई धर्म नहीं है।'*

अतएव जो अहिंसा इस प्रकार महत्त्वशालिनी है और जो हमें परमसुख के राजमार्ग पर लेजानेवाली है उसकी पूर्ण परिभाषा जानलेना भी आवश्यक है। प्राकृत अनुरूप में अहिंसा वही है जहां मन वचन और कायकी प्रवृत्तिद्वारा हिंसा न की गई हो। हिंसा को प्राचीन आचार्यों ने इस प्रकार निर्दिष्ट किया है अर्थात् "प्रमत्त योगात्प्राण व्यपरोपणं हिंसा।" अर्थात् कषायों के आवेश में प्रमादी हो किसी प्राणी के प्राणों को हानि पहुंचाना हिंसा है। व्याकरण शास्त्र भी 'हिंसा' शब्द की उत्पत्ति हननार्थक 'हिंसी' धातु से बताते हैं। इससे हिंसा का अर्थ 'किसी प्राणी का मारना या सताना' होता है। किसी जीवित प्राणी को प्राणों से रहित करना अथवा उसे किसी प्रकार का दुःख पहुंचाने के प्रयत्न करना ही हिंसा है। इसकी उपेक्षा करके किसी जीवों को न मारना और दुःख न पहुंचाना ही अहिंसा है। जैनाचार्य इसका एक देश पालन करना इस प्रकार बतलाते हैं :-

"शांताष्ट कषायस्य संकल्पैर्नवभिस्त्रसान्।
अहिंसतो दयार्द्रस्य स्यादहिंसेत्यणुव्रतं॥

—सागार धर्मामृत

अर्थात्—"जिसके अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ ये आठों कषाय शांत हो गये हैं अथवा जिसने यह आठों कषाय शान्त

---

*अहिंसा दिग्दर्शन पृष्ठ २२-२३।

कर दिये हैं, तथा जो मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से अर्थात् नौप्रकार से संकल्पपूर्वक द्वीन्द्रिय तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवों की हिंसा नहीं करता है। और जो दयालु है अर्थात् जिसका अन्तःकरण करुणा से कोमल है। कारण पड़ने पर स्थावर-पृथ्वी, जल, आदि-जीवों का घात करता है तथापि उसके हृदय में उस समय भी बहुत दया आती है। ऐसे भव्यजीव के पहिला अहिंसा अणुव्रत होता है।"

इसका भाव यह है कि अहिंसा व्रतका पालन करते हुए जीव न स्वयं हिंसा करता है न किसी दूसरेसे कराता है और न करते हुए को भला मानता है स्पष्टरूपमें यह इस प्रकार है कि (१) मनसे त्रसजीवों की हिंसा करने का त्याग करना अर्थात् मन में कभी मारने का संकल्प नहीं करना (२) मन से हिंसा कराने का त्याग करना अर्थात् मनमें कभी दूसरेसे हिंसा करा ने का संकल्प नहीं करना. (३) मन से हिंसा में अनुमति नहीं देना अर्थात् किसी दूसरे की की हुई हिंसा में "उसने अच्छा किया" इस प्रकार मन से अनुमोदना नहीं करना, (४) वचन से हिंसा नहीं करना अर्थात् मैं मारता हूं ऐसा शब्द उच्चारण नहीं करना, (५) वचन से हिंसा नहीं करना अर्थात् "तू मार या हिंसाकर" इस प्रकार वचन से नहीं कहना, (६) वचन से हिंसा की अनुमोदना नहीं करना अर्थात् जो हिंसा किसी दूसरे ने की है उसमें "उसने अच्छा किया अथवा तूने अच्छा किया" इस प्रकार शब्दों का उच्चारण नहीं करना अथवा ऐसे शब्द मुंह से नहीं निकालना. (७) काय से हिंसा नहीं करना अर्थात् त्रसजीवों की हिंसा करने के लिए स्वयं हाथ थप्पड़ आदि नहीं उठाना अथवा किसी जीव की हिंसा

करने के लिए शरीर का कोई व्यापार नहीं करना। काय से हिंसा नहीं करना अर्थात् त्रस-चलते फिरते-जीवों की हिंसा करने के लिए उङ्गली आदि से इशारा नहीं करना अथवा और भी शरीर से किसी तरह की प्रेरणा नहीं करना। तथा काय से हिंसा में अनुमति नहीं देना अर्थात् जो कोई त्रसजीव की हिंसा करने में प्रवृत्त हो रहा है उसके लिये ताली या चुटकी बजाकर सम्मति नहीं देना। इस प्रकार नौ प्रकार के सङ्कल्प होते हैं। इन नौ प्रकार के संकल्पों से त्रसजीवों की हिंसा का त्यागकर देना उत्कृष्ट अहिंसाणुव्रत है।' (सागारधर्मामृत २२६-२२७) इसका पालन गृहत्यागी श्रावक करता है। परन्तु संक्षेपरूप में गृहस्थों को भी निज परिस्थिति अनुसार इनका पालन करना आवश्यक है। इसही बातको लक्ष्यकर एक अन्य जैनाचार्य कहते हैं कि:-

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्व शक्तिमपि तावपि त्याज्यौ॥ १६१॥

अर्थात्-वह व्यक्ति जो अपनी शक्ति अनुसार न्यूनरूप में अहिंसाव्रत का पालन करता है उसको सांसारिक भोगोपभोग में ही हिंसा का दोष लग सकता है-शेष में नहीं। इस लिए उसे वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को समझ कर क्रमशः अपनी आत्मिक शक्ति की वृद्धि के मुताबिक उनसे भी मुख मोड़ने के प्रयत्न करना चाहिए। बात यह है कि संसारी मनुष्य हृदय में विषय भोगों के भोगने की वाञ्छा इस प्रबलरूप से जड़ जमाए हुए है कि प्रत्येक के लिए यह संभव नहीं है कि वह उन से एक दम मुँह फेरले। इस लिए उसके लिए यह आवश्यक है कि वह इनके स्वरूपको जानले और फिर अपनी आत्मोन्नति करना प्रारंभ करदे। वस्तुओं के यथार्थरूप का जानते ही उस

का त्यागभाव उत्तरोत्तर बढ़ता जायगा और अन्ततः वह परम-सुख के राजमार्ग पर पहुंच जायगा। उसको उन बातों की आवश्यक्ता ही नहीं रहेगी जिनको वह पहिले ज़रूरी समझता था। इसी तरह हिंसक या अहिंसक यदि अहिंसा का पूर्णरूप जानकर उस ओर किञ्चित आकर्षित होगा, तो उस के लिए यह लाज़मी है कि वह एक रोज़ पूर्ण अहिंसक होजावे। इसलिए वास्तविक तत्वोंका ज्ञान प्रत्येकको करना तथा कराना परम हित-कर है। यहाँ हम अहिंसा के विषय में देख चुके हैं कि किसी प्राणी के प्राणों को हरण करना अथवा उसको दुःख देना इस हिंसासे अपने को बचाए रखना ही अहिंसा है। परन्तु गृहस्थ व्यक्ति के लिए यह संभव नहीं है कि वह इसका पालन पूर्ण-रीति से कर सके; इसही लिए उनको अपनी शक्ति अनुसार उसका पालन करने का विधान किया गया है। वस्तुतः अहिंसा का पूर्ण लक्षण जैसा कि ऊपर बतलाया गया है हम प्रत्येक धर्म में पाते हैं, यद्यपि यह ठीक है कि जैनधर्म के अतिरिक्त अन्य धर्म शास्त्रों में इसका व्यवस्थित-वैज्ञानिक-विवेचन नहीं है। परन्तु यह बात नहीं है कि उन धर्मों में अहिंसाभाव को स्वीकार न किया गया हो। यदि अशुभ कार्य हिंसा को ही उन में प्रधानता दी गई होती तो उनको 'धर्म' नाम से संज्ञित होना ही अशक्य था। यही बात उन पर एक नजर डालने से प्रमाणित होती है। पहिले ही हिन्दू धर्म को ले लीजिये। उन के धर्म शास्त्रों में निम्न वाक्य उसमें अहिंसा धर्म की प्रधानता बतलाते हैं :—

(१) अथर्व वेद ऋचा प्रथम का भाव है कि "समस्त जल, थल और नभ के विविध जीवित प्राणी जो इस संसार चक्कर लगा रहे हैं, उनको वेदों का ज्ञाता अथवा वेदों का

उपासक कभी न मारे, सुतरां जो मेरा (ईश्वर का) हर्ष चाहे वह सदैव उनके प्राणों को रक्षा करे।"

(२) यजुर्वेद में एक स्थान पर स्पष्ट यही लिखा है कि "जो व्यक्ति जीवित प्राणियों को मारता है वह मर कर ऐसे नरक में जाता है जहां पर सूर्य नहीं होता और महा अन्धकार व्याप्त होता है। और जो सब जानदारों को अपने ही जैसा जानता है, और अपने को उन जानदारों जैसा जानता है वह कभी कष्ट नहीं पाता।" अतएव "सर्व जीवित प्राणियों को मैं मित्रों को भांति समान दृष्टि से देखूंगा।" (१८ । ४)

(३) "जीवित प्राणियों को मारने वाला निर्दयी होता है और उसको संगति से पाप होता है।" (वैशेषिक सूत्र ७)

(४) "यज्ञ करना, नेक चलन रहना; इच्छाओं का निरोध करना, जीवित प्राणियों को न मारना, दान देना, धर्मशास्त्र का स्वाध्याय करना और योग से आत्मदर्शन करना ही परम धर्म है।" (याज्ञवल्क्य स्मृति अ० ६ श्लोक ८)

(५) ऋषयो ब्राह्मणा देवाः प्रशंसन्ति महामते।
अहिंसा लक्षणं धर्मं वेद प्रामाण्य दर्शनात् ॥
—महाभारत अनुशासन पर्व ११४-२

(६) "त्यजेद्धर्मं दया हीनम्।"
—चाणक्य नीति अ० ४ श्लोक १६

(७) व्यास जो कहते हैं कि:—

"अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचन द्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम् ॥"

अर्थात्—"अठारह पुराणों में अनेक बातें रहने पर भी मुख्य दो ही बातें हैं। एक तो परोपकार, जो पुण्य के लिये है और दूसरा (पर पीड़न) दूसरे को दुःख देना, जो पाप के लिये है।"

(८) योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्म सुखेच्छया ।
सजीवश्चमृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते ॥
मनुस्मृति ४५-५...।

अर्थात्-अहिंसक (निरपराधी) जीवों को जो अपने सुख की इच्छा से मारता है वह जीता हुआ भी मृतप्राय: है, क्यों कि उसको कहीं सुख नहीं मिलता।"

(९) महाभारत शान्तिपर्व के प्रथमपाद में लिखा है कि:-
"सर्वे वेदा न तत्कुर्युः सर्वे यज्ञाश्च भारत ।
सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च यत्कुर्यात् प्राणिनां दया ॥"

अर्थात्-"हे अर्जुन ! जो प्राणियों की दया फल देती है वह चारों वेद भी नहीं देते और न समस्त यज्ञ देते हैं तथा सर्व तीर्थों के स्नान वन्दन भी वह फल नहीं दे सकते हैं।" और भी कहा है कि:-

अहिंसा लक्षणो धर्मो ह्यधर्मः प्राणिनां वधः ।
तस्माद्धर्मार्थिभिर्लोकैः कर्तव्या प्राणिनां दया ॥"

अर्थात्-"दया ही धर्म है और प्राणियों का वध ही अधर्म है, इस कारण से धार्मिक पुरुषों को सर्वदा दया ही करनी चाहिये, क्योंकि विष्टा के कीड़े से लेकर इन्द्र तक सब को जीविताशा और मरण भय समान है।"

(१०) महाभारत के वाक्य हैं कि:-
"महता मपि दानानां कालेन क्षीयते फलम् ।
भीता भय प्रदानस्य क्षय एव न विद्यते ॥
कपिलानां सहस्राणि यो विप्रेभ्यः प्रयच्छति ।
एकस्य जीवितं दद्यात् न च तुल्यं युधिष्ठिरं ॥
दत्तमिष्टं तपस्तप्तं तीर्थ सेवा तथाश्रुतम् ।
सर्वेऽप्यभयं दानस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥"

अर्थात्- "बड़े से बड़े दान का फल कुछ काल में क्षीण हो जाता है, किन्तु डरे हुए प्राणि को अभय देने से जो फल उत्पन्न होता है उसका क्षय नहीं होता, अर्थात् अभय दान से मोक्ष होता है। ब्राह्मणों को हजारों कपिला गौएँ दी जावें और यदि केवल एक जीव को भी अभय दान दिया जाय तो बराबर ही फल नहीं है, बल्कि अभय दान का फल अधिक है। इष्ट वस्तु के दान से, तपस्या करने से, तीर्थ सेवा से या शास्त्र के पढ़ने से जो पुण्य होता है वह अभय दान के १६ वें भाग के सदृश भी नहीं है। भयभीत प्राणी को जो अभयदान दिया जाता है उस से बढ़कर पृथ्वी पर तप अधिक नहीं है अर्थात् सर्वोत्तम अभयदान ही है।"

(११) वाराह पुराण में लिखा है कि :-

"जरायुजाण्ड जोद्भिज्ज स्वेदजानि कदाचन।
ये न हिंसन्ति भूतानि शुद्धात्मानो दयापराः॥ ॥ ८॥१३२॥"

भावार्थ-मनुष्य, गौ भैंस और बकरी वगैरह एवं अण्डज अर्थात् सब प्रकार के पक्षी; उद्भिज यानी वनस्पति, और स्वेदज यानी खटमल, मच्छर, डांस, जूआँ, लीख आदि समस्त जन्तुओं की जो पुरुष हिंसा नहीं करते हैं वे ही शुद्धात्मा और दया परायण सर्वोत्तम हैं।"

(१२) कर्म-पुराण में भी लिखा है कि :-

" न हिंस्यात् सर्व भूतानि नानृतं वा वदेत् क्वचित्।
नाहितं नाप्रियं ब्रूयात् न स्तेन. स्यात् कथञ्चन ॥"

—अ० १६

भावार्थ-"सब भूतों की हिंसा नहीं करनी, झूठ नहीं बोलना, अहित और अप्रिय नहीं बोलना और किसी प्रकार की चोरी भी नहीं करनी चाहिये।"

(१३) भागवत में लिखा है कि :-

"ये त्वनेवं विदोऽसन्त. स्तब्धाः सदभिमानिनः ।
पशून् द्रुह्यन्ति विस्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान् ॥
११ । ११ । ५

भावार्थ-"निश्चल भाव को प्राप्त होकर अहिंसा धर्म को न जान कर अपने को अच्छा मानने वाला जो असाधु पुरुष पशुओं से द्रोह करता है वह उन पशुओं से दूसरे जन्म में अवश्य खाया जाता है।"

(१४) श्रीमद् भगवद्गीता में कहा है कि :-
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन !

सुखं वा यदि वा दुःखं सयोगी परमो मतः ॥ ३२ ॥ ६॥"
भावार्थ-"जो महात्मा सब में अपने समान ही सुख और दुःख दोनों मानता है वही परम योगी माना जाता है।

(१५) तुलसी दास जी ने भी लिखा है कि :-
"दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसीदास न छाड़िये, जब लग घट में प्रान ॥

(१६) कबीर साहब कहते हैं कि :-

"कबीरा ते ही पीर हैं, जो जाने परपीर।
जो पर पीर न जानि है, सो काफ़िर बेपीर ॥"

ऐसे ही अनेक उदाहरण अहिंसा की पुष्टि में हिन्दू शास्त्रों से उपस्थित किए जा सकते हैं अतएव इनसे स्पष्टतः अहिंसा धर्म का लक्षण व्यक्त हो जाता है। तो भी हिन्दू आचार्य पातञ्जलि कृत योग के भाष्यकार अहिंसा का लक्षण इस प्रकार करते हैं यथा :-

"सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोह अहिंसा।"

अर्थात्–'सब प्रकार से, सब समयों में, सब प्राणियों के साथ मैत्रीभाव से व्यवहार करना, उनसे प्रेम भाव रखना इसी को अहिंसा कहते हैं। गीता में भी यही लक्षण निर्दिष्ट किया गया है; जैसे :–

"कर्मणा मनसा वाचा सर्व भूतेषु सर्वदा।
अक्लेश जननं प्रोक्ता अहिंसा परमर्षिभिः ॥"

अर्थात्–'मन, वचन, तथा कर्म से सर्वदा किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं पहुंचाना इसी को महर्षियों ने अहिंसा कहा है।' परन्तु यहां पर प्रश्न यह हो सकता है कि अहिंसा के पालन की आवश्यकता क्या है? ऊपर के विवेचन से शायद पाठकगण कहें कि अपनी आत्म शुद्धि के लिए वह आवश्यक है। बात ठीक है, परन्तु यह एक तरह से अपने स्वार्थ को प्रकट करती है। इसके अतिरिक्त कोई प्राकृतिक सार्वभूत कारण भी इसके लिए अवश्य होना चाहिये। तनिक प्राचीन ऋषियों के वाक्यों पर दृष्टि डालने से हमें इसका यथार्थ उत्तर मिल जाता है। श्री हेमचन्द्र आचार्य कहते हैं कि :–

"आत्मवत् सर्व भूतेषु सुखः दुखे प्रियाप्रिये।
चिन्त यन्नात्मनोऽनिष्टां हिंसा मन्यस्य नाचरेत् ॥"

अर्थात्–"जिस प्रकार अपने को सुख प्रिय और दुख अप्रिय लगता है, उसी प्रकार दूसरे प्राणियों को भी मालूम होता है। इस कारण हमारा कर्तव्य है कि अपनी आत्मा की ही तरह दूसरों की आत्मा को समझ कर उनके प्रति कोई अनिष्ट मूलक आचरण न करें।" एक अन्य जैनशास्त्रकार भी इस ही बात को और भी स्पष्ट कहते हैं :–

"सव्वे जीवावि इच्छन्ति जीविउं न मरिज्जउ।
तम्हा पाणविह घोरं निग्गन्था वज्जयन्ति णं ॥

भावार्थ–"समस्त जीव जीने की ही इच्छा करते हैं किन्तु मरने को कोई भी इच्छा नहीं करता, अतएव प्राणियों का वध घोर पाप रूप होने से साधु लोग उसका निषेध करते हैं। इस बात को और भी दृढ़ करते हुए तत्त्ववेत्ता कहते हैं कि :–

"दीयते म्रियमाणस्य कोटिर्जीवित एव वा।
धनकोटिं परित्यज्य जीवो जीवितु मिच्छति॥"

अर्थात्–"अगर मरते हुए जीव को कोई आदमी करोड़ अशर्फी दे और कोई मनुष्य केवल जीवन दे तो अशर्फियों के लालच को छोड़ कर वह जीवन की ही इच्छा करेगा। क्यों कि स्वभाव से जीवों को प्राणों से प्यारी और कोई वस्तु नहीं है।" इस ही विषय को स्वयं हिन्दू आचार्य निम्न शब्दों में स्वीकार करते हैं :–

"यथा मे न प्रियो मृत्युः सर्वेषां प्राणिनां तथा।
तस्माद् मृत्युभयन्नित्यं त्रातव्याः प्राणिनो बुधैः॥"

अर्थात्–'हे अर्जुन! जैसे मुझको मृत्यु प्रिय नहीं है वैसे ही प्राणि मात्र को मृत्यु अच्छी नहीं लगती अतएव मृत्यु के भय से प्राणियों की रक्षा करना चाहिये। यह व्याख्या केवलधर्म और नीति शास्त्रों से ही सिद्ध नहीं है प्रत्युत प्रत्यक्षतः प्रत्येक इसका अनुभव सहजमें पा सकते हैं। मनुष्योंको जाने दीजिये क्यों कि इस सर्वोत्तम प्राणीमें तो हम दिन रातआपसी विद्वेप का जन्म उनके प्रति होते देखते हैं जो इसको तनिक भीमनसा वाचा कर्मणा कष्ट पहुंचाता है। परन्तु यही बात पशुओं और वृक्ष लताओं में भी देखने को मिलती है। एक कुत्ता मार्ग में पड़ा हुआ है। बिलकुल शान्त है, सीधा सादा है, किसी से कुछ बोलता चालता नहीं। आप ज़रा उसके अपना बेंत मार दीजिये। देखिये वह कैसा चीखता है, गुर्राता है। हर तरह

से यह प्रकट करता है कि तुम्हारा यह कार्य मुझे अप्रिय है। इस ही तरह वृक्षों के विषय में परीक्षा करके सर जगदीश चन्द्र वसु ने प्रगट कर दिया है कि उनको भी सुख दुख का भान होता है। यदि उनकी कोई टहनी तोड़े तो उन्हें रोष आता है, गोया टहनी तोड़ना उनको अप्रिय है। कुछ समय हुए बङ्गाल में एक ऐसा वृक्ष बतलाया गया था जो अपने प्रति-कारी के प्रति इतना क्रोध करता था कि यदि वह उस से दूर हट न जावे तो वह उसे अपनी टहनियों में भींच कर मरोड़ डाले। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि किसी भी अवस्था के जीव को कष्ट सहन करना प्रिय नहीं है। उसको अपने प्राण परम प्रिय हैं। कथा भी प्रसिद्ध है कि अकबर शाह ने जब राजा बीरबलसे पूछा कि दुनियाँ में इन्सान को कौनसी वस्तु परमप्रिय है ? तो उसने उत्तर में कहा कि सब को अपने प्राण प्यारे हैं। बादशाह इससे सन्तुष्ट न हुआ। उसनेकहा किप्राण नहीं, औलाद ज्यादा प्यारी है। बीरबल खामोश होगये। नव वर्ष के प्रारम्भ में नौरोज़े का मेला लग ही रहा था; बीर बल ने यह मौका अपनी बात को प्रमाणित करने का अच्छा समझा। उन्होंने चट एक खाली फव्वारे के हौज में चने डलवा एक बन्दरिया को मय अपने बच्चे के छुड़वा दिया। घूमते फिरते बादशाह को इधर लिवा लाए। बादशाह ने बन्दरिया को देखकर उसका हाल पूछा। बीरबल ने कहा कि यह हुजूर के सवाल का जवाब है। बादशाह ने विस्मित हो कहा 'सो कैसे ? बीरबल ने फव्वारे के हौज में पानी छुड़वा दिया। ज्यों ही पानी वहाँ आया बँदरिया चने के बरतन को ले और बच्चे को पेट से चिपटा फव्वारे पर चढ़गई। पानी ज्यों २ बढ़ता गया त्यों २ वह फव्वारेके ऊपर की ओर चढ़ती

गई। परन्तु ऊँचाई में फव्वारा नुकीला होता जाता है। इस लिये पहिले तो बन्दरिया को मजबूरन चनों का बरतन छोड़ना पड़ा और जब पानी बिलकुल लबालब भरने को आया उस समय बँदरिया को अपने प्राणों का मोह सताया। उसने चट अपने बच्चे को छोड़ दिया और आप फव्वारे के नोक पर जा खड़ी हुई। बादशाह को बीरबल की बात का विश्वास हुआ। उसने कहा–सच है, बीरबल दुनियाँ में सबको अपनी जान प्यारी है।

वास्तव में यदि हम अपने हृदय से ही निष्पक्ष हो पूछें तो वह इस ही बात की साक्षी देगा कि अपने प्राण ही सबके लिये सब से मूल्यवान वस्तु है। यही कारण है कि नीतिज्ञों ने सबके साथ समानता का बर्ताव करने का उपदेश दिया है। पाश्चात्य भौतिक-विज्ञान-वेत्ताओं को भी यह 'अहिंसा' का महत्व स्वीकार करना पड़ा है। उन में प्रसिद्ध तत्ववेत्ता डार्विन कहता है कि "वही जातियां और राष्ट्र जीवन के लिए अधिक दृढ़ता और उत्तमता अधिकारी हैं, जिनमें प्रेमी मनुष्यों की संख्या अधिक है.।" एक अन्य विद्वान फ़ैलो का भी यही कहना है कि :–

"इतिहास हमको सिखलाता है कि प्रेम में जीवन है और अप्रेम स्वार्थ रूप नाश है। गताब्द से ज्ञात इस सिद्धान्त पर ही निरामिषवाद का नींवारोपण हुआ है। सारांश यह कि वह प्राकृत अहिंसावाद स्वयं सिद्ध है। दूसरों को कष्ट पहुंचाना नहीं–उनके प्राणों को हरण करना नहीं, क्यों कि हम स्वय कष्ट करना नहीं चाहते अपने प्राणों को त्यागना नहीं चाहते। भगवान् महावीरजी ने स्पष्टरूप से यही उपदेश दिया था; यथा:—

"सव्वे पाणा पिया उया, सुहसाया दुह पडिकूला अप्पिय, वहा।
पिय जीविणों, जीविउ कामा, (तम्हा) णातिवाएज्ज किंचण॥"

अर्थात्-"सब प्राणियों को आयु प्रिय है, सब सुखके अभिलाषी हैं, दुख सब के प्रतिकूल है, वध सब को अप्रिय है, सब जीने की इच्छा रखते हैं, इससे किसी को मारना अथवा कष्ट न पहुंचाना चाहिये।"

इस प्रकार की पूर्ण अहिंसावृत्ति का पालन वही त्यागवीर ऋषिगण करते हैं जो संसार से सम्बन्ध त्याग चुके हैं और स्वयं निजाधीन-आत्मस्थ हैं। शेष में संसारी प्रलोभनों में आसक्त जीव तो उसका यथाशक्ति साधन कर सकते हैं। जैसे कि हम ऊपर देख चुके हैं। इस प्रकार अहिंसा के कई भेद होते हैं, जिनका वर्णन हम अगाड़ी करेंगे। यहां पर अब अन्य धर्मों के शास्त्रों में भी अहिंसा धर्म के विधान का दिग्दर्शन कर लेना आवश्यक है। सामान्यतः ईसाइयों को देखने से सहसा यह ख़याल हो जाता है कि इनके धर्म में अहिंसा को प्रधानता नहीं दी गई है। परन्तु बात यूँ नहीं है। अहिंसा धर्मका महत्व हज़रत ईसा की नज़रों में अवश्य रहा है। यदि आज उनके अनुयायी उनके वचनोंकी उपेक्षा करते हैं तो इस में सर्वथा उनके धर्मका दोष नहीं है। हज़रत ईसाकी जो प्रारंभिक दस आज्ञायें हैं उनमें एक आज्ञा यह भी है कि "तू किसी को मत मार" (Thou Shall not kill) प्राचीन ईसाई इस आज्ञा का पालना करते थे। वे इसका महत्व जानते थे। उनमें जो Puritan (पवित्रात्मु) सम्प्रदायके ईसाई थे वह एक तरह से उदासीन श्रावक ही थे। परन्तु दुःख है कि मध्यवर्तीकालमें उन का तलवारके बलसे नाश किया गया! यह (Puritan) लोग निरामिष भोजी, सादा जीवन व्यतीत करने वाले त्याग के महत्व को जानते थे। यह गप शप में, तास शतरंज में समय को बिताना ख़्वामख़्वाह हंसना आदि बुरा समझते थे। ऐसे

कार्यों से परहेज़ करते थे क्यों कि इनसे वह पापका बंध होना ख़याल करते थे। इससे स्पष्ट है कि ईसाई धर्म में अहिंसा और त्याग धर्म का विधान अवश्य विद्यमान है। तिस पर ईसाइयों के धर्मशास्त्र और साहित्य ग्रन्थों के निम्न अवतरण इस बात को और भी प्रमाणित करते हैं :-

"मुबारक हों वह जो दयावान् हैं क्यों कि उन परभी दया की जायगी। ख़ुदा कुरबानी को नहीं, बल्कि रहम चाहता है।"

(St. Matthew. 7.)

"मैं भेड़, बकरी आदि के रुधिर बहाने से हर्षित नहीं होता हूं। तुम्हारे हाथ रुधिर से भरे हैं, इन को धो डालो। अपने आप को पाक और साफ़ बनाओ। मेरे सामने आने के पहिले पापों का प्रायश्चित्त लेलो, दुराचार का त्याग करदो, और सदाचार ग्रहण करलो" (Isahia 11. 15-17)

"मुबारिक है वह जो रोटी खायगा ख़ुदा की बादशाहतमें"

(St. duke xI)

"जिसने कि दया नहीं की है फैसले के समय उस पर भी दया नहीं की जायगी।" (St. James 11. 13.)

"हम सब ख़ुदा के बेटे हैं और हमें एक दूसरे को सताना नहीं चाहिये।" (Isahia)

"यदि कोई व्यक्ति ख़ुदा के मन्दिर को अपवित्र करता है तो उसको ख़ुदा नष्ट करे ; क्योंकि ख़ुदा का मन्दिर पवित्र है और वह मन्दिर तुम ही हो।" (St. Paul)

"धर्मात्मा व्यक्ति अपने पशुओं की रक्षा का भी ध्यान रखता है।" (St. Solomon)

"मती रसूल वृक्षों के बीज, सख्त छिलके वाले फलों और अन्य शाकों पर बिना-माँस खुए जीवन व्यतीत करते थे।"

"बहुधा सब से कम सुखी वही हैं जो सदैव अपने सुख के फिकर में रहते हैं।"

"पवित्रात्मा मनुष्य और पशु सब के प्रति समान भाव से अपनी दया फैलाता है। वह छोटे से छोटे पक्षी और पशु के लिये भी दया से खूब पूर्ण है।"

"तुम भी इसलिए दयावान बनो जैसा तुम्हारा पिता दयावान है।"

इसमें भी अँग्रेज़ कवि अहिंसा भाव को मुख्यता देता है। सारांश यह कि ईसाई धर्ममें भी अहिंसाको मुख्यता दीगईहै यह उक्त उद्धरणोंसे भली भाँति प्रमाणित है। इनके अतिरिक्त और भी उद्धरण पेश किए जा सकते हैं, परन्तु बुद्धिमान के लिए इतने ही पर्याप्त हैं। अब आइये इस्लाम में भी अहिंसा का दिग्दर्शन करलें। शायद कतिपय पाठकगण मुसलमानों के धर्म में अहिंसा का स्थान देखकर आश्चर्यान्वित होवें, परन्तु विस्मय की कोई बात नहीं, क्योंकि मूल धर्म में इन बातों का समावेश अवश्य होना चाहिये। मनुष्यों की प्रवृत्ति मूल धर्म से बहुधा प्रतिकूल होती है। उनकी प्रवृत्ति ही उनका धर्म होती है। यही हाल मुसलमानों के सम्बन्ध में है। उनके धर्म में अहिंसा को स्वीकार अवश्य किया गया है, परन्तु उन्होंने उसकी उपेक्षा करके उस अपने धर्मशास्त्र के अन्य वाक्यों का सहारा लेकर अपनी आसुरी प्रकृति को मुख्य स्थान पर बिठा रक्खा है। मुसलमानों के धर्मशास्त्रों के निम्न उद्धरण उनके धर्म की अहिंसा का परिचय पाठकों को करा देंगे :—

"दया और निष्पक्षता का व्यवहार सबके प्रति रक्खो, केवल उनको छोड़कर जो चालाक, छिछोड़े और परमात्मा के कार्य के विरोधक हैं।" (Koran LX)

"कोई भी पक्षी अथवा पशु ऐसा नहीं है जो तुम्हारे (मनुष्य) के समान न हो।"

(Koran VI)

"सचमुच मूक पशुओं की भलाई करने में और उन्हें पीने को पानी देनेमें पुण्य है।"

(The Prophet L.164)

एक दफे एक व्यक्ति जाल लेकर जिसमें उसने चिड़ियां पकड़ी थीं हज़रत मुहम्मद के पास गया। उन चिड़ियों की मां भी उ के पीछे होली थी। सो उसको भी वहां उस व्यक्ति ने बन्द करदिया। हज़रत मुहम्मद ने फौरन ही इन चिड़ियों को छुड़वा दिया और उनको मां उनमें बड़े हर्ष से मिलगई। तब हज़रत मुहम्मद ने कहा :—

"क्या तुम माता के पक्षियों के प्रति प्रेम पर विस्मित हो ? मैं उसकी क़सम से कहता हूं जिसने मुझे भेजा है कि वस्तुतः खुदा अपने सेवकों पर इन पक्षियों की माता से भी अधिक प्रेम करता है। तू इन पक्षियों को वहीं छोड़ आ जहां से तू इन्हें लाया है और इनकी मां को भी इनके साथ रहने दे।"

(Ibid)

हज़रत मुहम्मद के सुभाषितों में निम्न से भी अहिंसा की पुष्टि होती है:—

"जो सर्व प्राणियों और अपने बच्चों पर प्रेम नहीं करता है, उससे परमात्मा भी प्रेम नहीं करता है।"

"परमात्मा की सन्तति सब जीवित प्राणी है और वही उसको अधिक प्यारा है जो उसके इन प्राणियों की भरसक भलाई करता है।"

इस प्रकार इस्लाम धर्म के उपरोल्लिखित 'शरीफ कलामों'

से यह अच्छी तरह प्रमाणित है कि हज़रत मुहम्मद ने अहिंसा का महत्व समझा था और उसका उपदेश भी अपने. अनुयायियों को दिया था। परन्तु समय के फेर से और स्वयं हज़रत मुहम्मद की कमज़ोरी से कि उन्होंने अपने अनुयायियों का रुख देखकर उपदेश दिया, ऐसी भी बहुतसी बातें कुराण शरीफ़ में आगई हैं जिनसे उनके अनुयायी आज घोर हिंसा करते नहीं हिचकते हैं; परन्तु यह हज़रत मुहम्मद के मूल भाव के विपरीत है। हज़रत साहब की मूलशिक्षा का पाया तो 'प्रेम' अहिंसाही था; यह बात उनके कलामों को निष्पक्ष दृष्टि से पढ़ने पर बिल्कुल प्रकट होजाती है। प्रो० एम० ए० वूच अपनी Ethics of the Koran नामक पुस्तक में पृष्ठ १२७–१२८ पर स्पष्ट लिखते हैं कि :–

"इस्लाम धर्म का मूल भाव तो उसके उत्कृष्ट अहिंसा तत्व में है। वह कहता है कि साधारण स्थिति में साधारण मनुष्यों के लिये बुराई के बदले बुराई और भलाई के बदले भलाई का उत्तम सिद्धान्त है। परन्तु इस्लाम के सच्चे अनुयायी वे ही हैं जो खुदा के प्रेम में इतने पगे हैं कि उनके दिल और दिमाग में द्वेष का नाम निशान नहीं है, वे बुराइयों का बदला भलाइयों में देते हैं, द्वेष का बदला प्रेम में, चोटका दरद शरीकों में और क्रोधका क्षमामें। 'खुदा कहता है :–जो कोई एक भला कार्य करता है, उसके लिये दस पुरस्कार हैं और मैं जिसको चाहूं उसको अधिक भी दूँगा, और जो कोई बुराई करता है, उसकी सजा उसके बराबर है या मैं उसको क्षमा करता हूं; और वह जो मुझको एक क्यूबिट ढूंढेगा मैं उसके निकट दो फैथम पहुंचुँगा, और जो मेरी तरफ़ आता है, मैं उसकी तरफ़ दौड़ूंगा, और वह जो मेरे सामने गुनाहों

से भरपूर आयगा, परन्तु मेरा साझीदार नहीं होना चाहेगा, मैं उसके समक्ष पूर्ण क्षमता धारण कर आऊँगा।' वस्तुतः मनुष्य का अन्यों के प्रति व्यवहार उसी ढङ्ग का होना चाहिये जिस ढङ्ग का परमात्मा का उसकी ओर है।" इससे स्पष्ट विवेचन अहिंसा का और क्या हो सकता है ? इस्लाम धर्म में भी अहिंसा तत्व का दिग्दर्शन करके अब जरा चलिए बौद्धों के धर्म को भी परख करलें।

बौद्ध धर्ममें भी अहिंसाको स्थान दिया गया है,परन्तु उसमें तनिक रियायत की निगाह रखने से आज बौद्धानुयायी चीन और जापान प्रभृति देश पूर्ण रूप से मांस भक्षी हो रहे हैं। महात्मा बुद्ध ने वैसे तो अहिंसा को मुख्यता दी और इन्द्रिय निरोध एव इच्छाओं को वशीभूत रखने का उपदेश दिया, परन्तु भिक्षुओं के जीवन प्रति उन्होंने मुलायमियत की दृष्टि रखना चाही, जिससे आज उनका अहिंसा तत्व बिलकुल लुप्त सा ही हो रहा है। वैसे हमको मालूम ही है कि बौद्धों के पांच व्रत जो हैं उनमें सब से प्रथम व्रत अहिंसा ही है। उनके मुख्य शास्त्र "धम्मपद" के श्लोकों का निम्न अनुवाद उनकी अहिंसा को अच्छी तरह प्रकट करता है:—

"सर्वप्राणी मार से डरते हैं, सर्व मृत्यु से भय खाते हैं। उन्हें अपने समान समझो, न उन्हें कष्ट दो और न उनके प्राण अपहरण करो। सर्व प्राणी मारसे डरते हैं-सर्व अपने प्राणों से प्रेम करते हैं। उन्हें अपने समान समझो; न उन्हें कष्ट दो और न उनके प्राण अपहरण करो। जो कोई सुख के प्रेमी जीवों के प्रति कुत्सित व्यवहार करता है सो वह जब अपनी आत्मा के लिए सुख चाहता है तो वह उसे नहीं मिलता। जो कोई सुखके इच्छुक जीवों के प्रति सद् व्यवहार करता है सो वह

जब अपनी आत्मा के लिए सुख चाहेगा तो वह उसे मिलेगा।"
इससे और स्पष्ट अहिंसा-तत्व का उपदेश क्या हो सक्ता है? परन्तु परिस्थिति और मनुष्य प्रवृति को बलिहारी है कि ऐसी शिक्षा की उपेक्षा करते भी वह नहीं हिचकते। तिस पर जैन धर्म के समान ही महात्मा बुद्ध वनस्पति में भी जीवत्व शक्ति मानते हैं और उसकी हिंसा न करने की आज्ञा देते हैं, यथाः–

किसी भी वनस्पति के नाश करने में 'पाचित्तिय' दोष है। बौद्ध भिक्षु को इससे मुक्त रहना आवश्यक है। (Patimokha P. 33 S.B.E. vol. XIII) इसी तरह इसके पहिले नियम में पृथ्वी को खोदना दोषमय बतलाया है।

यद्यपि यह प्रकट है कि बौद्ध धर्म में जैन धर्म के समान पृथ्वी, जल और अग्नि में जीवत्वपना नहीं माना है, तो भी यहां जो उक्त नियम है वह शायद इस अपेक्षा से हो कि पृथ्वी खोदने से शायद कोई जीव मरजावे! सारांश यह कि बौद्ध धर्म में भी अहिंसा का महत्व कम नहीं है, परन्तु म० बुद्ध की मुलायमियत ने उसको प्रायः बिल्कुल नष्ट ही कर दिया है। यद्यपि बौद्ध धर्म में भिक्षुओं के लिये ही यह व्रत नियत नहीं है, प्रत्युत गृहस्थों के लिए भी इसका पालन आवश्यक बतलाया है, और स्पष्ट रीतिसे मन, वचन, कायसे प्राणी वधको उनके लिए भी मनाई है। अतएव आज बौद्ध धर्म के मूलभाव को पुनः धारण करने की आवश्यक्ता है। उस अहिंसा धर्म का अनुसरण किए बिना हमारे जीवन सुखमय नहीं बन सकते हैं।

प्राचीन गुप्तवादमें भी अहिंसा के महत्व को स्पष्ट स्वीकार किया गया था। उसके अनुयायी अपनी नैतिक कमज़ोरियों को दूर करने के लिए तथा उस पूर्ण पद को प्राप्त करने के लिए, जहां से वह समझते थे कि आत्मा पतित हुई है, व्रत

और नियमों का अभ्यास करते थे। उन्होंने इस प्राचीन गुप्तवाद में जो प्रारम्भिक व्रत माने थे उन में (१) अपने माता पिता का मान करना (२) देवताओं को फल चढ़ाना और (३) पशुओं के प्रति क्रूरता और अदया का व्यवहार न करना भी सम्मिलित थे। (The Mysteries of Freemasonry by John Fellows pp. 106-107) इस विवरण से प्राचीन गुप्तवाद में भी अहिंसा की प्रत्यक्ष स्वीकारता प्रगट है।

शेष में पारसी धर्म में भी अहिंसा तत्व को स्वीकार किया गया है। उनके ग्रंथों के निम्न उद्धरण इस बात को प्रमाणित करते हैं :—

"ज़बूरान शापूर आयत १—२ बनाम यज़दाँ जहाँदार याज़ इर्मा ग़ुब्र आबाद में परमापद। ज़िन्दबारे कि जानवर बे आज़ारो नाहुग्रन्दह आँदार अस्त। चूँ अस्प गाए व अस्तर व शुतर बग़र व मानिन्द आँ मीकुशीद व बेजान मीकुनीद कि सज़ाए करदार व पादाशकार ईन्हादू गरगीनह अस्त अज़ हाँशियार शुमेमन्द; चुनान्चे अस्परा सवारी कुनीद—गाव व अस्तर व अशुतर व ख़र रा बार—बह ईंहा मरदुम रा बज़ीरबार गरदन्दे। यानी ईं जानवरान रा कि सज़ाए पैमाल पशान कि दर न ख़स्तीं क़ालिब-करदह अन्दा नीरातात्ता बहिकमत ख़ुद: मुक़र्रर करदह अस्त हमची रकूब व हमल शुमा ईंहा रा मकुशीद! अगर होशियार दानिश्तह ज़िन्दबार कुशद व ईंबार पादाश व सज़ाएकार अज़ निहाँ सो पामर ज़बान नयामद दर-बार आइन्दह बादा अख़राश रसद निहाँ सूए गैब।" अर्थात् "चौपाये कि जानवर बे आज़ार हैं और जानवरों को मारने वाले नहीं हैं, जैसे घोड़ा, गाय, ऊँट, खच्चर, गधा वग़ैरह इनको मत मारो और बेजान मत करो; क्यों कि इन के कामों की

सज़ा और तरह पर अक़ल अव्वल की तरफ़ से है। जैसा कि घोड़े पर सवारी करना, बैल, ऊँट, गधा, खच्चर आदि पर बोझ लादना यह जानवर पहिले जन्म में आदमियों को बेगार पकड़ते थे और जबरन् बोझ उठवाते थे। इस लिए खुदाने इन की सजा यही नियत की ...... कि इन पर सवारी की जाय, और बोझ लादा जाय। तुम इनको मत मारो। अगर कोई जान बूझकर ये आज़ार जानवरोंको मारे और उस वक्त सज़ा न पावे तो ज़रूर खुदा आलमुल्गैव से दुबारह जन्म लेकर सजा पावेगा।"

'ज़िन्दाअवस्ता' में लिखा है कि यक़ीनन् दोजख की आग और पछतावा उनके लिए हर समय तैयार है जो अपनी ख्वाहिशात् बुझाने और दिल्लगी के लिए बिचारे बेजुबान जानवरों को सताते और तकलीफ देते हैं।'

'आर्द वीराफ' (१६२) में लिखा है कि "उन स्त्रियों को पुरस्कार मिलता है, जिन्हों ने संसार में 'पृथ्वी और वृक्ष, चौपाए और भेड़' एवं अहुरामज़्दा के शेष अच्छे प्राणियोंका मान किया है।"

गन्जि-शईगन में बतलाया है कि "एक मनुष्य जो परमात्मा की कृपा से यहां धन पाता है वह ऐसे काम करता है जिनसे मनुष्यों के जीवन बढ़ते हैं और उनकी सन्तान सम्पत्ति और ऐश्वर्यता वृद्धि पाती है।"

"दिनकर्द" में मनुष्यों के लिए तीन बातें पालन करने के लिए बतलाई गई हैं यथाः—"प्रथम; मनुष्यजीवन संबन्धी भलाई (या मनुष्यों के जीवन की रक्षा करना); दूसरे जानवरों को चरागाह देना; तीसरे सिपाहियों को अच्छा भोजन देना जिससे वे अच्छी हालत में रहें।" (Dinkard vii 452) इसही

ग्रंथमें (VIII 102) सर्वप्रकार के हिंसक-पाशविक बलको बुरा बतलाया है। कहा है: "यदि एक व्यक्ति हाथमें हथियार लेकर उठ खड़ा होता है तो वह एक अजेरेप्ता (Agerepta) है; यदि वह उसे म्यान में से निकाल लेता है तो वह अवाउरिश्ता (Avaorishta) है; यदि वह सचमुच किसी को कषायी विचारों के वश मार देता है तो वह एक पेशोतनू (Peshotanu) है।"

अस्तुः प्रो० एम० ए० बूच पारसी धर्म की बावत लिखते हैं जिसका भाव यह है कि समग्र पारसी साहित्य में जीवित-प्राणियों के प्रति दयालुता का भाव प्रदर्शित किया गया है। सो भी केवल मनुष्यों के लिए नहीं, प्रत्युत जानवरों के प्रति भी! 'यस्न' नामक ग्रंथ में परमात्मा से पशुओं की रक्षा की प्रार्थना कीगई है। 'वेन्डीदाद' नामक एक अन्यग्रंथ में गर्भवती स्त्रियों और जानवरों-कुतिया आदि को समानभाव से रक्षा करने का उपदेश है। 'अरद विराफ़' नामक एक तीसरे ग्रंथ में ऐसे मनुष्यों को बहुत से दण्ड दिए गए हैं, जिन्हों ने किसी के प्राणों को कष्ट पहुंचाया अथवा नाश किया है। यही नहीं कि पारसी-धर्म में मनुष्य-पशु-पक्षी की रक्षा का ही विधान हो-उन की आत्मा का महत्व और मूल्य स्वीकृत हो; प्रत्युत जल व वनस्पति का भी आदर किया गया है। प्रो० बूच The Zoroastria Ethics p. 134 में अगाड़ी लिखते हैं कि:—

"पारसी धर्म में पशु प्राणियों का आदर किया गया है, यह इस तरह प्रकट है। किन्तु वह इससे भी कुछ बढ़ा हुआ है यानी जल और वनस्पति के प्रति भी पूज्यभाव है।" इस तरह इन उद्धरणों से पारसी धर्म में भी अहिंसा भावका महत्व दृष्टि-गोचर हो जाता है। इस प्रकार ज़ाहिरा देखने में संसार में

प्रचलित सब ही मुख्य २ धर्मों में अहिंसा धर्म का महत्व प्रगट हो जाता है। वहां प्रत्येक में उस समय की परिस्थिति और स्थान अपेक्षा उसका उपदेश मिलता है। परन्तु किसी में भी वैज्ञानिक ढंग पर एक ब्योरेवार विवरण उसका नहीं दिखाई पड़ता है। हिन्दू धर्म भी इस ओर हमको निराश करता है। परन्तु जैनधर्म उसका क्रमवार सैद्धान्तिक विवरण पेश करता है; जैसे कि हम किञ्चित प्रारंभ में देख चुके हैं। इस लिए अब हम उस ही के अनुसार अहिंसातत्व का पूर्ण परिचय प्राप्त करेंगे। इस परिच्छेद को पूर्ण करने के पहिले हम अपने पाठकों को अपने बहादुर सिक्ख भाइयों के गुरु उपदेश को भी बता देना आवश्यक समझते हैं। वह भी प्राकृतिक नियम के प्रतिकूल नहीं गए हैं। प्रत्येक जीवित प्राणी प्राकृत रूप में जीवित रहना चाहता है। ऐसी अवस्था में कोई भी धर्म इस सत्य-सिद्धान्त के विपरीत उपदेश दे ही नहीं सकता। हां, उसके अनुयायी भले ही अपनी आकाङ्क्षाओं के लिहाज से उसका विकृतरूप करदें! तो कोई आश्चर्य नहीं। सिक्खों के गुरु नानकसाहब जी के 'बोल' के साथ ही यह परिच्छेद पूर्ण होता है :—

"जो शिर काटे और का, अपना रहे कटाय।
धीरे धीरे नानका, बदला कहीं न जाय।"

इसलिये

"आत्मशुद्धि की प्रासिका, अहिंसा उत्तमद्वार।
जो चाले इस मार्ग पर, पावे सुक्ख अपार॥"

———o———

अहिंसा का सैद्धान्तिक विवेचन

—:※:—

"तीन योग औ तीन करणसे, त्रस जीवों का वध तजना।
कहा अहिंसाणुव्रत जाता, इसको नित पालन करना॥"

—रत्नकरण्डश्रावकाचार

श्री समन्तभद्राचार्य जी बतलाते हैं कि तीनयोग-मन, वचन, काय-और तीन करण-अनुमोदना, सराहना, करना-इनसे जो त्रसजीवों-चलते फिरते जीवों-प्राणधारियों को यदि कोई गृहस्थ जानबूझ कर-संकल्प करके-मारे नहीं, उनका वध करे नहीं तो वह अहिंसा व्रत का पालन करता है; जिससे परम पुण्य की प्राप्ति होती है। पूर्व परिच्छेद में हम इस प्रकार की अहिंसा का विधान प्रत्येक प्रख्यात् प्रचलित धर्म में देख आए हैं। यहांपर हमें इसके भेद-प्रभेद रूप सैद्धान्तिक विवेचन की आकृति में दर्शन करना है! आइये पाठकगण, उन्हीं शान्त मुद्राधारी वीतराग हितोपदेशी परम महात्मा के चरणों में नत-मस्तक हो इसका साक्षात् नेत्रपट प्राप्त करें।

उन्हीं महात्मा की कृपा से हमें ज्ञात होजाता है कि अहिंसा व्रत के कितने भेद हैं। यह हम जानही चुके हैं कि कषायों के आवेश में प्रमादी बनकर किसी जीव के प्राणों का हरण करना अथवा उसे कष्ट पहुंचाना हिंसा है। प्राणों की गणना हमें दश बतलाई गई हैं अर्थात् (१) स्पर्शन (२) रसन (३) घ्राण (४) चक्षु (५) कर्ण (६) मनबल (७) वचनबल (८) कायबल (९) श्वासोच्छ्वास और (१०) आयु। इन प्राणों द्वारा अनु-

भव करने के कारण जीवको प्राणी कहते हैं। काय, आयु, स्पर्शन, यह तीन प्राण प्रत्येक जीव के अवश्य होते हैं। इस प्रकार इन दशप्राणों एवं इनके अभ्यन्तर दश रूप अर्थात् इनके बाह्यरूप के धारण करने के कारण भूत अभ्यन्तर भावों की अपेक्षा प्राणों की संख्या बीस होजाती है। इन बीस प्राणों की मन, वचन, काय की क्रियावश की गई प्राण-हानि से हिंसा २०×३=६० प्रकार से हो सकती है। परन्तु यह हम जानते ही हैं कि कषाय के कारण ही हिंसा होती है, यथाः—

'यत्खलु कषाय योगात्प्राणानं द्रव्यभाव रूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥'
—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ४३।

भाव यही है कि क्रोध, मानादि कषायों के वश होकर ही अपने व दूसरे जीवों के पांच इन्द्रिय, मनबल, वचनबल, काय बल, श्वासोच्छ्वास और आयु, इन दश प्राणों में से यथासंभव प्राणों को पीड़ा देकर, अथवा जानसे मारकर दुःख पहुंचाने से हिंसा होती है। इस प्रकार कषायों से उत्पन्न जो यह कटुक हिंसा कर्म है इसका परिणाम प्राणियों के लिए हितकर नहीं है, यह हम जानचुके हैं। इसही कारण अहिंसा धर्म के साधन की आवश्यकता प्रमाणित होती है। इस हिंसा कषाय से जीव को चतुर्गति के दुःखों को भोगना पड़ता है। यही बात आचार्य स्पष्टतः कहते हैं यथा 'क्रोधादि परिणामः कषति हिनस्ति आत्मानं कुगति प्रापणादिति कषायः' (तत्वार्थ राजवार्तिक ६ अ० ४ सू०) अर्थात् क्रोधादि कषाय जगत के सबही जीवों को चारों गतियों में तरह २ के दुःखों के अनुभव कराने में कारणभूत होनें से कषाय कहे जाते हैं।' अतएव कषायों की अपेक्षा भी हिंसाके और अधिक भेद होते हैं। क्रोध, मान,

माया, लोभ, लायरुशनः यह चार कषाय हैं। परन्तु पूर्णरूप में वह पच्चीस बतलाए गए हैं, जैसे :-

"दर्शन चारित्र मोहनीया कषाय कषाय वेदनीयाख्या-स्त्रिद्वि नव षोड़शभेदाः सम्यक्त्व मिथ्यात्व तदुभयान्य कषाय कषायौ हास्यरत्यरति शोक भय जुगुप्सा स्त्री पुंनपुंसकवेदा अनन्तानुबंध्य प्रत्य ख्यानप्रत्याख्यान संज्वलन विकल्पा-श्चैकशः क्रोधमानमाया लोभाः (श्री तत्वार्थसूत्र ८ अ० ६ सू०)

अर्थात्—"अनन्तानुबन्धी कषाय के, अप्रत्याख्यान कषाय के, प्रत्याख्यान कषाय के और संज्वलन कषाय के क्रोध मान माया और लोभ के भेद से १६ भेद होजाते हैं और बाकी हास्य, ग्लानि, भय, शोक, रति, अरति, स्त्री-पुरुष-नपुंसक-त्रयवेद (लिङ्ग) मिलाकर कुल २५ भेद कषाय के होते हैं। यह २५ कषायही जगत के जीवों को पाप समूह के उत्पन्न कराने में कारण पड़ते रहते हैं।" इनमें से उपरोक्त १६ का खुलासा इस प्रकार समझना चाहिए :-

१.-अनन्तानुबन्धी कषाय-यह इस कारण अनन्तानुबन्धी कहलाते हैं कि इनके कारण आत्मा का बन्धन एक ऐसे संसार के साथ होता है जो 'अनन्त' कहलाता है और उसके आधीन आत्मा संसार-भ्रमण करती एवं गाढ़मिथ्यात्व के वशीभूत रहती है। अनन्त का अर्थ मिथ्यात्व-अयथार्थ तत्वश्रद्धान भी है। और यह कषाय अनन्तानुबन्धी कहलाते ही हैं क्योंकि वह गाढ़मिथ्यात्व का संभ्रमण आत्मा में कराते हैं। इसके उदय में प्राणी श्रावक की मामूली क्रियाओंका, जिनका उल्लेख इस पुस्तक में किया जारहा है, पालनभी नहीं कर सकता है। सारांश यह कि यह अनन्तानुबन्धी-क्रोध, मान, माया, लोभरूपी कषाय अति तीव्र हैं। इससे अनन्तानुबन्धी क्रोध

अथवा अन्यद्वारा जो पापकर्म संचय किया जायगा उसका बन्ध एक दीर्घ कालका होगा और उसका फल कटुक है। इस की तीव्रता पत्थर में लकीर करने के समान समझना चाहिए। अन्दाज़ करलीजिए कि पत्थर में की हुई लकीर कितनी देर में मिटेगी। उसी तरह इसका भी अस्तित्व है।

२-अप्रत्याख्यान कषाय-वह कषाय है जिसके वशीभूत प्राणी उन बातों का त्याग नहीं कर सकता है जिनको उसे अपने आत्महित के लिए करना चाहिए अर्थात् एक देशरूप में व्रतोंके पालनमें बाधा डालनेवाले (Partial Vow-preventing) क्रोध, मान, माया, लोभरूपी कषाय। इनकी तीव्रता इतनी है कि जैसे खेत में हल की लकीर करदी हो।

३-प्रत्याख्यान कषाय-वह कषाय है जिसके वशीभूत प्राणी पूर्ण व्रतोंका पालन नहीं कर सकता (Total Vow-preventing passions) इस प्रकारका क्रोध, मान, माया, लोभ रूपी कषाय रेतोंमें लकीर करने के समान है। और

४-संज्वलन कषाय-वह कषाय है जिसके वशीभूत हुआ प्राणी पूर्णसम्यक्-चारित्र अर्थात् मुनिधर्म को धारण नहीं कर सकता। (Perfect-right-conduct-preventing) वह बहुतही मुलायम दर्जा है जैसे पानी में की हुई लकीर! इस प्रकार इन सोलह कषायों का रूप है। एवं उक्त नौ शेष कषायों के साथ जो प्राणहिंसा की जाती है उस अपेक्षा ६० × २५ अथवा १० × २ × ३ × २५=१५०० भेद होते हैं। और इनमें कृत, कारित, अनुमोदन सम्मिलित करने से यह भेद १५०० × ३=४५०० हो जाते हैं। वस्तुस्थितिरूप विचारने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि संसार में प्रत्येक कार्य मनसा वाचा कर्मणा किया जाता है। परिणामोंके होने पर कार्यक

उत्पत्ति है। अङ्गरेजों में भी नीतिवाक्य यही है कि "Where there is a will, there is a way" जहां किसी कार्य को करने के भाव होंगे वहां उपाय अवश्य मिल जायेंगे। इस कारण प्रत्येक कार्य की सृष्टि में मुख्यता परिणामों की है। इसहीलिए हिंसा दोष में ऊपर अनुमोदना भी परस्पर सम्मिलित करलीगई है। आजकल के भारतीय न्याय में अपराध अनुसन्धान में उस अपराधी की नियत को देखा जाता है और उसही के अनुसार उसका दण्डविधान होता है। परिणामों की तारतम्यता का फल श्री अमृत चन्द्र आचार्य किस खूबी से बतलाते हैं। यह ज़रा पाठकगण ध्यान देकर देखियेः—

'व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशः प्रवृत्तायाम् ।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवंहिंसा ॥
युक्त्य चरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि ।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥'

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अर्थात्—"आत्मा में क्रोधादि कषायों की मौजूदगी से ही स्व पर प्राणों की पीड़ा न होने पर भी हिंसा का पाप लगता है। और कषाय रहित होकर सावधानी से काम करते हुए अचानक किसी छोटे जन्तु के मरजाने पर भी उस प्रयत्नाचारी को हिंसा का पाप नहीं लगता है।" क्योंकि उस के भाव उस प्राणी को कष्ट पहुंचाने अथवा मारने के नहीं थे। अभीतक हम ४५०० रीति से हिंसा होते देख आए हैं। इन भेदों का अस्तित्व परिणामों की विविध अवस्था वश ही है। अतएव इन ४५०० रीति के हिंसा कर्मों के त्याग से अहिंसा धर्म भी ४५०० प्रकार का होजाता है। परन्तु इसके अभी और भी भेद हैं। और यदि इसी प्रकार भेद किये चले जांय तो असंख्यात भेद हो सकते हैं। वस्तुतः 'एक अहिंसाव्रत ऐसा व्रत है, ऐसा

नियम है कि यदि इसका पूर्ण पालन हो सके तो मानवजीवन परम पवित्र होकर तद्भव मोक्ष गति का कारण हो सकता है।'

अब ज़रा और विचार करने से हिंसा के और अधिक भेद भी हमारे समक्ष आ जाते हैं। 'सामान्य गृहस्थी के पहिले कहे हुए वाक्य में हिंसा संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ से तीन प्रकार होती है। और एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक पांच प्रकार प्राणियों के सम्बन्ध में होने से उपरोक ४५०० × ३ × ५=६७५०० भेदरूप हो सकती है। किसी कामके करने के इरादे को संरंभ, काम करने की सामिग्री एकत्रित करने को समारम्भ, और काम को शुरू करदेने को आरम्भ कहते हैं। संकल्पी, औद्योगिक, आरम्भी, विरोधी, इस प्रकार हिंसा के फिर ४ भेद करने से ६७५०० × ४=२७०००० दो लाख सत्तर हजार भेद हिंसा के हो जाते हैं। और यों ही विचार करते २ असंख्यात भेद होते जावेंगे।' (देवेन्द्रवाक्य १०)

वास्तव में इन असंख्यात प्रभेदों में मुख्य यह अन्तिम चार भेद ही हैं। व्यवहार में हम इनका ही विवेचन करके अपने योग्य कर्तव्यपथ का दिग्दर्शन कर सकते हैं। क्योंकि यह निश्चित है कि अहिंसा धर्म का पूर्ण पालन तो संसार त्यागी मुनिगण ही कर सकते हैं। साधारण गृहस्थ श्रावक तो अपनी शक्ति के अनुकूल ही उनका पालन कर सकता है उसके लिये यह कदापि सम्भव नहीं है कि वह उसका पालन पूर्णतः कर सके; परन्तु उसके लिये यह आवश्यक है कि वह जितनी कम हिंसा कर सके उतनी कम हिंसा करे। अतएव इसी अपेक्षा सामान्य अव्रती श्रद्धानी गृहस्थ श्रावक से क्षुल्लक और ऐलक तक श्रावक के भी ११ दर्जे होते हैं, जिन्हें 'प्रतिमा' कहते हैं। इन्हीं का अनुसरण करके कहीं श्रावक पूर्ण अहिंसा

व्रत पालने का अधिकारी होता है। सामान्य गृहस्थ श्रावक तो इनमें केवल प्रथम संकल्पी हिंसा का ही त्याग कर सकता है। इन सब की व्याख्या अलग २ निम्न प्रकार समझना चाहिये:—

(१) संकल्पी हिंसा वह हिंसा है जिसमें संकल्प करके किसी जानवर को मारा अथवा उसको कष्ट पहुँचाया जाय। उदाहरणरूप में कोई चिऊँटी सामने से जारहा हो, उस समय विना ही कारण केवल हिंसक भाव से उसे प्राणरहित करना, सो संकल्पी हिंसा है इस हिंसा का नियम कराते हुए अहिंसा व्रत के पालन का उपदेश गृहस्थ को आचार्य यूँ देते हैं कि:—

"गृहवासो विनारम्भान्नाचारम्भो विना वधात्।
त्याज्यः स यत्नात्तन्मुख्यो दुस्त्यजस्त्वानुषङ्गिकः॥

अर्थात्—"खेती व्यापार आदि जो आरंभ आजीविका के उपाय हैं उनके विना गृहस्थाश्रम चल नहीं सकता, और खेती व्यापार आदि आरम्भ विना हिंसा के नहीं हो सकते इस लिये श्रावक (गृहस्थ) को "मैं अपने इस प्रयोजन के लिये इस जीव को मारता हूं"; ऐसे सँकल्प पूर्वक जो संकल्पी हिंसा है उसका त्याग प्रयत्न पूर्वक अर्थात् सावधानी से अवश्य कर देना चाहिये। क्योंकि खेती व्यापार आदि आरंभ से होने वाली हिंसा का त्याग करना गृहस्थ श्रावक के लिए अति कठिन है। श्री समन्तभद्राचार्य जी भी इसही बात को पुष्ट करते हैं:—

"संकल्पात् कृत कारित मननात् योगत्रयस्य चरसत्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूल वधाद्विरमणं निपुणाः॥"

अर्थात्—'मन वचन काय के संकल्प से और कृत कारित अनुमोदना से त्रस, दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक चलते फिरते

जीवों को जो नहीं हनता है, उस क्रिया को गणधरादि निपुण पुरुष स्थूलहिंसा से विरक्त होना अर्थात् अहिंसाणुव्रत कहते हैं।' सामान्यतया गृहस्थ के समस्त काम, व्यवहार, वाणिज्य करते हुए, समाज और देश की उन्नति में यथोचित भाग लेतेहुए, गृहस्थ श्रावक अहिंसा अणुव्रत का पालन सुविधा से कर सकता है। मन वचन कायके संकल्प विना प्रयत्न पूर्वक, देख भालकर कोमल शान्त परिणाम से काम करते हुए भी यदि आकस्मिक त्रस प्राणियों के प्राणघात हो भी जावें तो अणुव्रत में बाधा नहीं आती! क्योंकि वहां उस व्यक्ति के परिणाम तो अहिंसकभाव से भरे हैं। उसमें हिंसकभाव की कठोरता विद्यमान नहीं है। और परिणामों के आधीन ही हमारा चरित्र बन्ध है; यह प्रगट ही है। शास्त्रों के निम्न उद्धरण इस ही बात को स्पष्ट व्यक्त करते हैं:—

'एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा, स्वल्पफला भवति परिपाके ॥ ५२ ॥
एकस्य सैवतीव्रं दिशतिफलं सैवमन्दमन्दस्य।
व्रजतिसह कारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥ ५३ ॥
अविधायापिहि हिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफल भाजनं न स्यात् ॥ ५१ ॥'

—श्री पुरुषार्थ सिद्धुपाय—

अर्थात्—'जो पुरुष बाह्य प्राणहिंसा तो थोड़ी करता है परन्तु अपने परिणामों को अधिक कलुषित करता है, उसका वह तीव्र फल आगामी काल में भोगता है। दूसरा अन्तरङ्ग में मन्दकषाय होते हुए अचानक बाह्य हिंसा अधिकसी करजाय तो उसको पापबन्ध कम होता है। फिर यदि कई मनुष्य किसी जीव को मिलकर वध करें तो उनमें से प्रत्येक को अपने २

तीव्र, मध्यम और मन्द कषाय के अनुसार आगामी काल में तीव्र, मध्यम और मन्द फल भोगना पड़ेगा। पहिली बात का उदाहरण इस प्रकार है कि जैसे सावधानी से इलाज करते हुए भी रोगी के मरजाने पर डाक्टर को कोई दोषी नहीं ठहराता है और कसाई के हाथ से कभी किसी वध्यजीव के जिन्दा रहने पर भी वह उसकी हिंसा के पाप समूह से कभी छूट नहीं सकता है।' इसही बात की पुष्टि एक अन्य आचार्य निम्न प्रकार करते हैं:—

'मरदुव जियदुव जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्सणत्थि बन्धो हिंसा मित्तेण समिदस्स ॥'
(सर्वा० स० टी०)

अर्थात्—"जैसे किसी जीवने अपने मनमें किसी के मारने का पक्का इरादा करलिया इससे उसको उसी समय उस हिंसा का पाप भी बँध चुका, जबतक वह उसको मार नहीं पाया कि उसके पहिले ही फल भोगलेता है, इसलिये कहा है कि बैठे बिठाये भी कलुषित परिणाम रखने से पापबन्ध हुआ करता है और सावधानी से निष्कषाय होकर काम करने से दूसरे किसी सूक्ष्म जीव की अचानक हिंसा होजाने पर भी पाप नहीं लगता।" और भी कहा है:—

'प्रागेव फलति हिंसा; क्रियमाणाफलति फलति चकृतपि।
आरभ्यकर्तु मकृताप फलति हिंसानुभावेन् ॥ ५४ ॥-पु०सि०॥"

अर्थात्—"जैसे किसी ने किसी जीव की हिंसाकर कर्म-बन्ध तो करलिया परन्तु उस जीव को हिंसा करने के अवसर के पहिले ही उस संकल्पित कर्म के उदय आने पर (जिस तरह किसी को मारने का इरादा करनेवाले मनुष्य के पास सबूत मिलने पर सरकार उसको पहिले ही दण्ड देती है इसी

प्रकार) वह भी उसके मारने के पहिले ही फल भोगलेता है। जैसे किसी ने किसी को हिंसा करने का संकल्प व इरादा करके कर्मबन्ध करलिया और हिंसा करने के समय ही उस संकल्पित पाप का उदय आजाने पर जिस प्रकार किसी को किसी का खून करते देख झट दूसरा भी उसका खून करदेता है, उसी प्रकार वह भी उसकी हिंसा करते समय फल भोगता है। और किसी हिंसा का फल उसके आगामी काल में उदय आने के पीछे मिलता है। भाइयो ! इसके विचित्र फल को देखकर हिंसा करना छोड़ो।" और भी आचार्य कहते हैं कि:-

'एकः करोति हिंसा भवन्ति फल भागिनों वहवः ।
वहवो विदधति हिंसा हिंसाफल भुम्भवत्येक ॥ ५५ ॥'

अर्थात्—"जैसे जीवहिंसा तो एकही पुरुष कररहा हो परन्तु उसके देखनेवाले जो अपने मनमें उस हिंसा का अनुमोदन करते हों या मुख से शाबासी आदि के वचन निकालते हों वेभी उस हिंसा पापका फल अवश्य भोगते हैं। इसी प्रकार युद्ध के समय राजा अपने सैनिकों को शत्रुपक्ष के मनुष्य व पशुओं को वध करने की आज्ञा देता है। सैनिक यदि परतंत्रता के वश होकर हिंसाकरे तो उस हिंसाके अधिक फलका भागी राजा होता है।" फिर भी कहा है कि:-

'हिंसा फलमपरस्य तु ददात्यहिंसातु परिणामें।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशात्यहिंसा फलं नान्यत् ॥ ५७ ॥'

अर्थात्—"जैसे कोई बाहर में हिंसा न करते हुए किसी के अनिष्ट (बुरा) करने का यत्न कर रहा हो परन्तु उस प्रतिपक्षी जीवके पुण्य से कदाचित् बुरे की जगह भला भी होजाय तोभी उस बुराई का फल अनिष्टकर्ता अवश्य भोगता है। इसी प्रकार जैसे किसी वैद्य दयालु से रोगी औषधि करते

हुए भी मरजावे तोभी उस वैद्य को अहिंसा काही फल मिलता है।"

इन शास्त्रीय उद्धरणों से संकल्पी हिंसा का स्पष्ट विवरण समझ में आजाता है। परिणामों का विचलित होतेही अहिंसा व्रत मलिन होजाता है। इसलिए किसी को मारडालने मेंही हिंसा नहीं है, बल्कि तद्रूप भाव करने से भी वही पापबन्ध मौजूद है! सारांश यह कि परिणामों के तारतम्य परही हिंसा की मात्रा अवलंबित है। अब यहां पर ऐसे प्रश्न सहजमें हल होजाते हैं, जिनको अहिंसा तत्व के सैद्धान्तिक विवेचन से अनभिज्ञ पुरुष कभी कभी उठाते हैं। उदाहरण के तौर पर "देवेन्द्र" (वाक्य १७) का निम्न विवरण दृष्टव्य है:-

"मुझसे एक अंग्रेज ने प्रश्नकिया, जो एक अंग्रेजी अखबार में भी छपा था। एक मक्खी एक भूखी मकड़ी के जाल में फंस गई। ऐसी दशा में हमारा धर्म और कर्तव्य क्या है ? क्या हम मक्खी को जाल से निकालदें, और मकड़ी को उसके प्रकृतिक भोजन से वंचित करके उसके प्राण पीड़न करें ? इस में तो सन्देह नहीं कि मक्खी को जाल से निकाल देने से हम मकड़ी के भूखवश प्राण-पीड़न के निमित्त कारण होते हैं। किंतु ऐसा करने में हमारे भाव दयारूप होते हैं, मक्खी की जान बचाने का आशय प्रबल होता है, और मकड़ी के प्राण पीड़न के अभिप्राय से हम ऐसा नहीं करते। अपरंच मक्खी की जान बचाने का पुण्य मकड़ी की भूखपीड़ा से कई गुणा अधिक होगा। अतः ऐसे अवसर पर हमारा कर्तव्य स्पष्ट है कि हम को मक्खी को जाल से निकाल देना चाहिए। इसही प्रकार छिपकली को हटाकर पतंगों की जान बचाना, बिल्ली से चूहे को और कसाई से गाय को छुड़ाना धर्म है।"

इस प्रकार संकल्पी हिंसा का स्वरूप हम अच्छी तरह समझ लेते हैं। अब ज़रा आइए पाठकगण औद्योगिक हिंसा का भी दिग्दर्शन करलें।

(२) औद्योगिक हिंसा—वह हिंसा है जो कारखाने, मिल, व्यापार, वाणिज्य आदि के करने में होती है। जैसे कि कहा है कि 'अनुषङ्गिकः कृष्यादि अनुषगे जातः' अर्थात् कृषि आदि कार्यों में होने वाली हिंसा। इस हिंसा को गृहस्थ श्रावक नहीं बचा सक्ता है; क्यों कि उसे ससार में रह कर व्यवहारिक अनेक कार्य करने हैं जिसके लिए वह ऐसे उपायों का असि; मसि, कृषि, आदि-साधारण कार्यों का अवलम्बन करके अर्थोपार्जन करेगा। यह इस साधारण गृहस्थ के लिए संभव नहीं होगा कि वह साक्षात् हिंसा पूर्ण मांस, मद्य का व्यापार करे, क्यों कि उसे हर समय इस बात का ध्यान रहेगा कि वह जितनी कम हिंसा कर सके उतना अच्छा है। उस के हृदय में ऐसी करुणा उत्पन्न हो जाती है कि वह सर्व की रक्षा चाहता है। और उस ही बात को लक्ष्य करके अपने उद्योग में प्रवर्तमान होता है। श्री अमृतचंद जी सूरिने अपने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में एकेंद्री की भी ज़रूरत से ज्यादा हिंसा न करने का उपदेश दिया है:—

"स्तोकैकेन्द्रियघाताद् गृहिणां सम्पन्न योग्य विषयाणाम्।
शेष स्थावर मारण विरमणमपि भवति करणीयम् ॥ ७७ ॥"

"व्यापारादि आरम्भ कार्यों में प्रवर्तन करते हुए यह त्रस हिंसा का बचाव नहीं कर सकता है, यद्यपि व्यर्थ और अन्याय पूर्वक त्रस हिंसा कदापि नहीं करता। तीन वर्णों के श्रावकों को अपनी २ पदवी के योग्य असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प तथा विद्या, इन छह कर्मों के द्वारा आजीविका......

थोड़ी या बहुत अपनी २ स्थिति के अनुसार करनी पड़ती है। तो भी दयावान् श्रावक जहां तक बने बहुत विचार पूर्वक वर्तन करता है। उसके अंतरंग में तो यही श्रद्धा रहती है कि मुझे जीव हिंसा न करनी पड़े तो ठीक है। परन्तु प्रत्याख्याना वरणी कषाय के उदय करके गृहकार्य आजीविका आदि त्यागने को असमर्थ होता है। इससे लाचारी वश...... (वह) हिंसा छोड़ नहीं सका, परन्तु यथासंभव ऐसी हिंसा से बचने की चेष्टा करता रहता है। (गृहस्थ धर्म पृष्ठ ६९)।

तीसरी 'आरंभी हिंसा' का समावेश एक तरह औद्योगिक या व्यवहारी हिंसा में होजाता है। औद्योगिक हिंसा गृह बाहर रहकर पैसा पैदा करने में होती है तो आरंभी घर के भीतर के कार्यों में होती है। इस लिए यह दोनों एक ही प्रकार की हैं, जिससे कतिपय आचार्य इस प्रकार हिंसा के तीन भेद ही करते हैं। आरंभी हिंसा का उपार्जन भोजन बनाने, स्नान करने, मकान साफ करने, भाड़ू देने आदि घर के काम काज करने में होती है। इस हिंसा से गृहस्थ श्रावक बच नहीं सकता है। इस लिए वह इस का त्यागी भी नहीं होता है। वह अहिंसा धर्म का पालन अधिक से अधिक अपनी शक्ति के अनुसार करता है-एक देश रूप-एक भाग रूप में उस का अभ्यास करता है। उसका पूर्ण पालन तो गृहत्यागी श्रावक अथवा मुनिजन ही कर सकते हैं। आरंभी हिंसा का त्याग उन्हीं के होता है। इस ही कारण आचार्य कहते हैं:—

> "जं किंचि गिहारंभं बहु थोवं वा सया विवज्जेई।
> आरंभणिवत्तिमई सो अट्ठमु सावक भणिओ॥"
>
> (वसुनन्दि श्रावक०)

भावार्थ—"जो गृहका आरम्भ थोड़ा हो या बहुत सदा ही न

करे सो आरम्भ से छूटा हुआ आठवीं प्रतिमा का धारी श्रावक होता है।" इस प्रकार इस आरम्भी हिंसा के दोष से गृहस्थ नहीं बच सकता है। उसे यत्न पूर्वक गृहस्थी के धन्दे को करते रहना चाहिये। स्वच्छता और पवित्रता का ध्यान रखना आवश्यक है। गृहकार्य में मलिनता रखने के कारण शरीर और आत्मा दोनों का अलाभ होता है। शरीर गन्दे घर में रह कर, मलिन पदार्थों को खाकर निरोगी नहीं रह पाता है उसी प्रकार उसकी बुद्धि भी स्वच्छ नहीं रहती, जिससे वह आत्म-हित नहीं कर सकता। इसलिए गृह कार्य में शुद्धता पूर्वक व्यवहार करना उत्तम है, जिस से वृथा हिंसोपार्जन से मुक्ति रहे।

आखिरी 'विरोधी हिंसा' है! इसका भाव यह है कि यदि कोई डांकू, चोर, दुश्मन, बदमाश आदि हम पर आक्रमण करे तो हम अपनी रक्षा के लिए उसका प्रतीकार करें, इस अवस्था में जो हिंसा हो वह विरोधी हिंसा कहलायगी। इस का भी त्याग साधारण गृहस्थी नहीं कर सकता है। उसे अपनी रक्षा के लिये बदमाश का मुकाबला भी करना होगा और मरना मारना भी होगा। परन्तु इस अवस्था में वह हिंसा पराश्रित हो कर करेगा, इसलिए उसके इस हिंसक कार्य से बहुत हलका पाप बन्ध होगा; क्योंकि उसके परिणामों में भयङ्करता न होकर कोमलता होगी। हमारे शास्त्रों में ऐसे अनेकों उदाहरण मिलते हैं जहां प्राणियों ने अपनी रक्षा के लिए हथियार तक उठाए हैं। यही नहीं बल्कि राजा महाराजा और चक्रवर्तियों ने तो स्वतः धर्म राज्य फैलाने के लिये युद्ध भी किये हैं। श्री सागार धर्मामृत की भव्य कुमुदचन्द्रिका नामक टीका में लिखा है कि :—

'स्थूल ग्रहणमुपलक्षणं तेन निरपराध संकल्पपूर्वक हिंसा-दीनामपि ग्रहणं। अपराध कारिषु यथाविधि दण्ड प्रणेतृणां चक्रवर्त्यादीनाम् अणुव्रतादि धारणं। पुराणादिषु बहुशः श्रूयमाणं न विरुद्धयते।'

अर्थ—"स्थूल शब्द से यहां निरपराधियों पर संकल्प करके हिंसादि करना ग्रहण किया गया है; क्योंकि अपराध करने वालों को यथायोग्य दण्ड देना यह बात चक्रवर्ती आदिकों के सम्बन्ध में पुराणों में बहुधा सुनने में आई है और वे अणुव्रत के धारी थे। इससे दण्डादि देने में न्याय पूर्वक जो प्रवृति करना है उसका विरोध अणुव्रतधारी के नहीं है। तथा इस व्रत का धारी असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या ऐसे षट्कर्मों का न्यायपूर्वक करने वाला आरम्भी गृहस्थी श्रावक होता है।" (गृहस्थ धर्म पृ० ९२)

इस दशा में साधारण गृहस्थ विरोधी-हिंसा का त्याग नहीं कर सकता है। उसके लिए संसार में मर्यादा पूर्वक रहते हुए यह सम्भव नहीं है कि उसका कोई विरोधी न हो और उसका उसे सामना न करना पड़े। उसका जीवन निर्वाह इस अवस्था में बिलकुल असम्भव हो जायगा यदि वह अपने विरोधियों के कुत्सित कार्यों का प्रत्युत्तर उनकी दुर्बुद्धि पर तरस खाकर भी न दे। 'माध्यस्थ भाव विपरीत वृत्तौ' वस्तुतः सर्वोत्तम नीति है। परन्तु गृहस्थ के लिये वह हर समय लागू नहीं है। ईसा का उपदेश है कि यदि तेरे वाम गाल पर कोई चपत मारे तो तू उसके सामने अपना सीधा गाल करदे। परन्तु यदि अँग्रेज इसी शिक्षा पर तुले रहते तो आज संसार भर में अपना साम्राज्य कैसे फैला पाते? यद्यपि यह ठीक है कि अनीति में प्रवृति करना भी अनुचित है।

यही बात हिन्दुओं के महाभारत में बताई गई है। वहां कहा गया है कि "वत्स! इन दो सत्यों को जान कि बल ही सर्वथा उपयुक्त नहीं है और क्षमा भी सर्वदा ठीक नहीं है। जो सदा अपराधियों को क्षमा करता रहता है उसे अनेकों कष्ट उठाने पड़ते हैं और विदेशी यात्री एवं शत्रु उसकी कभी कुछ परवा नहीं करते हैं। कोई प्राणी उसके समक्ष नमता नहीं है। चञ्चल मायावी नोकर उसकी गाड़ीं, घोड़ी, कपड़े, लत्तों आदि को हज़म कर जाते हैं। पुत्र! जो हमेशा क्षमा धारण किए रहता है उससे उसके लड़के और नौकर आदि कठोर वचन कह जाते हैं। ऐसे व्यक्ति जो सर्वथा क्षमाशील गृहस्थ की उपेक्षा करते हैं, वे उसकी पत्नी से भोग की वाञ्छा करते हैं और पत्नी भी मन चाहा करने को उतारू हो जाती है। ...... अब उनके अवगुण सुन जो कभी भी क्षमा धारण नहीं करते। क्रोधी मनुष्य जो अन्धकार में वेष्टित रहता है और अपने बल पर अन्यों को सज़ा देता रहता है, फिर चाहे वे उसके योग्य हों या नहीं, अवश्य ही वह अपने मित्रों से अलग किया जाता है। ऐसे मनुष्य का तिरस्कार स्वयं उसके रिश्तेदार और अन्य अज्ञात पुरुष करते हैं। ऐसा मनुष्य क्योंकि वह दूसरों का अपमान करता है, धन की हानि उठाता है और बदले में तिरस्कार, शोक, द्वेष, भ्रम और शत्रुओं को पाता है। ...... वह जो उपयुक्त समय पर क्षमाशील बनता है वह दोनों भवों में सुखी रहता है।" (वान० पर्व २८ । ६–३५) इस तरह का उपदेश संसार कार्य में व्यस्त गृहस्थ के प्रति वर्णित है; वरन् अहिंसा पूर्ण क्षमाभाव धारण करने का महत्त्व महाभारत मेंभी स्वीकार किया गया है, परन्तु वह गृहस्थ के लिए दुर्लभ है। हिन्दू आचार्य की दृष्टि में वैसे पूर्ण क्षमा

हां धर्म है, यज्ञ है और वेद है। किन्तु इसके पालन का अधिकारी वही बतलाया गया है जो प्रत्येक वस्तु को क्षमा प्रदान कर सकता है। क्षमा के अतिरिक्त, पूर्ण अहिंसक भाव के अतिरिक्त जिसके निकट और कोई भाव महत्व हां न रखता हो। (शान० २६ । ३८–४७) इस तरह गृहस्थ के लिए समुचित ढंग में क्षमाशील–अहिंसक वीर–बनने का विधान है।

जैन अहिंसा पर यह लांछन लग हो नहीं सकता है कि यह मनुष्य को कायर बनाती है। वह मनुष्य को कायर नहीं बल्कि एक योग्य रईस नागरिक बनाती है इस प्रकार अहिंसा व्रत का सैद्धान्तिक विवेचन है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि अहिंसा धर्म के पूर्ण पालन से मुक्ति लाभ तक होता है। और यह बात है भी सच। परन्तु आप यह विस्मय करते होंगे कि कोई भी प्राणी अहिंसा का पूर्ण पालन नहीं कर सकता; क्योंकि शास्त्रों में कहा है कि:-

'जले जंतुः स्थले जंतुराकाशे जंतुरेव च ।
जन्तुमाला कुले लोके कथं भिक्षुक हिंसकः ॥'

अर्थात्–जल में जीव और थल में जीव,
आकाशहु में जीवहीं जीव।
जीव राशि लोक में भरी,
मुनि से कहां अहिंसा सरी ॥"

"किन्तु यह वाक्य केवल उपालंभ मात्र है। वास्तव में जैन मुनि को प्रमाद के अभाव से अप्रमत्त गुणस्थान की प्राप्ति हो जाती है। और जहां प्रमाद नहीं बल्कि ज्ञान ध्यान में लयलीनता है, वहां हिंसा का सद्भाव ही नहीं है।

सूक्ष्माः न प्रति पीड्यन्ते प्राणिनः स्थूलमूर्तयः ।
ये शक्यास्ते विवर्ज्यन्ते का हिंसा संयमात्मनः ॥

अर्थात्—न सूक्ष्म न बादर को पीड़ा करे,
सर्व प्राणो की रक्षा सदा आदरे।
शक्ति पूर्वक अहिंसा व्रत आचरे,
संयमी आत्मा कैसे हिंसा करे?

(देवेन्द्र वाक्य ६)

अतएव इसमें संशय या विस्मय करने को कोई स्थान ही नहीं है कि मुनिगण भी अहिंसा धर्म का पूर्ण पालन कर सकते हैं। उनके चारित्र नियमों का विशेष विवरण जानने के लिए मूलाचार, अनागार धर्मामृत प्रभृति ग्रन्थ देखना चाहिये।

हां, तो मुनिगण ही पूर्ण अहिंसा पालन कर सकते हैं और उनके पालन से वह संसार बन्धनों से छूट सकते हैं। परन्तु गृहस्थ के लिए—सर्व साधारण के लिए—यह सम्भव नहीं है कि वह सहसा मुनिव्रत को धारण करलें। इसलिए उनके लिये तो अहिंसा धर्म का अणुरूप पालन करना ही हितकर है, यह हम देख चुके हैं। प्रत्येक व्यक्ति को शक्ति अनुसार उस को पालन करने का अवसर प्रदान किया गया है। न्यूनाधिक योग्यता वाले व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार उसका पालन सुगमता के साथ कर सकते हैं। संसार के कार्यों में फँसा हुआ मनुष्य केवल संकल्पी हिंसा का बचाव कर सकता है। दूसरे शब्दों में वह भावहिंसा और स्थूल हिंसा का त्यागी हो सकता है। शेष की हिंसा को बचाना उसके लिये अनिवार्य है। तिस पर भी यदि इस आरम्भी, औद्योगिक और विरोधी हिंसा में उसकी मनोभावनायें शुद्ध एवं पवित्र बनी रहतीं हैं तो दोष का भागी कम होता है। "कभी कभी तो इस प्रकार की हिंसा जैन दृष्टि से भी कर्तव्य का रूप धारण कर लेती है। मान लीजिए एक राजा है, वह न्याय पूर्वक अपनी प्रजा का

पालन कर रहा है। प्रजा राजा से खुश है। ऐसी हालत में यदि कोई अत्याचारी आततायी आकर उसके शान्तिमय राज्य पर आक्रमण करता है अ.वा उसकी शान्ति में बाधा डालता है तो उस राजा का कर्तव्य होगा कि देश की शान्ति रक्षा के निमित्त वह पूरी शक्ति के साथ उस आततायी का सामना करे, उस समय वह युद्ध में होनेवाली हिंसा की परवाह न करे। इतना अवश्य है कि वह अपने भावों में हिंसक प्रवृत्ति को प्रविष्ट न होने दे। उस युद्ध के समय भी वह कीचड़ के कमल की तरह अपने को निर्लिप्त रक्खे- उस भयंकर मारकाट में भी वह आततायी के कल्याण ही की चिन्ता करे। यदि शुद्ध और सात्विक मनोभावों के रखते हुये वह हिंसाकाण्ड भी करता है तो हिंसाके तीव्र पापका भागी नहीं गिना जासकता। विपरीत इसके यदि ऐसे भयंकर समय में वह अहिंसा का नाम लेकर हाथ पर हाथ धरकर कायर की तरह बैठ जाता है, तो अपने राज्यधर्म से एवं मनुष्यत्व से च्युत होता है। इसी प्रकार मान लीजिए कोई गृहस्थ है उसके घर में एक कुलीन साध्वी और रूपवती पत्नी है यदि कोई दुष्ट विकार या सत्ता के वशीभूत होकर दुष्टभावना से उस स्त्री पर अत्याचार करने की कोशिश करता है तो उस गृहस्थ का परम-कर्तव्य होगा कि वह अपनी पूर्णशक्ति के साथ उस दुष्ट से अपनी स्त्री की रक्षा करे। यदि ऐसे कठिन समय में उसके धर्म की रक्षा निमित्त उसे उस आततायी की हत्या भी कर देना पड़े तो उस के व्रत में कोई बाधा नहीं पड़ सकती पर शर्त यह है कि हत्या करते समय भी उसकी वृत्तियां शुद्ध और पवित्र हों। यदि ऐसे समय में अहिंसा के वशीभूत होकर वह उस आततायी का प्रतिकार करने में हिचकिचाता है तो उसका भयंकर नैतिक अधःपात हो

जाता है जो कि हिंसा का जनक है। क्योंकि इस से आत्मा की उच्चवृत्ति का घात होजाता है। अहिंसा के उपासक के लिए अपनी स्वार्थवृत्ति के निमित्त की जाने वाली स्थूल या संकल्पी हिंसा का पूर्ण त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। जो लोग अपनी क्षुद्र वासनाओं की तृप्ति के निमित्त दूसरे जीवों को क्लेश पहुंचाते हैं-उनका हनन करते हैं-वे कदापि अहिंसा धर्म का पालन नहीं कर सकते। अहिंसक गृहस्थों के लिए वही हिंसा कर्तव्य का रूप धारण कर सकती है जो देश, जाति, अथवा आत्मरक्षा के निमित्त शुद्ध भावनाओं को रखते हुए मजबूरन की गई हो। इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा व्रत पालन करते हुए भी मनुष्य युद्ध कर सकता है आत्मरक्षा के निमित्त हिंसक पशुओं का वध कर सकता है। यदि ऐसे समय में वह अहिंसा धर्म का आड़ लेता है तो अपने कर्तव्य से च्युत होता है। इसी बात को और भी स्पष्ट करने के निमित्त हम यहाँ पर इसी विषय का एक ऐतिहासिक उदाहरण पाठकों के सम्मुख पेश करते हैं।

"गुजरात के अन्तिम सोलंकी राजा दूसरे भीमदेव के समय में एक बार उनकी राजधानी 'अनहिल पुर' पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ। राजा उस समय राजधानी में उपस्थित न था केवल रानी वहां मौजूद थी। मुसलमानों के आक्रमण से राज्य की किस प्रकार रक्षा की जाय इसके लिए राज्य के तमाम अधिकारियों को बड़ी चिन्ता हुई। उस समय दण्डनायक अथवा सेनाध्यक्ष के पद पर "आभू" नामक एक श्रीमाली (जैन) वणिक था। वह उस समय उस पद पर नवीन ही आया था। वह व्यक्ति पक्का धर्माचरणी था। इस कारण इसकी रणचतुरता पर किसीको पक्का विश्वास न था;

एक तो राजा उस समय वहां उपस्थित न था; दूसरे कोई ऐसा पराक्रमी पुरुष न था जो राज्य को रक्षा का विश्वास दिला सके और तीसरे राज्य में युद्ध के लिए पूरी सेना भी न थी। इससे रानी को और दूसरे अधिकारियों को अत्यन्त चिन्ता होगई। अन्त में बहुत विचार करने के पश्चात् रानीने "आभू" को अपने पास बुलाकर शहर पर आने वाले भयंकर संकट की सूचना दी और उसकी निवृत्ति के लिए उससे सलाह पूछी। दण्डनायक ने अत्यन्त नम्र शब्दों में उत्तर दिया कि यदि महारानी साहिबा मुझपर विश्वास करके युद्ध संबंधी पूर्ण सत्ता मुझे सौंप देंगी तो मुझे विश्वास है कि मैं अपने देशको दुश्मनोंके हाथोंसे पूरी तरह रक्षाकर लूँगा। आभू के इस उत्साहदायक कथन से आनन्दित हो रानी ने उसी समय युद्ध सम्बन्धी संपूर्ण सत्ता उसके हाथ में सौंपकर युद्ध की घोषणा करदी। सेनाध्यक्ष 'आभू' ने उसीदम सैनिक संगठन कर लड़ाई के मैदान में पड़ाव डालदिया। दूसरे दिन प्रातःकाल युद्ध आरम्भ होनेवाला था। पहिले दिन सेनाध्यक्ष को अपनी सेना की व्यवस्था करते करते सन्ध्या होगई। यह व्रतधारी श्रावक था। दोनों वक्त प्रतिक्रमण करने का इसे नियम था। संध्या होतेही प्रतिक्रमण का समय समीप जान इसने कहीं एकान्त में जाकर प्रतिक्रमण करने का निश्चय किया। परन्तु उसी समय उसे मालूम हुआ कि यदि वह युद्धस्थल को छोड़ कर बाहर जायगा तो सेना में विश्रृङ्खला होने की संभावना है। यह मालूम होतेही उसने अन्यत्र जाने का विचार छोड़दिया और हाथी के हौदेपर ही बैठे बैठे प्रतिक्रमण प्रारम्भ करदिया। जिस समय वह प्रतिक्रमणमें आए हुए 'जे मे जीवा विराहिया एगिंदिया बेइंदिया' इत्यादि शब्दों का उच्चारण कर रहा था,

उसी समय किसी सैनिक ने इन शब्दों को सुन लिया। उस सैनिक ने एक दूसरे सरदार के पास जाकर कहा:—देखिये साहब! हमारे सेनापति साहब इस युद्ध के मैदान में जहांपर कि 'मारमार' की पुकार और शस्त्रोंकी खन खनाहटके सिवाय कुछ भी सुनाई नहीं पड़ता है—'एंगिंदिया वेंगिंदिया' कररहे है। नरम नरम हलवे के खाने वाले ये श्रावक साहब क्या बहादुरी बतलावेंगे? शनैः शनैः यह बात रानी के कानों तक पहुंच गई, जिससे वह बड़ी चिन्तित होगई। पर इस समय कोई दूसरा उपाय न था, इस कारण भविष्य पर सब भार छोड़ कर वह चुप होगई। दूसरे दिन प्रातःकाल युद्ध आरम्भ हुआ। योग्य अवसर ढूंढकर सेनापति ने इतने पराक्रम और शौर्य्यके साथ शत्रु पर आक्रमण किया कि जिससे कुछ ही घड़ियों में शत्रु सेना का भयङ्कर संहार होगया और मुसलमानों के सेनापति ने हथियारों को नीचे रख युद्ध बन्द करने की प्रार्थना की। आभू की विजय हुई। अनहिलपुर की सारी प्रजा में उसका जय जयकार होने लगा। रानी ने बड़े सम्मान के साथ उसका स्वागत किया। पश्चात् एक बड़ा दरबार करके राजा और प्रजा की ओर से उसे उचित सम्मान प्रदान किया गया। इस प्रसङ्ग पर रानी ने हँसकर कहा—"दण्डनायक! जिस समय युद्ध में व्यूह रचना करते समय तुम "एंगिंदिया" का पाठ करने लगगये थे उस समय तो अपने सैनिकों को तुम्हारी ओर से बड़ी निराशा होगई थी। पर आज तुम्हारी वीरता को देख कर तो सभी लोग आश्चर्य्यान्वित होरहे हैं।" यह सुनकर दंडनायक ने नम्र शब्दों में उत्तर दिया—"महारानी! मेरा अहिंसाव्रत मेरी आत्मा के साथ सम्बन्ध रखता है। 'एंगिंदिया वेंगिंदिया' में वध न करने का जो नियम मैंने ले रक्खा है वह मेरे

व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा से है। देश की रक्षा के लिये अथवा राज्य की आज्ञा के लिये यदि मुझे वध अथवा हिंसा करने की आवश्यक्ता पड़े तो वैसा करना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूं। मेरा यह शरीर राष्ट्र की सम्पत्ति है। इस कारण राष्ट्र की आज्ञा और आवश्यक्ता के अनुसार इसका उपयोग होना आवश्यक है। शरीरस्थ आत्मा और मन मेरी निज की सम्पत्ति है। इन दोनोंको हिंसाभाव से अलग रखना यही मेरे अहिंसाव्रत का लक्षण है।' इस ऐतिहासिक उदाहरण से यह भली प्रकार समझ में आ जायगा कि जैन गृहस्थ के पालने योग्य अहिंसाव्रत का यथार्थ स्वरूप क्या है।"*

इस प्रकार की अहिंसा का पालन ही एक गृहस्थ कर सकता है। और उससे उसको लाभ भी यथेष्ट हो सकता है, और न पालने से दुःख भोगने पड़ते हैं यथाः—

"इसी अणुव्रत के पालन से,
जाति पांति का था चण्डाल।
तो भी सब प्रकार सुख पाया,
कीर्तिमान् होकर यमपाल॥
नहीं पालने से इस व्रत के,
हिंसारत हो सेठानी।
हुई धनश्री ऐसी जिस की,
दुर्गति नहिं जाती जानी॥"

अतएव सुखकी वाञ्छा है तो इस व्रत का पालन करना आवश्यक है। इस व्रत के पालन करने में किन २ बातों का ध्यान रखना चाहिये, यही अगाड़ी लिखा जायगा। परन्तु पाठकगण अहिंसा के इस नियमित सैद्धान्तिक विवेचन से

* भगवान महावीर पृष्ठ ३०२-३०७

उसका वास्तविक महत्व और स्वरूप अवश्य हृदयङ्गम कर सके होंगे। यदि उन्हें इसका और भी विशद स्वरूप और कार्यकारी सैद्धान्तिक विवेचन जानने की अभिलाषा हो तो पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय प्रभृत जैन ग्रन्थों को पढ़ना चाहिये। जैन शास्त्रोंमें वस्तु स्वरूप में प्रत्येक विषय का प्रतिपादन बड़ी खूबी के साथ वैज्ञानिक ढंग में किया गया है। वहां भ्रम में पड़ने का भय ही नहीं है। जो कुछ है वह सत्य है। जो वस्तु का स्वरूप है वह वहां दर्शा दिया है। उसके अध्ययन से अनायास निम्न शब्द मुखसे निकल पड़ते हैं। यह बात स्वमत पक्षपात से नहीं, प्रत्युत सत्य के नाते लिखी जारही है। सत्य खोजियों को ध्यान देना चाहिए और फिर इस दोहे का महत्व प्रत्यक्ष देख लेना चाहिए:—

जैनधर्म जैवंत नित, जाको मर्म सो पाय।
वस्तु यथारथ रूप लखि, पहुंचे शिवपुर धाय॥

(८)

अहिंसा व्रत के सहायक साधन ?

'वाङ्मनो गुप्तीर्यादाननिक्षेपण समित्या लोकितपान भोजनानि पञ्च।'

—तत्वार्थ सूत्र।

ईसाकी प्रथम प्रथम शताब्दिमें हुए प्रखर आचार्य श्रीमद् उमास्वामि जी महाराज बतलाते हैं कि अहिंसा धर्म के पालन में इन पांच बातों का ध्यान रखना भी आवश्यक है। अर्थात् (१) वचन गुप्त (२) मनोगुप्ति (३) ईर्या (४) आदान निक्षेपण समिति और (५) आलोकित पान भोजन। इन में से प्रथम वचनगुप्ति अपनी वाणी पर काबू रखना यथार्थ ही किसी

से मिथ्या-भयड-पीड़ोत्पादक बचन नहीं कहना। वस्तुतः वाज़ी दफ़े अजान में कहे गये शब्द गहरे तलवार के घाव का काम कर जाते हैं। प्रत्यक्षमें भी कउवा किसी का कुछ विगाड़ नहीं देता है और कोइल किसी को कुछ दे नहीं देती है। यह दोनों केवल अपनी वाणी के कारण प्रिय और अप्रिय हैं।

इस कारण इस वात का सदैव ध्यान रखना आवश्यक है कि वचनों द्वारा हम किसी के प्राणों को कष्ट पहुंचा कर हिंसो पार्जन न करलें। हिन्दुओं के शास्त्रा में इसका विधान हैं उन के मनु महाराज कहते हैं कि "हर्षोत्पादक वातें कहो; अप्रिय सत्य भी मत कहो और न प्रिय असत्य वाक्य।" (मनुस्मृति ४। १३८)। महाभारतमें कहा गया है कि "हे शक्र! वाणी की मधुरता एक ऐसी वस्तु है कि जिसका अभ्यास करने से एक व्यक्ति सर्व प्राणियों की विनय का पात्र वन सकता है और प्रख्याति प्राप्त कर सकता है। हे शक्र, यह एक ऐसी वस्तु है जो सब ही को सुख प्रदान करती है। इस का अभ्यास करने से, एक व्यक्ति सर्व प्राणियों का प्रेम-पात्र वन सकता है। वह व्यक्ति जो न कभी एक शब्द मुख से निकालता है और हर समय मुँह चढ़ाए रहता है, वह सहज में सर्व प्राणियों के द्वेष का पात्र वन जाता है। मृदुभाषण का अभाव ही उसे ऐसा बनाने में कारण है। वह व्यक्ति जो दूसरों के मिलने पर मुस्कराते हुए उन से सब से पहिले वोल उठता है वह सब को अपना मित्र वना लेता है। सच है, मृदु-वाणी के विना दान भी दीनजनों को सुख नहीं पहुंचाता है, जैसे चावल विना कढ़ी के अच्छे नहीं लगते।" (शांतिपर्व ८४। ३-१०।) शुक्रनीति भी वाणी पर अधिकार रखकर मृदु भाषण करने का महत्व वतलाती है कि "तीनों लोक में कोई भी वशीकरण

मन्त्र दया, मित्रता, दानशीलता और मृदुभाषण से बढ़कर नहीं है।" (१ । २४२)

इसी तरह पारसी धर्म में पाप से बचने के लिए जिन बातों पर विशेष ध्यान रखने पर जोर दिया है वह बहुत अंशों में उक्त पाँचबातोंके समान हैं जिनको उमा स्वामी महाराज ने बतलाया है। उनके 'दिनकर्द' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि :-

"यह मालूम हो कि वही मनुष्यों में बुद्धिमान है जो अपने मनोगत पाप को करने और उसे कहने से अपने को रोकता है। उससे भी अधिक बुद्धिमान वह है जो इच्छा के कारण उत्पन्न पाप का विचार करने से अपने को वर्जित रखता है। और सब से अधिक बुद्धिमान वह है जो ऐसे मार्ग और साधनों का अवलम्बन लेता है जिससे उसकी इच्छा पाप वृत्ति से दूर हटे।"

शेखसादी अपनी गुलिस्तां में लिखते हैं कि 'वह व्यक्ति जिसकी ज़बान कट गई है और जो एक कोने में बहरा और गूँगा बन बैठा है उस मनुष्य से अच्छा है जिसको अपनी जबान पर काबू नहीं है।' ऐसे ही अरब लोगों में यह कहावत प्रचलित है कि 'मनुष्य की सब से अच्छी ख़ासियत अपनी ज़बान पर अधिकार रखना है।' मुसलमानों की पवित्र पुस्तक मिशातुलमासबोह' में लिखा है कि :-

"हजरत मुहम्मद ने कहा, 'क्या मैं ने तुम्हें वे बातें नहीं बताईं जो शरह में बताईं और मना की गई हैं ?' उनको उत्तर मिला, 'हां, ऐ खुदा के पैग़म्बर ! ' तब पैगम्बर साहब ने अपनी ज़बान पकड़ ली और कहा "इस पर कब्ज़ा करो—इसका निरोध करो।"

(See "The Useful Instruction" Vol III P.291)

कुरान शरीफ़ की निम्न आयतें भी वचनगुप्ति के महत्व को प्रकट करती हैं :–

अर्थात्–'मेरे सेवकों को मृदुभाषण करने को व्यस्त करो।'

'चुगलखोर और बुराई करने वाले पर शाप हो।'

'न एक दूसरे को बदनाम करो और न उपनामों से एक दूसरे को बुलाओ।'

इसी तरह बाइबिल में कहा है कि

'जो कोई अपने मुँह और ज़बान पर काबू रखता है वह अपनी आत्मा को तकलीफ़ से बचाता है।'

'अपनी ज़बान को बुराई से अलग रख और अपने ओठों को मृषावाद से।'

इसी तरह महात्मा गौतम बुद्ध ने कहा है कि :–

सब से अधिक आनन्द यही है, विशेष आभ्यन्तर दृष्टि और विद्या, आत्म-निग्रह और मृदुभाषण, एवं सर्व सुभाषित वाणी। बौद्धों के 'धम्मपद' में और भी ख़ूबी से वचन-गुप्ति की–वाणी को–उपयोगिता बतलाई है। यथा—

चाहे किसी के भाषण में हज़ार शब्द हों, पर वह सब शब्द व्यर्थ में एकत्रित किये गए हैं। वह एक वाक्य ही अच्छा जिससे सुनने वाले को तसल्ली मिले। चाहे एक गीत में हज़ार शब्द हों, पर वह सब व्यर्थ में गूंथे गए हैं। वह एक छन्द उत्तम है जो श्रोता को शांति दे। चाहे कोई एक सहस्र गाथा अलापे, वे सब व्यर्थ के वाद हैं। धर्म का एक श्लोक उनसे [illegible] है जो श्रोता को शान्त करता है। इस तरह प्रत्येक धर्म वचन-गुप्ति का महत्व दृष्टिगत है।

दूसरी मनोगुप्ति का पालन भी अहिंसा व्रत में सहायक है। मनोगुप्ति का भाव यही है कि मन के ऊपर अधिकार रक्खा जावे। यदि हम अपने मन पर अधिकार करना नहीं सीखेंगे तो अहिंसा धर्म का पालन करना भी मुश्किल होगा; क्योंकि यह प्राकृतिक सिद्ध है कि मन ही प्रत्येक कार्य को कराने में मूल कारण है। मन से ही मनुष्य उत्कृष्ट पद को प्राप्त कर सकता है। मन ही एक रूप में मानव व्यवहार का मूलकर्ता है। उस ही से व्यक्तिगत चारित्र की सृष्टि होती है। भागवत धर्म के "नारद-पञ्चरत्न" नामक ग्रन्थ में एक स्थल पर कहा है कि :—

"मानसं प्राणिनामेंव सर्व कर्मैक कारणम्।
मनोऽनुरूपं वाक्यं च वाक्येन प्रस्फुटं मनः॥

अर्थात्-प्राणियों के तमाम कर्मों का मूल एक मात्र मन ही है। मन के अनुरूप ही मनुष्य की वचन आदि प्रवृत्तियां होती हैं और इन्हीं प्रवृत्तियों के द्वारा मनका रूप प्रकट होता है।' इस ही धारणा को अँग्रेज कवि भी एक जगह बड़ी खूबी से प्रकट करता है जिस का भाव यही है कि यह मन की ही शक्ति है जो अच्छा और बुरा बनाती हैं। वही शक्ति व्यक्ति को दुखी या सुखी, अमीर वा गरीब बनाती है। क्योंकि जिसके पास बहुत कुछ है तब भी वह अधिक की वाञ्छा करके अपने को दुखी बनाता है और जिसके पास थोड़ा है वह फिर भी अधिक की वाञ्छा न करके दुःखी नहीं होता। इसलिये वही सुखी और विद्वान है। यहां सुख और दुःख मन की प्रवृत्ति पर अवलम्बित प्रकट है। मन की प्रवृत्ति से ही मनुष्य उन्नति और अवनति करता है। इस लिये म० गौतम बुद्ध उस ही मन की प्रशंसा करते हैं जो

जीवन की परिवर्तनशील कठिनाइयों में डांवाडोल नहीं होता। उसे न दुःख, न शोक, न कुछ और सताता है। यही एक आनन्द है।

मन को ही बाह्य प्रवृत्ति में मुख्य कारण समझ कर जैनाचार्यों ने जिस प्रकार सम्यग्दर्शन। सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप सुख मार्गमें सम्यग्दर्शन को प्रधानता दी है, उसी प्रकार पारसियों के धर्म-ग्रन्थों में भी मानसिक-विचारों को प्रमुख स्थान दिया है, जिनसे उनके निकट से भी मनो गुप्ति का महत्व प्रकट है। उनके 'अरद विराफ' (Arda Viraf 154, 189) में स्पष्ट लिखा है कि प्रथम पादुका शुभ-विचार, दूसरा शुभ-वचन और तीसरा शुभ-कर्म है। 'गन्गोशैयगन' (Gang-i-Shyigan-21) में कहा गया है कि एक व्यक्ति को बुराईके स्थान पर भलाई, पापके स्थान पर पुण्य कर्म, हानिके स्थान पर लाभ, अन्धकार के स्थान प्रकाश को ग्रहण करना चाहिए। 'अन्दर्जै अतर्पते मरसपन्द' (Audarz-i Atarpat-i Maraspandl) में लिखा है कि 'मेरे पुत्र अपने सर्व विचार अच्छाईके प्रति हों और तुम्हारे मनमें कोई बुरा विचार नहीं आना चाहिये, क्यों कि मनुष्य जीवन शास्वत नहीं है।' 'गन्गो शैयगन' (Gs 22) में फिर कहा कि 'एक व्यक्ति को अपनी भलाई अच्छे विचारों व अच्छे वाक्यों, अच्छी ज़बान और अच्छे कामों से करनी लाज़मी है। फिर इसी ग्रन्थ में (३२) लिखा है कि 'जो कोई अच्छे विचारों को अपने मन में स्थान देता है, अच्छी वाणी बोलता है और अच्छे काम करता है तो उसको आत्मा अपने इन शुभ विचारों-शुभ वाक्यों और शुभ कार्यों के कारण सर्वोत्तम गतिको प्राप्त होती है।' इन उद्धरणों से वचन-मन गुप्ति आदि की स्पष्ट पुष्टि होती है।

तीसरे ईर्या समिति का भी पालन यथाशक्ति करना अहिंसाव्रत साधन के लिए उचित है। सांसारिक कार्यों में व्यस्त होकर इधर उधर चलने में हमें सचेत रहना आवश्यक है। यदि ज़मीन की ओर देखकर नहीं चला जायगा तो पहिले तो वैसे स्वयं को चोट लगने, व ठोकर खाने का भय है, फिर दूसरे नन्हें जानवरों के पैरों तले कुचल जाने का भय है। इस लिए चलने फिरनेमें रास्ता देखकर चलना हर तरह लाभप्रद है। यह बात हम लोगों को जब हम बाल्यावस्था में पहिले ही पहिल पाठशाला में पहुंचते हैं तब ही बतलादी जाती है। इस का पालन करना हमारे लिये परमावश्यक है। इसका अभ्यास करने से हम अहिंसाव्रत का अच्छी तरहसे पालन कर सकेंगे।

चौथी आदाननिक्षेपणसमिति का भाव यही है किजो कोई चीज़ हम कहींरक्खें व उठावें उसको बहुत सावधानी और सँभालसे रक्खें और उठावें। इस व्यवहारसे पहिले तो स्वयं उस वस्तु के टूटने गिरने-बिगड़नेका कुछ भय नहीं रहेगा और फिर जीव हिंसा होने से बचेगी! बहुत दफे ऐसा देखा गया है कि असावधानी से कपड़े पहिन लेने पर भयङ्कर जन्तु-बिच्छू आदि की दंश पीड़ा लोगोंको सहन करनी पड़ती है ऐसे ही बाज़ीर दफे असावधानी से वस्तु-उठाने अथवा बग़ैर देखे जूता आदि पहिन लेने से सर्प-दंश आदि से प्राणियों को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़ते हैं। इस लिए स्वाभाविक रूप में इस नियम को आदत बना लेना प्रत्येक प्राणी के लिए हितकर और आवश्यक कार्य है।

पांचवे आलोकितपान भोजन नियम है। इसका पालन करना भी अहिंसाव्रतका परम साधन है। अपने खान पानको यदि होशियारी के साथ देखभाल कर हम ग्रहण नहीं करेंगे

तो इसमें आश्चर्य नहीं कि कभी प्राणों से हाथ धो बैठने की नौबत आजाय। ऐसी कई घटनायें स्वयं लेखक के देखने में आई हैं कि किसी व्यक्ति ने स्वयं अथवा दूसरे के हाथों से बग़ैर देखे भाले पानी पी लिया! पानी में पड़ा था बिच्छू-वह भी मुँह में पहुंचा, निकालते २ एक दो डंक मार दिया! मर्म स्थान में दंश लग गया। तमाम शरीर में ज़हर चढ़ गया! दवाई भी कुछ असर न कर सकी। प्राणान्त होगए। ऐसी ही घटनाएं खाद्यपदार्थ के सम्बन्ध में मिल सकती हैं। जुआं भोजन के साथ खाजाने से जलोदर रोग ग्रसित अनेकों फूहड़ स्त्रियों को देखा जा सकता है। ऐसी अवस्था में अपने ही हित के वास्ते हमें इस नियम का अभ्यास करना लाभप्रद है। इस प्रकार अहिंसाव्रत के सहायक साधन का दिग्दर्शन हम कर लेते हैं। परन्तु सहायक साधनों के साथ इस में बाधक साधन भी हैं। उनका भी दिग्दर्शन करलेना ज़रूरी है। इनको जैनाचार्यों ने अतीचार कहा है।

अहिंसाव्रत में बाधक साधन-अतीचार पांच बतलाए गए हैं। इनका बचाव रखना भी आवश्यक है; यद्यपि इनसे व्रतका पूर्ण घात नहीं होता, परन्तु उसमें कमी अवश्य आजाती है। श्री मद्उमास्वामी जी इन्हें इस प्रकार बतलाते हैं:-

"बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः।"

अर्थात्-बन्ध, वध, छेद, अतिभारारोपण और अन्नपान निरोध यह पांच बातें अहिंसाव्रत में दूषण रूप हैं। इन का खुलासा निम्न प्रकार है :-

(१) बन्ध से मतलब है कि किसी जानवर अथवा मनुष्य को क्रोध अथवा प्रमादवश रस्सी आदि से बांध के रख

छोड़ना। अहिंसाव्रत में इस व्यवहार से दूषण लगता है। बन्ध भी दो प्रकार है:—पहिला सार्थक जिसमें अपना कुछ प्रयोजन हो और दूसरा अनर्थक-जिसमें अपना कुछ प्रयोजन न हो। इन में से गृहस्थ केवल अनर्थक बंधका त्याग कर सकता है। उसे विना कारण—विना किसी निजी प्रयोजन के किसी जीव को नहीं बाँध रखना चाहिए। बन्ध का पूर्ण त्याग मुनिजन कर सकते हैं। तथापि सार्थक बन्धन में भी जानवर आदि को इस तरह बाँधना चाहिए जिससे वह आग लगने आदि भयानक समय पर अपनी रक्षा कर सकें। गर्ज़ यह कि दुर्भाव से किसी को बाँधना तो बाधक कारण हो सकता है; परन्तु अच्छे भाव से अपने लाभ के लिए किसी को बांधना अहिंसाव्रत में बाधक नहीं है। संसार कार्य में व्यस्त व्यक्ति प्रजा की रक्षा के निमित्त अथवा पिता अपनी सन्तान को शिक्षाके लिए यह दण्ड दे सकता है। इसमें उसके भाव भलाई के हैं। इस लिए वह दूषण उसको क्षम्य है।

किन्तु तोता, मैना आदि पक्षियों को बिना कारण बन्द कर रखना व शौक के लिए पिंजड़े में लिए फिरना ठीक नहीं है। यह क्रिया उन जीवों को कभी प्रिय नहीं है। इस लिए केवल मन बहलाव के लिए पशु पक्षियों को बन्द करके वृथा कष्ट देना मनुष्योचित नहीं है। इसी प्रकार किसी नौकर अथवा अपने आश्रित स्त्री आदि प्राणियों पर अनुचित दबाव डाल कर घर में बन्द रखना और उसको कष्ट पहुंचना भी अयोग्य है। बेशक अपने आश्रित स्त्री, विधवा, कन्या आदि को वह स्वतन्त्रता न देना चाहिए जिससे उनमें उद्दण्डता आ जावे। परन्तु उनको वह उतने परिमाण में अवश्य देना चाहिए जिस में उनका स्वास्थ्य ठीक रह सके और वे संसार में ज्ञान प्राप्त

कर सकें। तिस पर विधवाओं का घरमें बन्द रख कर उनके जीवन कल्याण में बाधक नहीं बनना चाहिए। प्रत्युत उनको स्वयं श्राविकाश्रमों में जाकर ज्ञानोपार्जन करनेके लिए उत्साहित करना चाहिए।

इस तरह अहिंसाव्रत धारीको अनुचित बन्धन का प्रयोग कदापि नहीं करना चाहिये और न दूसरों को ऐसा करने देना चाहिए जो प्राणियों को दुःख करहो। भारत में मनुष्यों के अतिरिक्त पशुओं के प्रति ज़्यादती न करने के लिये क़ानून है। इस Cruelty towards Animals Act द्वारा ऐसे निर्दई पुरुषों को काफी सज़ा दिलाई जा सकी है। इस धर्म प्राण देशमें हरग्राम में जीव दया सभा स्थापित होना आवश्यक है।

दूसरा वध-अतीचार है। इसके अर्थ किसी मनुष्य या पशु को दुर्भाव से कषाय अथवा प्रमाद वश बुरी तरह मारने के हैं। अपने आधीन जो पुरुष अथवा पशु हों उन को निर्दयता पूर्वक नहीं मारना चाहिए।

हां, यदि पुत्र, शिष्य आदि को शुभ शिक्षा देनेके लिए उचित मात्रा में इसका प्रयोग किया जाय तो वह हानिप्रद नहीं है, क्योंकि वहां पर भाव बुरे नहीं हैं। वहां तो भाव अपने आधीन प्राणी की भलाई के हैं। इस लिए वह उचित हदतक क्षम्य हैं। वध के अर्थ यद्यपि प्राणघात के हैं, परन्तु गृहस्थ संकल्प करके तो किसी को मार नहीं सका, इस लिए उसका वध मारन-ताड़न रूपमें ही समझा जा सका है। अतएव अपने आधीनस्थ शिष्य, दास, घोड़ा, गाय, भैंस आदि जो प्राणी हो उसको दुर्भावों वश कभी नहीं मारना चाहिए। ऐसा करने से अहिंसाव्रत में दूषण लगता है। परन्तु आजकल ऐसे

कार्यों को हिंसावृत्ति में नहीं गिना जाता है। पर-पीड़िन वो आज कलका व्यवहार सा बन रहा है परन्तु इस व्यवहार द्वारा सिवाय दुःख के कोई सुख प्राप्त नहीं होसक्ता। इसलिए परपीड़ा से परहेज़ करना हितकर है। समस्त जीवों के साथ समता और मैत्रीभाव रखना ही श्रेयस्कर है। जैसी पीड़ा व जैसी यातना हमको होनी है वैसी ही दूसरे को होती है। इस लिये ग्लानि, अरति, खेद, क्रोध आदि को हृदय में स्थान नहीं देना चाहिए। सब पर दया और करुणा का भाव रखना ही श्रेष्ठ है।

तीसरा अतीचार छेद है। नाक, कान आदि शरीर के अवयवों को काटने को छेद कहते हैं। परन्तु यह कृत्य अतीचार रूप जबही है जब बुरे परिणामों से किया जाय। निर्दयता से किसी के हाथ-पैर आदि काट लेना ही यह दूषण है। दूसरे की भलाई के भावों से यदि यह कर्म किये जायं तो वह दूषण नहीं है। जैसे यदि डाक्टर रोगी के स्वास्थ्य के लिए पैर आदि काट देता अथवा फोड़ा-फुन्सी चीर देता है तो वह हिंसा का पात्र नहीं है। वह इस दोष से मुक्त है।

परन्तु शरीर छेदन खेल कौतूहल के वास्ते करना अथवा अन्यजीव की स्वाधीनता छीन कर उसको बेबस; निर्बल कर के अपने आधीन करने और स्वार्थ साधन के वास्ते करना घोर दूषण है। खासा अन्याय है। कबूतरों और अन्य पक्षियों के पर कतर या नोच डालना, जिसमें वे पालतू रहें और उड़ कर कहीं अन्यत्र चले न जावें, मुर्गी और बटेरों की चोंच और नाखून चाकू से तीक्ष्ण करके उनको आपस में लड़वाना है। उनकी हार जीत पर जुआ खेलना और कुत्तों एवं घोड़ों की दुम कटवाना, जिस में संक्लेश और पीड़ा के अतिरिक्त वह

बेचारे पूंछ हिलाकर अपनी देह की मक्खी भी नहीं उड़ा सकते। यह सब घोर पाप है। ऊँट और बैल को अपने वस में लाने और उस से काम लेने के वास्ते उसकी नाक छेदकर रस्सी डाल देना। जिस से वह बे-बसहोकर हल और गाड़ी में जुतजाते एवं घोड़े और बैलको पराक्रमहीन बनानेके आशय से उनके अण्डकोष निकाल कर उनको पुंसत्वहीन कर देना घोर वेदना के कार्य हैं। इन से अहिंसाव्रत में दूषण आता है। किसी २ देश में बालकों और स्त्रियों के उपांगों को बुरी तरह छेदने का रिवाज है। बच्चा बुरी तरह चिल्लाता है परन्तु तब भी उनके कान आदि जबरदस्ती छेद दिये जाते हैं। और बाजी बाजी दफे घाव होजाने पर उनको बहुत तकलीफ उठानी पड़ती है। स्त्रियों को रिवाज के लिए मजबूरन एक भारी सी नथ पहिन कर तकलीफ उठानी पड़ती है। भारी अज्ञान से कहीं २ छेदन क्रिया धर्मका अङ्ग माना जाता है। जैसे कोई साधू कानों को छिदवाकर बड़े मोटे कांच के बाले पहनते हैं। कोई जगन्नाथ जी की तपती हुई लोहे की छाप भुजा पर लगवा कर अपने को कृत कृत्य मानता है। कोई जगन्नाथ जी के रथ के नीचे दबजाने से ही पुण्य संचय समझता है। काशीकरौत से शिरोच्छेदन की धार्मिक रीति प्रसिद्ध है। कहीं साधु एवं स्त्रियों की गुह्य इन्द्रियों में कड़े डाले जाते हैं। कोई लोहे की कीलों पर सोने और बैठने से, एक हाथ ऊँचा उठाकर सुखा देने से, बराबर खड़े रहने से, चाकू सूजे आदि से शरीर का रुधिर निकालने से तपस्या और योग साधन समझते हैं। परन्तु यह सब कोरा ढोंग है। शरीर को कष्ट देना है। अणुव्रती श्रावक को इन बातों से दूर रहना आवश्यक है। उसे उक्त बातों से यथाशक्ति परहेज रखना चाहिए।

चौथा अतीचार अतिभारारोपण है इसके अर्थ लापरवाई अथवा क्रोध के आवेश में शक्ति से अधिक बोझ लाद देने के हैं। यहां भी बुरे भावों को प्रधानता है। वास्तव में शुभ भावों से कोई भी बैल घोड़ा आदि पशु अथवा दास-दासीआदि पर उनका शक्ति से अधिक बोझा लाद ही नहीं सकता है। परन्तु आजकल यह भी एक सामान्य दोष हो रहा है जो अभ्यास के कारण दोष नहीं मालूम पड़ता। हमने यह कभी विचार नहीं किया है कि पशु के ऊपर कितना भार लादना ठीक है। "एक पुरानी कथा है कि मुग़ल सम्राट् जहाँगीर के समय में एक घण्टा राज्यभवन में लटका रहता था, उस घण्टे से एक रस्सा बँधा था, जिसका सिरा बाहर दरवाजे पर लगा रहता था जिस किसी को कुछ फ़र्याद करनी होती थी तो वह रस्सी खेंचता था, जिस से घण्टा बजने लगता था। और फ़र्यादी की फ़र्याद की जांच हो जाती थी। एक अवसर पर घण्टी बजने पर देखा गया कि एक बैल उस घण्टे की रस्सी से अपना सिर रगड़ रहा था। वह बैल घायल था और उस पर बोझ अधिक लदा हुआ था। उस दिन से यह नियम कर दिया गया कि ढाई मन से अधिक बोझ बैल पर न लादा जावे।" आजकल हमारे लिये बहुधा नियम बनादिए गए हैं कियक्के, तांगे, गाड़ी पर परिमित संख्या से अधिक सवारी न हो। और भार ढोने वाले, टट्टू, बैल आदि पर परिमित भार से अधिक न लादा जावे। किन्तु हम अपने स्वार्थवश ऐसा नियम होते हुए भी किराया चलाने वाले को लालच देकर परिमाण से अधिक भार लाद देते हैं, और बिचारे मूक पशु की प्राण पीड़ा का कुछ ध्यान नहीं करते हैं। यह अहिंसा व्रत के प्रतिकूल क्रिया है। ऐसे स्वार्थ को फौरन छोड़ देना चाहिये जो दूसरों को अधिक दुःखकर हो।

पांचवां अतीचार अन्न पान निरोध है। कषायों के आधीन होकर किसी जीवित प्राणी के खाने पीने का निरोध करदेना ही यह दूषण है। जिस समय किसी प्राणी को तीव्र भूख और प्यास लगी हो उस समय यदि उसे खान-पान न मिले तो संशय नहीं कि उसके प्राणान्त हो जावें। इसलिये अपराध करने पर भी अन्न पान निरोध करना ठीक नहीं है। अपराधी को इस दण्ड का भय भले ही दिया जावे, परन्तु भूख के समय उसे भोजन और प्यास के समय पानी अवश्य देना चाहिये। हां, ज्वरादि में अथवा व्रत पालन में इनका निरोध दूषणरूप नहीं है। वैसे साधारणतया अपने आश्रित पशु, पक्षी दासी, बच्चे, स्त्री आदि को उचित समय पर योग्य अन्न-पान न देना दूषण ही है। अपने स्वार्थ मन बहलाव अथवा प्रमाद के कारण यह दूषण अहिंसाव्रत में लगाना एक अणुव्रती के लिये शोभनीय नहीं है। अपने आश्रित प्राणियों को किसी तरह भी खाने पीने का कष्ट नहीं देना ही वास्तविक पुण्य का कारण है। बहुधा तमाशा दिखाने वाले और सरकस वाले अपने रुपये कमाने की धुन में अपने आश्रित जबर्दस्ती बन्द किये हुए पशुओं के खान पान की फिकर नहीं रखते हैं, सो ठीक नहीं है। इन तमाशों में जानेवाले मनुष्य भी इस पाप-क्रिया में सम्मिलित हो जाते हैं। चिड़ीमार व्याध पैसा वसूल करने के लिए पक्षियों को कष्ट देते हैं सो उन व्याधों को रुपया देकर उनसे वह पक्षी छुडाने में दया धर्म का पालन नहीं है; क्योंकि यह लोग जान बूझ कर रुपये के लालच से पक्षियों को पकड़ कर कष्ट देते हैं। उन्हें समझा कर अथवा न्यायोचित व्यवस्था द्वारा यह कर्म उन से छुड़ा देना ही एक अणुव्रती का कर्तव्य है।

आजकल बहुधा गाय पालने की तो प्रथा ही उठ गई है। इतना आलसीपन आगया है कि गौपालन में असुविधा मालूम होती है। यद्यपि बाज़ार के अशुद्ध दूध की दिक्क़त सहन करते हैं और अपने एवं अपने बच्चों के स्वास्थ्य ख़राब करते हैं; परन्तु गाय भैंस को पालना हमारे लिए कठिन है। साथ ही बाज़ार का दूध न लेकर ग्वाला से दूध लेने में भी इसी अतीचार का दूषण आता है। क्योंकि ग्वाला पैसे वसूल करने के लिए ज़्यादा से ज़्यादा दूध दूहलेता है और बछड़े के लिए कुछ भी नहीं अथवा बहुत कम छोड़ता है। इस प्रकार बछड़े का दुग्धपान निरोध करके व कराके हम उसको दुर्बल और दुखी बनाते हैं और अहिंसाणुव्रत के इस पाँचवें अतीचार का बंध करते हैं। इस लिए हमारा धर्म स्पष्ट है कि अपने घर में गाय पालें। बछड़े को यथोचित दूध पिलावें और शेष दूध अपने काम के वास्ते लेलें। गोमाता की सेवा करने में लज्जा न माननी चाहिये। और यदि हम स्वतः स्त्री-पुरुष बच्चे सब घर के लोग गोमाता की सेवा को अपना गृहस्थ धर्म समझ कर उस में तत्पर हो जावें तो गो-पालन में कोई असुविधा न रहे; जो नोकर चाकरों की कमी और हरामख़ोरी के कारण होती है। और फिर ऐसा शुद्ध स्वच्छ, सात्त्विक भोजन मिले कि साधु ब्रह्मचारियों को भी आहार देने में सुविधा रहे और वास्तविक पुण्योपार्जन हो।"

इस प्रकार इन पाँचों दोषों को बचाकर यदि अहिंसा धर्म पालन किया जाय तो जीवन के दोषों से श्रावक बच सकता है। उसका जीवन सुन्दर और सुखरूप से बीत सकता है। परन्तु इस अहिंसा धर्म के पालन के लिए चाहिये वीर्यता, शौर्यता, बल और पराक्रम। इनके बिना कमज़ोर और भीरु आत्मा

इसका पालन कभी नहीं कर सकती है। असहयोग के अभावमें जब लोगों के हृदयों से डर और भय, क्रोध और द्वेष निकल गए थे तो वे अहिंसा का पालन उत्तम रीति से करने लगे थे। परन्तु हिंसावृत्ति को स्थान देने से वहीं असहयोग अन्त में असफल हुआ। अतएव वास्तव में वस्तुतः अहिंसा धर्म की अवहेलना से ही भारत का पतन हुआ है। आज हमारे सामने आततायी जानवरों को सताते रहते हैं-कोई पक्षियों को ढेलों से मारता है-कोई चूहों और मेंढकों को पत्थरों से हलाक करता है-कोई बेंतों से मक्खियों को मारता है-परन्तु हम पत्थर की मूर्ति बने देखते रहते हैं! हज़ारों प्रकार के अत्याचार हमारी आंखों के आगाड़ी होते रहते हैं, परन्तु अहिंसा वृत्ति के अभाव में उनका प्रतिकार होना अशक्य हो रहा है। इसलिए इस धर्म के पालन के लिए हमें सबल, निर्भीक और साहसवान पराक्रमशील बनना चाहिये।

यहां पर शायद आप यह कहें कि यह आततायी लोग जो ऐसे अत्याचार करते हैं सो क्या उनका धर्म उनको ऐसे व्यवहार की आज्ञा देता है? भाइयो, स्वार्थ में धर्म-अधर्म कौन देखता है। वहां तो अपना सेर सवासेर होता है। धर्म वह नहीं है जो दूसरेके दिल दुखाने को अच्छा कहता हो। यहां पर हम देख आए हैं कि सब धर्म जाहिरा आपस में प्रेम के साथ रहना सिखलाते हैं। फिर भी यहां पर सब धर्मों के शास्त्रों के उद्धरणों से आप देख लीजिए कि उपरोक्त की भांति कोई भी धर्म जानवरों को मारने अथवा सताने की आज्ञा नहीं देता है। यद्यपि यह ठीक है कि कतिपय नवजात धर्मों में हिंसक पशुओं के प्रति यह लागू नहीं रक्खा है। जैनधर्म के अतिरिक्त कोई भी ऐसा धर्म नहीं दिखता है जिसके शास्त्र में अहिंसा के विरुद्ध

कोई उपदेश न मिलता हो। अहिंसा का पूर्ण वैज्ञानिक वर्णन जैनशास्त्रोंमें ही है, जैसे ऊपर प्रकट है। लेकिन मोटेरूपमें अहिंसा सर्वमतों में स्वीकृत है। अस्तु पहिले ही मुसलमानों के दीन-इस्लाम को लेलीजिए। उनके कुरानशरीफ में लिखा है कि (देखो सूरः अंम्बियाड हेन) जब हमारा रब (खुदा) रहमानुह रहीम (बहुत ही बड़ा दयालु) है, हमारे रसूल रहमतुलआल मीन हैं तो अब हमको भी सिवाय रहम (दया) करम (कृपा) व अफ़ू (क्षमा) व सफह (शौच) के कुछ न चाहिये, शायद अल्लाह हमें बख्श दे।' फिर यही बात 'आकबतुल मुज़कोन' (पृष्ठ १७३-७५) में यों बतलाई गई है: 'जो कोई लोगों पर रहम नहीं करता है उस पर अल्लाह रहम नहीं करेगा।' अब मूसा का वाक्य है कि 'तुम्हारा ईमान दुरुस्त नहीं है जब तक रहम न करो। इब्न अमरू की हदीस में फर्माया है कि 'रहमत (दया) करने वालों पर रहमान (खुदा) रहमत करता है, तुम रहम करो उन पर जो ज़मीन में हैं, तुम पर वह रहमत करेगा जो आसमान में है।' हज़रत असकर बुखारी ने कहा है कि 'एक आदमी ने कहा कि मझको बकरी ज़िबह (वध) करने पर रहम आता है, तो आपने फरमाया कि अगर तू उस पर रहम करेगा तो अल्लाह तुझपर रहम करेगा' हज़रत निसाई ने कहा है कि 'किसी जानदार को मारना चिंउटी हो या चिड़िया या और कोई जानवर दाखिल ज़ुल्म है-बिल्कुल ख़िलाफ रहम है।' हदीस-इस-उमर में एक औरतका किस्सा है कि उसने एक बिल्ली को भूखा प्यासा बांध रक्खा था वह जहन्नुम में गई। अपूहरीपकी रवायत है कि उसने प्यासे कुत्ते को कुए में से पानी भर कर पिलाया था वह जन्नत (स्वर्ग) में गया। अबूदाऊद ने बाहम (एक दूसरे को) भड़काने

लड़ानेको मना किया है जैसे मुर्ग़ लड़ाना, मेढ़ों, हाथियों आदि की लड़ाई कराना। कई हदीसों में यह भी आया है कि लोग ग़ुलामों से ताक़त से ज़्यादा काम न लें बल्कि अपनी तरह उनको खिलावें-पिलावें। एक रोज हज़रत ज़ैनुलआबदीन ने एक ऊँट के मारने के लिए कोड़ा उठाया-थोड़ी देर के बाद कुछ ख़याल करके कोड़े को हाथ से फेंक दिया और कहा "मारूँ इस बेज़बान को कि मुझे क़सासका ख़ौफ़ है।" नवाब अहमदयारख़ां साहब फ़रमाते हैं:-

"कहीं बेदर्द ताऊस गुलिस्तां ज़िबह करवाये।
बला ले तेरी अगर एक बेज़बान के जी पै बन आये॥
हुई तफ़रीह जब बेकीना ताइर तूने लड़वाये।
तेरे पापोश से लोहू बहे या चोंच फट जाये॥
तेरी तफ़रीह इक़तावार का अच्छा तमाशा है।
वह ज़ख़मी हैं तेरे लब पर थोहो हो है अहाहा है॥
फिरे आज़ाद तू और क़ैद मुश्ताने हवा होवें।
पड़े पिंजरों के अन्दर बेकसों के दम अफ़ा होवें॥
वह मक़रूद इस सितम से हैं वह तेरे ग़म रवा होवें।
छपर अटपर तू जब लेटे तो वह नुग़मा सरा होवें॥
तेरे नज़दीक खुश नुग़मा है नाला बेज़बानों का।
तेरे दिल में नहीं कुछ दर्द इन आफ़तज़दा जानों का॥
तुझे मालूम है किस वास्ते तू बाग़ में आया।
वह क्या मतलब था जिसके वास्ते सुलतांने भिजवाया?"

'हज़रत ज़ौक़ उर्दू के एक मशहूर शायर (कवि) हुए हैं। किसी को रोता देखते थे तो उनको बहुत दुःख होता था, उम्र भर उन्होंने कभी अपने हाथ से पशुवध नहीं किया और जब कभी रास्ते में मुर्ग़ी, बटेर आदि वध होते देखते थे तो तत्काल मुंह फेर लेते थे। उनको दयालुपने और परमात्मा से भय कर

ने की बहुत सी कथाएं हैं। एक दिन उनके मशहूर शिष्य हाफिज़ वीरान और हज़रत जौक दोनों चले जारहे थे कि एक वर्र हज़रत जोक की गर्दन पर आ बैठी और डंक मारा जिसके दर्द से हज़रत तिलमिला गए लेकिन वर्र को नहीं मारा और उड़ा दिया। हाफिज़ वीरान ने पूछा कि हज़रत आपने इसको मारा क्यों नहीं। आपने उत्तर दिया कि मुझे भी ख़याल आया था परन्तु थोड़ी सी तकलीफ के लिए उसकी प्यारी जान लेना उचित न समझा और यह शेर प ाः—

'न छोड़ी हमने सलामत रवी की चाल।
चले जो राह में चिउँटी को भी संभाल चले॥'

'एक दिन इसी प्रकार घर में सांप निकल आया लोग मारने दौड़े, लेकिन आपने मना किया और जब वह बिल में चला गया तो भली भांति बिल को बन्द कर दिया। हाफ़िज वीरान पास बैठे थे। उनको बड़ा आश्चर्य हुआ और कहा कि आपने ग़ज़ब किया जो मूज़ी (काल) को न मारा। आपने उत्तर दिया कि किसी जानदार को मारना उचित नहीं है क्यों कि उसके भी प्यारी जान है।' शेख शिवलीकी कथा भी दया का पाठ पढ़ाती हैः—

"यके सीरते नेक मरदां शनौ, अगर नेकमरदी व पाकी जरौ॥
शिवली ज़े हान्त गुन्दुम फरोश, बदेह बुर्द अम्बर गन्दुम बदोश।
निगह कर्द मोरे दरां गल्लदीद, कि सरगश्ता अज़ हरतर मीद्र वीद।
ज़े रहमत बरो शब नयारस्त खुफ्त, बमावाय खुद बाज़ आवुर्द वगुफ्त॥
मुरव्वत न बाशद कि ईं मोररेश, परागंदः गरदानम अज़ जाय ख़्वेश।
दरूँ परागंदगाँ ज़मादार, कि अमैयत बाशद अज़रोज़गार॥
चे खुश गुफ्त फिरदोसिये पाकज़ाद, कि रहमत बरां तुरबते पाकबाद।
मेयाज़ार मोरे कि दाना कशअस्त, कि जां दारद व जां शीरीं खुशअस्त॥
सियाह अन्दरू बाशद् वसंगदिल, कि ख्वाहद कि मोरे शवद तंगदिल।

मज़न बरसरे नातवाँ दस्तज़ोर, कि रोज़े बपायश दर उफ़्तीचे मोर ॥
न बख़्शीद बरहाले परवान शमा, निगाह कुन कि चूं सोख्तदर पेश जमा।
गिरफ्तम जे नातवां तर बसेस्त, तवाना तर अज तो हम आखिर कसेस्त ॥"

अर्थात्–यदि तू भला मनुष्य व खुशनसीब है तो अच्छे लोगों की एक कहानी सुन कि हज़रत शबली गेहूं वाले की दूकान से गेहूं ख़रीद कर गांव को ले गये। एक चिउँटी उस अन्न में देखी जो चारों ओर हैरान व परेशान फिर रही थी। उस पर तरस खाकर वह रात भर जागते रहे और प्रातःकाल को उसको उसके घर पहुंचा दिया और कहा इस कमज़ोर चिउँटी को उसकी जगह से दूर रखना मुरव्वत की बात नहीं है। परेशान लोगों को इतमीनान से रख ताकि तू भी ज़मानेमें इतमीनान से रहे। पवित्र आदतवाले फ़िरदोसी कवि ने क्या अच्छा कहा है–किसी चिउँटी को मत सताओ कि वह दाना चुगती है और जान रखती है और उसको वह बहुत प्यारी है। जो चाहता है कि चिउँटी को तकलीफ पहुंचे वह काला हृदयवाला और निर्दयी है। कमजोरों को मत सता क्यों कि एक दिन तूभी चिउँटी के समान कमज़ोर होगा। क्या देखता नहीं कि पतिंगा पर दया न करने के कारण शमा (मोमबत्ती) महफ़िल में क्यों कर जलती है। मैंने माना कि तुझ से अधिक कमज़ोर अधिक हैं परन्तु जानले कि आख़िरकार तुझ से भी ताक़तवर कोई है।" (अहिंसा से)

इस्लाम के विद्वान् नवाब अहमदखां साहब कहते हैं कि 'किसी जानवर पर हद्दसे अधिक बोझ न लादो। उससे बहुत देर तक या थकावट व बीमारी की हालत में काम न लो। जानवरों को आपस में मत लड़ाओ। उनको उलटी गरदन कर मत उठाओ। शक्ति से अधिक काम मत लो। और उनके

खाने पीने सर्दी गर्मी के बचाव का ऐसा प्रबन्ध रक्खो जैसा अपने सम्बन्धियों का रखते हो अपनी दिल्लगी के लिए न तो निशानाबाज़ी करो, न किसी जानवर को पींजड़े आदि में बन्द करो। जानवरों के अंग मत काटो।' इन मुसलमानी बुज़ुर्गों व ग्रन्थों के वाक्यों से उनके धर्म का मन्तव्य दयापूर्ण ही मिलता है। मुसलमान भाइयों को ध्यान देना आवश्यक है। इसी प्रकार ईसाईमत का हाल है। हज़रत ईसा एक जगह फरमाते हैं कि "तुम अपने दुश्मनों से प्यार करो-जो तुम से कीना रक्खें उनका भला करो और जो तुम्हें दुःख दें और सतावें उनके लिए दुआ मांगो। मुबारक हैं वह जो रहम दिल हैं। क्योंकि वह ज़मीन के वारिस होंगे।" फिर मैका की किताब बाब ३ आयत २ से ५ तकमें लिखा है "कि जो नेकीसे भागता है और बदी से महोब्बत करता है-जो जानवरों का चमड़ा उन पर से उतारता है और उनका गोश्त उनकी हड्डियों पर से और जो उसके प्राणियों का मांस खाते हैं और उन का चमड़ा उन पर से उतारते हैं और उन की हड्डियों के टुकड़े २ करते हैं और उन्हें अलहिदा कर देते हैं-जब वह खुदा के सामने होवेंगे तब वह उनकी न सुनेगा और अपना मुंह छुपालेगा, क्यों कि इन्हों ने अपने कामों को ख़राब किया है।" अँग्रेज़ी कवि शेक्सपियर अपने प्रसिद्ध नाटक 'मरचेन्ट ऑफ़ वेनिस' में लिखता है कि:-

"जैसे ऊपर से मेघों के द्वारा जलवृष्टि होती है और संसार के सन्ताप की शांति होती है उसी प्रकार देवलोक से दया की वृष्टि होती है। जो दया करे और जिस पर दया की जावे-इन दोनों के लिए दया कल्याणकारी है। यह सबसे बड़े शक्तिमान में सब से बड़ी शक्ति है।" प्रसिद्ध विद्वान्

रस्किन (Ruskin) भी ऐसा ही कहते हैं जिसका भाव भी यही है किः—

'प्रत्येक पशु में मानुषिकता के चिन्ह विद्यमान हैं। इस लिए कम से कम भाई बन्धुता के लिहाज़ से हमें उनसे मित्रता का वर्ताव करना चाहिए।'

दूसरा ईसाई विद्वान् राल्फ वाल्डो ट्राइन लिखता हैः—

'यदि हम अपने मतलब के सिवाय पशुओं की भलाई को चुकाने का विचार करें-उन के अपाहिज होने पर उन्हें अलग न करें-सदा अपने स्वार्थ को सामने न रक्खें और उनकी उपेक्षा न करें तथा उनकी देखभाल एवं खानपान का प्रबन्ध रक्खें और उन मूक पशुओंको शिक्षा अपनी संतान को भांति दें तो हम अद्भुत विचार शक्ति को पायें।

इसी तरह पारसियों के धर्म में The Zoroastrian Ethics में कहा गया है, जिसका भाव यह है कि—

"अर्द विराफ नामक ग्रंथ में उन लोगों के प्रति कठिन दण्ड का विधान लिखा है जिन्होंने किसी भी जीवित प्राणी को मारा अथवा दुःख दिया हो। अर्दविराफ ने उन स्त्रियों की आत्माओं को देखा जिनकी छातियों पर गर्म लोहा रक्खा गया था। यह उन स्त्रियों की आत्मायें थीं जिन्होंने अपने बालकों को दूध नहीं पिलाया, बल्कि उनको नष्ट कर दिया। उन दुष्ट पुरुषों और स्त्रियों की आत्माओं को विष्टा खानी पड़ी थी जिन्होंने पानीकी मच्छी आदि मारीं और अहूरमज़दा के अन्य प्राणियों को कष्ट दिया एवं नष्ट किया था। जिसने एक धर्मात्मा के प्राण लिये उस व्यक्ति को क्रूर मौत के पल्ले पड़ना पड़ा। उन दुष्ट मनुष्यों के जिन्होंने चौपाए भेड़ आदि को अनुचित रीति से मारा था, अंग उपांग नष्ट

किए गए। जिन्होंने पशुओं को अधिक काम और कम भोजन दिया उन्हें घोर दण्ड दिए गए। एक स्त्री का शरीर नोचा गया क्योंकि उसने लोगों को ज़हर और अफ़ीम खाने को दी। खाने को न देना मृत्यु दण्ड तुल्य अपराध है।

इस प्रकार पारसियों के धर्म में भी प्रारम्भ में वर्णित पांच बातों का निषेध है। बौद्धों के यहां भी यही बात है। उनके 'धर्मपद' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि 'जो जन्तुओंको सताता है वह अपने किये को पाता है। वह 'आर्य' नहीं है जो जीवों को सताता है। प्रत्येक जीवित प्राणी पर दया रखने से मनुष्य आर्य होता है।

हिन्दू शास्त्र भी उक्त बातों का निषेध करते हैं यह पूर्व के उद्धरणों से भली भाँति प्रकट है। फिर भी मनुस्मृति का निम्न श्लोक इसकी पुष्टि में उपस्थित किया जा सकता है:—

> "यो बन्धनवध क्लेशान् प्राणिनां न च कीर्षति।
> स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते॥"

अर्थात्—"जो पुरुष प्राणियों को वध, वन्धनादिक दुःख नहीं देता, सबके हितकी कामना रखने वाला है, वह पुरुष अत्यन्त सुख को प्राप्त होता है।" इसी प्रकार सर्व प्राणियों के प्रति प्रेम भाव को रखने के लिए सिख धर्म के प्रणेता गुरु नानक साहब शिक्षा देते हैं:—

'दयारूपी कपास से प्रेमरूपी धागा कात लो; उस में सत्य और त्याग की गांठें तयार करलो; अपने मन को इस धागे में रखदो; वह टूटा नहीं है—न विगड़ा है—न जला है न खुआ है। धन्य है उनको जिन्होंने इस प्रेमरूपी धागे को धारण किया है।'

अहिंसा प्रेमी को अहिंसाव्रतको पालनेके लिये निम्न बातों

का ध्यान रखना भी आवश्यक बतलाया गया है। इनका भी उसे पूर्ण ध्यान रखना आवश्यक है। आचार्य कहते हैं कि:—

"भेषजातिथिमन्त्रादिनिमित्तेनापि नांगिनः ।
प्रथमाणुव्रताशक्तेर्हिंसनीयाः कदाचन ॥ ८६७ ॥"

—श्री सुभाषित रत्न संदोह

अर्थात्—प्रथम अहिंसाणुव्रत के पालने वालोंको उचित है कि दवाई, अतिथि सत्कार (मिहमानों की दावत) तथा मंत्र वगैरह के लिए भी त्रस-चलते फिरते-प्राणियों का घात कभी न करे। वास्तव में जो अपने तईं अपने आप हिंसा करने का त्याग कर चुका है, वह किस तरह दूसरे के लिये अथवा क्षणिक जीवन के लिए जीवित प्राणियों का जानबूझ कर वध करेगा ? उसका कोमल हृदय कभी भी हिंसा करने की गवाही नहीं देगा। वह भीतर से झट बोल उठेगा कि:—

"अतिथि जनों के हेत नहिं, जीवघात में दोष !
क्या यह अहिंसा धर्म है, लखो दया के कोष ?"

इसके अतिरिक्त कतिपय धर्मों में हिंसक अथवा विषधर प्राणियों को मार डालने का विधान है। वहां सिर्फ अपनी स्वार्थ बुद्धि को लक्ष्य कर ऐसा अयथार्थ उपदेश दिया गया है। यदि वस्तु स्थिति रूप में देखा जाय तो अहिंसा धर्म का उपदेश देने वाला ग्रन्थ अथवा धर्म कभी भी इस प्रकार के हिंसोपकारक कार्य को आज्ञा नहीं दे सक्ता है। ज़रा बिच्छू सांप आदि विषधर अथवा शेर आदि हिंसक जानवरों की दैनिक चर्या की ओर ध्यान दीजिए। यह प्राणी कभी भी जानबूझ कर किसी को नहीं सताते हैं। परन्तु यह इनके लिए स्वाभाविक है कि यदि दबाए या और किसी तरह से सताए जावें तो ख्वामख्वाह अपने डङ्क को अथवा रक्षा के

उपाय को काम में लाते। वैसे वे कदापि भी मनुष्य के प्राणों पर आघात नहीं करते। तिस पर वह यह नहीं जानते कि मेरे डङ्क मारने से किसी को तकलीफ पहुंचेगी। डङ्क मारना उनके लिए एक स्वभाव सा है और वह लकड़ी-पत्थर-चाहे जो चीज़ हो जो उनके देह से छुएगी वह डङ्क मारते हैं। इनमें उनका कोई दोष नहीं। न वह मारे जाने के क़ाबिल हैं। अनायास तो वे किसी को सताते भी नहीं। जैन मुनि आचार्य शान्तिसागर जी एक वार सामायिक कर रहे थे कि एक भयानक विकराल काला नाग उनके ऊपर आ झपटा और उनके शरीर से जा लिपटा! वे तनिक भी विचलित नहीं हुए। नाग थोड़ी देर तक आनन्द से उनके शरीर से लिपटा हुआ केलि करता रहा। और फिर जिधर से आया उधर को चला गया! यह भी अंग्रेज़ी विज्ञ पण्डितों से छिपा नहीं होगा कि एक अंग्रेज़ ने बंगाल के घने जंगलों में से एक खूंखार शेरनी को अपना पालतू कुत्ता सदृश वना लिया था। शेरनी को गहरा ज़ख्म था। अंग्रेज़ साहब शिकार खेलते वहीं पहुंचे-गोली मारने के स्थान पर उसकी मलहम-पट्टी करने लगे। आठ रोज़ तक वराबर यही ढंग रहा। शेरनी उसी जगह पर इन्तज़ार में बैठी मिलती। आख़िर जब यह उस जंगल से चलने लगे तो वह भी उनके पीछे होली और जैसे पालतू कुत्ता रहता है-उसी तरह रहती थी। किसी को भी दुःख नहीं पहुंचाती थी। जब अंग्रेज़ साहब विलायत जाने लगे तब उसको भी जहाज़ पर ले गए, परन्तु वह रास्ते में ही मर गई। ऐसे ही दीवान अमरचन्द जी को एक बार जयपुर के राजा ने पशु रक्षक की ग़ैर हाज़िरी में कहा कि राज्य के शेरों को जाकर उनका खाना उनको दिलवा आओ! राजाज्ञा टल नहीं सकती थी

और अपना अहिंसाव्रत भी छूट नहीं सकता था। शेर जैसे हिंसक जानवरों को तृप्ति करना कठिन था। परन्तु अपने आत्मविश्वास के बल दीवानजी जलेबी आदि बहुतसा मिष्ठान्न ले गये। शेर भूखा इधर उधर कटहरे में फिर रहा था। इन्होंने कटहरा खोलते हुए अपने अहिंसाव्रत को बतलाते हुए शेर से कहा कि अब तुम चाहे इस मिष्ठान्न पर संतुष्टि करो और चाहे मुझे खालो! कटहरे के किवाड़ खोल दिये! आश्चर्य कि शेर शान्त था। वह चुपचाप मिष्टान्न खाने लगा सारांश यह कि इन घटनाओं से स्पष्ट प्रमाणित होजाता है कि यह पशु भी सहसा मनुष्य के घातक नहीं हैं। इन पर अत्याचार किये जायँगे अथवा भूख की बाधा से यह पागल होंगे तब ही मनुष्य पर आक्रमण करेंगे! इसी लिए इनको वृथा मारना उचित नहीं है। इस कृत्य से कभी पुण्य बंध नहीं हो सक्ता। आचार्य यही कहते हैं:-

"बहुसत्त्व घातितोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम्।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः ॥ ८४ ॥"

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

अर्थात्-"कोई २ निर्दयी तो सांप बिच्छू आदि हिंसक जीवों के मारने को ही पुण्य समझते हैं, क्योंकि इनको मारकर हम अनेक जीवों की रक्षा कर सकेंगे, इसलिये हमको लोग शाबासी देंगे और पुण्य होगा। उन्हें सोचना चाहिये कि खून से भरा हुआ कपड़ा खून से ही कभी साफ नहीं होता, बल्कि साफ जल के धोने से होता है। इसी प्रकार उनको दया परिणाम से पुण्य कमाना चाहिये। अगर वे हिंसकों को हिंसा किये जायंगे तो वे भी हिंसक बन कर सम्पूर्ण सृष्टि के दुष्ट जीवों को कबतक खतम कर सकते हैं? उनको भी दूसरे जन्मों

में उसी तरह उन्हीं जीवों के द्वारा अनेक बार मरना पड़ेगा। इसलिये हिंसक की भी हिंसा नहीं करना उत्तम और श्रेयस्कर है।

इस ही प्रकार जो प्राणी विशेष दुःखी या विशेष सुखी हों उनको भी नहीं मारना चाहिये और न अपने ही प्राणोंका नाश करना चाहिये; क्योंकि इस में सङ्कल्पी हिंसा का दोष आता है, जिसका अहिंसाणुव्रती नागरिक त्याग कर चुका है। तिस पर उसके मारने से दुःखी जीवों के असातावेदनीय कर्मरूपी दुःख कारणों का अभाव नहीं हो जायगा। वह दुःख उसे अगाड़ी भुगतने पड़ेंगे। यही बात अतिसुखी के और अपने सम्बन्ध में समझना चाहिये। इन्हीं बातों को एक जैन आचार्य निम्न शब्दों द्वारा स्पष्ट करते हैं कि 'कोई मनुष्य रोग तथा दरिद्रता आदि दुःखों से सताये हुए पशु वा दीन दुखी जीव को उस महान कष्ट से बचाने के अभिप्राय से दवासुँघा कर या गोली मारकर उस का वध कर डालते हैं; वे यह नहीं सोचते कि इसको तो अपने पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों का फल भोगना ही है. मरकर दूसरे जन्म में भी दुःख भोगना पड़ेगा। जैसे वे दुख दूर करने का प्रयत्न अपने कुटुम्बियों को बचाने के लिये करते हैं, न कि दवा सुंघाकर व गोली से उन कुटुम्बियों को मार डालते हैं। वैसा उन असहाय और दीन दुखियों के साथ में अगर करें तो उनके दयालुपने का पता लगे।" इसी तरह सुखी के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है :—

> कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव।
> इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः ॥ ८६ ॥
>
> —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अर्थात्—"पूर्वकाल में कितने ही लोग इस विचार से सुखी

जीवों को मारदिया करते थे कि जैसे यह यहां सुखी है वैसा परलोक में भी सुख पावेगा। और मारने से हमको पुण्य होगा ये विचार भी मूर्खों के कुतर्कता लिये हुए थे। उस कुतर्क तलवार का प्रयोग भी अपने परिवारादि को छोड़ कर दूसरों के माल मतादि हरने के लिये या किसी स्वार्थ के वश होकर किया करते थे। साधु पुरुष तो ऐसा नीच काम कभी नहीं करते हैं।" ऐसे ही आत्मघात के विषय में बताया गया है :-

आ.मवधो जीववधस्तस्य चार चात्मनो भवति रक्षा।
आत्मा नहि हन्तव्यस्तस्य वधस्तेन मोक्तव्यः॥"

—अमितगति श्रा० ६ प० ३०।

योहि कसायाविष्टकुंभक जल धूमकेतु विष शस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यान्सत्य मात्मवधः॥

—सागार धर्मामृत

विज्ञानेना हिंसा मात्मा धारा निपात्यते नरके।
न्धारा नहि शाखां छिन्दाना कि पतित भूमौ॥"

—अमित० श्रा० ६ प० १६

"दृष्ट्वा परं परस्तादशनाय चाम कुक्षि मायान्तम्।
निज मांस दान रभसादालभनीयो न चात्मापि॥ ८९॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

भाव यही है कि "जो मनुष्य अपने परिवार आदि में किसी के साथ लड़ाई अपमानादि विशेष कारण पाकर अपने जिन्दा रहने को बोझ समझ कर के सांस रोक कर या जल में डूब कर, विष खाकर, अपना गला घोंट कर, मकानादि से गिर कर वा अपने प्रियजन के असह्य वियोग से अधीर होकर अग्नि वा चिता में जल कर इत्यादि नीच उपायों से अपनी आत्मा

का वध कर लेता है। वह जीव अहिंसा व्रत की आधारभूत स्वात्मा का वधकर अवश्य ही असंख्यात समय तक नरकों के दुःख भोगता है। ऐसा जान कर कभी भी अपना अपघात नहीं करना चाहिये और न उन धर्मशास्त्रों वा साधुओं का श्रद्धान करना चाहिये जो आत्मघात करने का उपदेश देते हैं।"

सारांशतः हमें पक्षपात को छोड़कर अहिंसा के रहस्य को समझना चाहिये और "आत्मवत् सर्व भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः" इस नीति का अवलम्बन करते हुए सब प्राणियों के प्रति समान दयामय व्यवहार करने का भाव रखते हुए एकान्त में अच्छी तरह इस विषय का विचार करना चाहिये। फिर हम निः संशय इसका निष्कर्ष यही निकलता देखेंगे कि हिंसा और अहिंसा जीवों के अपने अच्छे और बुरे परिणामों के आधीन होती है इसमें बिलकुल संशय नहीं है।' सो यदि हम अपने आत्म-परिणामों को शुद्ध रखने का अभ्यास करना सीख जायँ, तो अहिंसा धर्म के उक्त महत्व-भेद स्वयं प्रमाणभूत सिद्ध प्रतीत होने लगें। और हमारा दृढ़ विश्वास अहिंसा धर्म पर जम पावे। जिस श्रद्धान के प्रेरे हम पूर्ण अहिंसा-व्रत को पालन करनेके प्रयत्न करने लगें फलतः फिर हमें देर भी नहीं लगेगी कि अपने इष्ट स्थान परम सुखधाम में जा विराजमान होवें क्योंकि अहिंसा ही उसका मूल है। बस :–

सुकृत की खान इन्द्रपुरी की नसैनी जान,
पाप रज खण्डन को पौनरासि पेखिये

भव दुख पावक बुझाइवे को मेघमाला,
कमला मिलाइवे को दूती ज्यों विशेखिये

सुगति वधूसों प्रीति पालिवे को आली सम,

कुगति के द्वार दृढ़ आगलसी देखिये ।
ऐसी दया कीजे चित तिहूं लोक प्राणी हित,
और करतूत काहू लेखे में न लेखिये ।"
—सूक्ति मुक्तावली

शेष में हम भोजन और मन बहलाव के लिए जो हिंसा होती है उसका दिग्दर्शन करके दूसरे सत्यव्रत का विवेचन करेंगे ।

मनुष्य का भोजन मांस नहीं है !

'मद्यमांस मधु त्यागैः सहाणुव्रत पंचकम् ।
अष्टौ मूल गुणानाहुः गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥ ६६ ॥'
—समन्तभद्राचार्य

सुख के प्रेमी प्रत्येक प्राणी को अपनी आत्मोन्नति के लिये पंच अणुव्रतों का पालन करना आवश्यक है, यह हम पूर्व में देख आये हैं और उनमें से प्रथम अहिंसाणुव्रत का भी बहुत कुछ दिग्दर्शन कर आए हैं। यहां पर उसी के अन्तर्गत मद्य, मांस और मधु का त्याग भी अहिंसाधर्म में सहायक बताया गया है, इन तीनों वस्तुओं की उत्पत्ति क्रम पर ज़रा विचार कर लीजिए और फिर देखिये कि वस्तुतः क्या यह छूने योग्य है। मांस के लिए यह आवश्यक है कि निर्बल निरपराध-दीन हीन बकरी आदि पशुओं को पकड़ा जावे और उन्हीं को मार कर प्राणों को नाश कर मांस पाया जाता है; क्योंकि यह किसी तरह भी सम्भव नहीं है कि पशुओं को मारे बिना कहीं अन्यत्र से मांस मिलजावे। अब ज़रा विचारिये कि क्या यह पशु खुशी खुशी अपने प्राणों का मोह त्याग देते होंगे ? और सहर्ष अपनी गर्दन को बधक की छुरी के नीचे झुका देते होंगे ? जिन्होंने

वध-भूमि (कसाईखाने) में जाते हुए बकरों अथवा भेड़ों को देखा है वे कह सकते हैं कि नहीं ! बेचारा असहाय बकरा जबरदस्ती उस तरफ को ढकेला जाता है-वह लौट लौट कर पीछे को भागता है-बुरी तरह मिमयाता है-आंखे फाड़ २ कर चारों ओर देखता है-परन्तु उसे कहीं सहाय नहीं दीखता है। उसके रक्षक ही भक्षक हो रहे हैं। वह कातुर स्वर में विलाप करता वधभूमि को मजबूर चला जाता है। कहिये इस क्रन्दन नाद को देखते हुए क्या यह कहा जा सकता है कि बकरा खुशी खुशी वधभूमि में जाकर अपने प्राणों को मनुष्यों के लिए उत्सर्गीकृत कर देता है ? कदापि नहीं ! जिस प्रकार हमको अपने प्राण परम प्रिय हैं वैसे ही उस मूक पशु को भी हैं। वह अपनी अव्यक्त भाषा में इस अमर की फ़रियाद भी खुले आम करता है, परन्तु अज्ञान-मद में मदमाते क्रूर परिणामी नराधम उसके इस विलाप पर-इस फरियाद पर-ध्यान नहीं देते, और कहते हैं कि यह पशु पक्षी तो हमारे खाने के लिए ही हैं! क्याही अच्छा न्याय है ! मानों सचमुच अपने शास्त्रों के मूल भाव को समझा है। हम पहिले ही बतला चुके हैं कि दुनिया में वह धर्म नहीं कहला सकता जिसने हिंसा को शुभ कर्म बताया हो ! यह तो विषयलम्पटी मनुष्यों के ही करतब हैं कि उन्होंने उन धर्म पुस्तकों को भी कलङ्कित करदिया है। यहां भी हम देखेंगे कि कोई भी धर्म मांस भोजन को जायज नहीं बतलाता ! आजकल दुनियां में मांस भोजन का एक शौकसा उटा है। प्राणियों के प्राण जान बूझ कर अपहरण करने से हिंसा की पुष्टि होती है-संकल्पी हिंसाका दोष मत्थे आता है। परन्तु अपनी 'सभ्य-शान' के अगाड़ी इसका किसे भान है ! आज किस घोरतम रीति से इन विचारे मूक प्राणियों के प्राणों पर

वांत रही है यह केवल सुइफ्ट कम्पनी के कसाईखाने के विवरण से अन्दाजा जा सकता है। सुइफ्ट कम्पनी की बिक्री के लिए मांस मुहइया करनेके लिये जो हत्या प्रति दिवस होती है उसके बारे में कहा गया है:-

"विचारिये कि दो-दो करके एक ही १५ मील लम्बी लाइन में १०००० पशु चल रहे हैं; उनके पीछे ही चिल्लाती चिल्लाती २०००० भेड़ें १२ मील लम्बी सड़क पर चली आरही हैं; फिर १८ मील में २७००० हट्टे कट्टे सुअर उनके पीछे आ रहे हैं, और इनके पिछाड़ी ६ मील के स्थान में ३०००० मुर्गे चले आरहे हैं! अब इस सम्पूर्ण पंक्ति में आप देखेंगे, जो करीब ५० मील लम्बी है और एक नियत स्थान से निकलने के लिए जिसे दो दिन लगें, कि 'मेसर्स सुइफ्ट एण्डको' की दुकान में एक दिन में इतने पशुओं के प्राण लिए जाते हैं।' इसके अतिरिक्त यह भी ज़रा विचारिये कि ऐसे ही आरमर, लिपटन आदि की दूकानों में और अन्य प्राइवेट कसाईखानों में (जो लन्डन में ४०० हैं और ब्रिस्टिल में १२० हैं)* प्रतिदिन उक्त प्रकार की पशुपंक्तियां हत्या के निमित्त लाई जाती हैं! इस दृश्य का अनुभव करके हमको इस बात का भय होजाना

---

* अन्य देशों और भारत के मुख्य शहरों के कसाईखानों में भी ऐसी ही बड़ी संख्या में मांस-भोजन के लिये पशुवध करना होता है। प्रति दिवस असंख्यात जीवों का दुःखशाप मानव-समाज पर पड़ता है। शाप से मनुष्य को भय करना स्वाभाविक है। केवल गो वध के आँकड़े इन बड़े शहरों के इस बातकी साक्षी हैं। सन् १९२३-२४में मुम्बई में ८४४४९६ गायों को नष्ट किया गया। कलकत्ते में ३५२३८८ गायें कत्ल की गईं। दिल्ली में २२०३५४, लाहौर में २१०६८६ और लखनऊ में १२९६८७ गायें छुरी के घाट उतारी गईं! कैसा भीषण हत्याकाण्ड है।

लाज़मी है कि इस अनावश्यक हत्याकांड को मेटने के लिए उग्र प्रयत्न करने की कितनी शीघ्र आवश्यकता है। क्योंकि इसके द्वारा क़रीब ३०० करोड़ पशुओं के प्राण (छोटे जानवरों और चिड़ियों को छोड़ कर) प्रत्येकवर्ष मनुष्य की उदर पूर्ति के लिये लिये जाते हैं। ईसाई-संसार को उन के पैग़म्बर के वचनों का ध्यान दिलाना आवश्यक है कि ईसामसीह ने कहा था तू जा और जान इससे क्या मतलब है, मुझे दया चाहिये और बलि नहीं, अतएव उन सर्वदयालु पुरुषों का चित्त इस ओर आकर्षित करना आवश्यक है जो परमात्मा की सदेच्छा में जीवन बिताना चाहते हैं और इस संसार के दुख, पीड़ा एवं क्रन्दननाद को घटाना चाहते हैं।"‡

वास्तव में जब तक मनुष्य निष्पक्ष भाव से 'सत्य-मार्ग' को ग्रहण नहीं करेंगे, जो कि सर्व धर्मों मे बतलाया हुआ मिलता है, तब तक मानव समाज के दुःखदर्दों का अन्त नहीं होगा। मानवों को अन्य प्राणियों के जीवन स्वत्व का मान करना सीखना होगा। जब हम दूसरों के स्वत्वों की रक्षा करेंगे, तबही हमारे स्वत्व सुरक्षित रह सकेंगे। नीति और शास्त्रवाक्य हमको यही सिखलाते हैं। प्रत्युत प्राकृतिक नियम भी यही है। स्वाभाविक रीति से निर्बोध बालक, यदि आप उसके प्रति प्रेमभाव प्रकट करेंगे, तो आपकी ओर आकर्षित हो जायगा और यदि आपने तनिक उपेक्षा की तो वह आपके पास कभी नहीं जायगा। यही नियम संसार में प्रत्येक जीवित प्राणी से लागू है। इसी स्वाभाविक अनुरूप में प्रत्येक धर्माचार्य अन्य जीवित प्राणियों के जीवन और उनके स्वत्वों की रक्षा करने की आज्ञा करते हैं। ऐसी दशा में यथार्थ धर्मशास्त्र

---

‡ डा० बर्नर्ड सिडनी।

कभी भी मांस भोजन की आज्ञा नहीं दे सकते हैं। जैन ग्रन्थों में मनुष्य के लिए सब से पहले मांस, मधु, मदिरा का त्याग करने का उपदेश दिया गया है। जिस प्रकार मांस की प्राप्ति प्राणि-वध से होती है, उसी तरह मधु और मदिरा भी जीवित प्राणियों की हत्या द्वारा मिलते हैं। मधु हज़ारों शहद की मक्खियों के अण्डे-बच्चों का निचोड़ ही होता है। करोड़ों मक्खियों के घर और बच्चे नष्ट करके वह इकट्ठा किया जाता है। ज़रा ख़याल तो कीजिए कि किस परिश्रम से विचारी मक्खियों ने बगीचों में जा जाकर फूल फूलपर बैठकर उसको एकत्रित किया था! फिर किस मिहनत और कारीगरी से बनाये हुए अपने छत्ते में उसे अपनी और अपने बच्चों की परवरिश के लिए जमा किया था। शाँति से वह जीवन-यापन कर रहीं थीं, कि हत्यारे का ज़ालिम हाथ उन पर आ पड़ा! विचारियों ने अपनी जान-माल बचाने की बहुत कोशिश की, परन्तु निर्दयी सबल के समक्ष निर्बलों का क्या वश चलता है! वह घर-बार से लुटगईं-खानाबदोश होगईं-लख़्तेजिगरों से अलग करदी गईं! कहिए इस से बढ़कर और अन्याय क्या हो सकता है? इस अत्याचार को भी कोई गणना है। यदि आज इस अत्याचार के ऐवज़ में कोई आततायी हमारे घरों में आग लगादे, हमारी धन सम्पत्ति को लूटले और हृदय के तारे प्यारे बच्चों को हमारे सामने मरोड़ डाले, तो हमको कितनी घोर वेदना होगी! इस बात को ज़रा विचारिये! इस पर भी क्या आपका हृदय मधु शहद खाने के लिए तैयार हो सकता है? नहीं, जिसे अपने परभव का ज़रा भी ख़याल है वह कदापि निर्बल, निरपराध प्राणियों को दुःख नहीं पहुंचायेगा। मधु-मक्खी आदि इतर प्राणियों में भी सुख-दुःख रूपी वेदना की

अनुभव करने की शक्ति है। फ्रांस के एक विद्वान् डाक्टर ने इस बात को परीक्षा करके सिद्ध करदिया है कि मक्खियों में अनुभव और ज्ञान शक्ति एक अच्छे ऊँचे दर्जे की है। इसलिए उनकी उपेक्षा करना—उनके प्राणों की अवहेलना करना हमारा कर्तव्य नहीं है। उनकी रक्षा करना ही धर्म है।

मदिरा की उत्पत्ति भी मधु से कुछ कम हिंसाजनक नहीं है। यह किसी से छिपी हुई बात नहीं है, कि मदिरा फलों व जौ आदि को सड़ाकर बनाया जाता है। सड़ायन्द की अवस्था में वह शिरके से भी बदतर हो जाती है। करोड़ों कीड़े उसमें पड़ जाते हैं। वह सब निर्दयता पूर्वक निकाल कर फेंक दिए जाते हैं। इस तरह असंख्यात प्राणियों का घात इस मदिरा पान की वजह से होता है। फिर इसके व्यवहार से मानव शुद्ध चारित्र से विचलित हो जाता है; जिसके कारण अनेक मनुष्य-घात, व्यभिचार, चोरी, जुआ आदि कुकर्म होते हैं। मदिरा पान करनेवाले व्यक्तियों के कुटुम्ब सदैव दुःखावस्था में पड़े रहते हैं। भारत में धर्म की प्रधानता होने पर भी केवल मदिरा ही नहीं बल्कि अफीम, चर्स, गांजा, भांग आदि सबही मादक पदार्थों का सेवन जोरों के साथ होता है। परिणाम स्वरूप हमारा शारीरिक, नैतिक, आर्थिक और पारमार्थिक सबही प्रकार का ह्रास दिन ब दिन होता जारहा है। दरिद्रता और पराश्रिता दिनोंदिन बढ़ती जारही है। यहां जनता धर्म प्रधान होते हुए भी धर्म केवल रूढ़ियों और रिवाजों में मानती है। इसके निकट वही धर्म है जो उसको उसके बापदादों से मिला है। ऐसी अवस्था में धार्मिक-भाव को जागृत करने में सहज सफलता मिलना कठिन है; परन्तु इस अनाचार को रोकने का सुगम उपाय राज्य-सभा द्वारा प्राप्त हो सकता है।

सहज ही कानून द्वारा मादक-वस्तुओं का प्रचार रुक सकता है। किन्तु दुःख है कि राज्याधिकारियों का ध्यान इस ओर खिचता ही नहीं है। ऐसी अवस्था में दृढ़ता के साथ धार्मिक भाव जागृत करने को ही तुलजाना चाहिये।

अमेरिका ने मदिरा-पान के प्रचार को रोकने के लिए कानून बनाकर यह साबित कर दिया है कि उससे विशेष सफलता मिलती है और मानव समाज की बहुत सी बुराइयां दूर होजाती हैं। वहां की दशा पर एक साधारण दृष्टि ही मदिरा की अनावश्यकता प्रमाणित कर देती है। अमेरिका में दो वर्ष तक मादक वस्तुओं के त्याग का प्रचार होने के पश्चात् वहां की दशा विशेष समुन्नत होगई थी। इस देशके "सर्वे" (Survey) नामक पत्रमें मद्य-मांस-निषेध के प्रचार से जो व्यवस्थित नूतन, सुखी और उन्नत शील जीवन हुआ है, उस का वर्णन किया गया है। यह नूतन जीवन का दृश्य अमेरिका के ग्राण्डरेपिड्स (मिचिगान) प्रान्त का है। पत्र लिखता है कि "ग्रान्डरेपिड्स" में अब मद्यपान का अभाव है एवं सेलून होटल और अन्य प्राइवेट मद्य-विक्रय-स्थान बन्द होगए हैं। अस्तु पदार्थों की मंहगी नौकर पेशा मनुष्यों पर कुछ भी असर नहीं डाल सकी, क्योंकि वेतन पदार्थों के मूल्य से भी अधिक चढ़ गए हैं। और संयममय जीवन बिताने के कारण देश में एक नूतन ऋद्धि-वृद्धि का भान होरहा है। घरेलू शांति और सुख बढ़ गए हैं। गृहस्थ सुधार में अब अधिकांश समय व्यतीत करते हैं जिसके फल स्वरूप बच्चों की मृत्यु और अन्य संकट जन्य रोगों का अभाव होरहा हैं। शहर के हवाखोरी के स्थान खूब ही भरे रहते हैं। और ऊपर की अधिक कमाई अब घर की सुख वर्द्धक सामग्रियों के—कपड़े व अन्य पदार्थों के—

खरीदने में व्यय होती है। व्यभिचार और अपराध बन्द हैं। शराबखोरी और जालसाज़ी भी दिनोंदिन कमती होती जाती है। पुलिस भी घटा दीगई है। और इन दो वर्षों के प्रचार से मुल्ज़िमों की संख्या भी आधी रह गई है। समाज का नैतिक जीवन पहले से उन्नतावस्था में है। थकावट के अभाव से मानसिक शक्तियों के विकास में पूर्ण स्वतन्त्रता है, जो कि अभी तक अन्य ओछे कार्यों में व्यय की जाती थी; परन्तु अब समाज में अच्छे उत्तम कार्यों के करने को व आत्मिक-स्वतन्त्रता प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हुई है।"

इस विवरण से मद्य-पान के त्याग से मानव जीवन कितने सुखमय बन सक्ते हैं यह भली भांति प्रमाणित है। साथ ही राज्य व्यवस्था में खर्च की कमी भी इससे होसक्ती है, क्योंकि इसके अभाव में अपराध एक दम घट जाते हैं। मनुष्य दुराचारी के स्थान पर सदाचारी बन जाते हैं। मद्यपान में जहां वह अपने नैतिक जीवन को उन्नत बनाने में असमर्थ होते थे, वहां इसके अभाव में वह इतने उन्नत चारित्रवान हो जाते हैं कि देश को उनमें गर्व होता है। वैसे मद्यपान से जो खराबियां हैं और जो दुर्गति शराबखोरों की होती है, वह किसी से छिपी हुई नहीं है। शराबख़ोरी से दरिद्रता बढ़ती है-गार्हस्थ सुख नष्ट होता है। मनुष्य की विवेक बुद्धि जाती रहती है। हेयाहेय का विचार करना उसके लिए मुहाल होजाता है। मां-बहन-स्त्री आदि को पहिचानना उसको असंभव होता है। स्वयं अपने शरीर को साधने में ही वह लाचार होता है! कहीं गलियों में गिरता है-कुत्ते वहां उसका मुंह चाटते हैं—महादुर्गंध में लीन रहता है। इस बदहवासी में वह महा अनर्थ कर डालता है। शराबियों द्वारा बहुत सी अनहोनी घटनायें

घटित होजाती हैं। समाचार पत्रों के पाठकों से यह बातें छिपी नहीं हैं। इसके नशेमें पिता अपने पुत्रको भी मार डालता है-ऐसे समाचार भी प्रकट हो चुके हैं। बनारस में सुलतान चौकी के चौक में रहने वाले जालभिजड़ी नामक व्यक्ति ने अपने शिशु पुत्र को स्त्री से छीन कर मार डाला था। यह कैसा वीभत्स कांड है! परन्तु बदमस्त व्यक्ति इसमें लाचार है! ऐसे घृणित पदार्थ का न पीना ही श्रेयस्कर है। मद्यपान से ही मांस खाने की रुचि पैदा होती है। वरन् ज़रूरत नहीं है कि मांस खाया जाय! इस दशा में इन मलिन और दुःखोत्पादक मद्य-मांस-मधु का सेवन करना मनुष्य के लिए अयोग्य है। यह उसके लिए भोज्य पदार्थ नहीं है।

प्राकृतिक रूप में पश्चिमीय डाक्टरों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य की आकृति शाकभोजी जानवरों के तरह की है। उसे मांस खाना हितकर नहीं हो सकता। इस बातको प्रसिद्ध जर्मन डाक्टर लुई कोहनी ने अपनी New Science of Healing नामक पुस्तक में खूब वादविवाद के साथ समझाया है कि मनुष्य के शरीर में दाँत ऐसे होते हैं जो न मांसाहारी पशुओं से, न साग घास खाने वाले और न मांस और घास खाने वाले पशुओं से मिलते किन्तु फल खाने वाले पशुओं से मिलते हैं। बन्दर और मनुष्य के दांतों में बहुत अंश में समानता है। मनुष्य का पेट भी फल खाने वाले पशुओं से साथ मिलता है। इस में भी बन्दर ही का दृष्टान्त है। मनुष्य जो कुछ भोजन करता है उसके पास नाक, ज़बान इसी लिए है कि वह उनकी गंध और स्वाद को जानकर फिर उस को पेट में डाले। मनुष्य की नाक की गन्ध स्वभाव से ही फल व वनस्पति की ही तरफ दौड़ती हैं। वह कभी भी शिकारी

जानवर की तरह किसी पशु पर न दौड़ेगी। इसी तरह ज़बान भी स्वभाव से फलके ही रसको लेना पसन्द करेगी। वह कभी भी किसी पशु के कच्चे मांस को चखना पसन्द न करेगी। जैसे फल खाने वाले पशु खेत और फलदार वृक्षों ही की तरफ जाकर फल खाना पसन्द करते हैं वैसे मनुष्यों का भी स्वभाव से यही हाल है। कच्चा मांस किसी भी मनुष्य की नाक व आँख को पसन्द नहीं पड़ेगा। उसको अनेक मसाले डाल कर पकाकर स्वादयुक्त बनाया जाता है तोभी उसमेंसे दुर्गन्ध नहीं जाती। जिस बालक ने कभी मांस नहीं खाया है उसको वह कभी भी पसन्द नहीं आसक्ता। छोटे बच्चे माता का दूध पीते हैं। यह दूध मांसाहारी स्त्रियोंके कम होता है। जर्मनीमें बच्चों को पालने के लिये वे धायें बुलाई जाती हैं जो मांस नहीं खातीं व बहुत ही कम खाती हैं। समुद्र की यात्रा में धाओं को जई के आटे को पकी हुई लपसी दी जाती है। वास्तव में बात यह है कि मांस माता के दूध बनाने में कुछ भी मदद नहीं देता। जिनको कभी मांस नहीं दिया गया है ऐसे बच्चों के सामने यदि फल और मांस को डली रक्खी जावे तो वह फल को तुरन्त ग्रहण करेगा। इसी से सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य का स्वभाव मांस खाने का नहीं है। उक्त डाक्टर ने यह भी जांच की है कि जो बच्चे बिना मांस भोजन के पाले गए उनके शरीर की ऊँचाई मांसाहारी बच्चों से अच्छी रही। इन्द्रियों की तृष्णा बढ़ाने में मांसाहार मदद देता है। मांसाहारी लड़के इच्छाओं को न रोककर शीघ्र दुराचारी होजाते हैं। मांसाहार से अनेक रोग होते हैं जब कि इस का त्याग रोगों को हटाने वाला है। थियोडवरहान साहब २६ वर्ष की

अवस्था में मरण किनारे होगए थे, परन्तु मांस त्यागने और फलाहार करने से ६० वर्ष और जिये।"

(आत्मधर्म पृष्ठ ७६-७७)।

वास्तव में मनुष्य का भोजन मांस नहीं है। मांस भोजन उसके लिये निरर्थक नहीं, वल्कि हानिकर भी है। अनेकों वार समाचार पत्रों में यह प्रगट हुआ है कि मांस खाने से विपाक्त हो अमुक व्यक्ति को अकस्मात् अकाल मृत्यु होगई। इस अवस्था में मांस खाना हितकर नहीं कहा जा सका। मांस खाने वाले जानवर जीभ निकाल कर उस ही के बल पानी पीते हैं, परन्तु मनुष्य ऐसा नहीं करते। उनकी प्रकृति ही मांसके-प्रतिकूल है। यही मत संसार के बड़े से बड़े डाक्टरों का है। गत महा समर में अधिक परिश्रम ओर होशियारी को लक्ष्य कर सिपाहियों को मांस और मदिरा वहुत कम परिमाण में दी जाती थी। आज अन्य विलायतों में मांस भोजन से घृणा वढ़ रही है। वहां शाक भोजन का प्रचार हो रहा है। विलायत में ब्रॉम्वले के लेडी मारग्रेट हॉस्पिटल के वड़े डाक्टर डॉ० जोजिया ओल्डफील्ड, डी० सी० एल०, एम०ए०, एम० आर० सी० एस०, एल० आर० सी० पी० इस विषय में स्पष्ट लिखते हैं जिसका भाव यह है कि:-

"आज यह विज्ञान के द्वारा निर्णय हो गया है, कि-मनुष्य मांसाहारियों में न होकर फलाहारियों में है। आज सबके हाथ में यह परीक्षा की हुई बात मौजूद है कि वनस्पति जाति की उपज में वह सब है जो कुछ मनुष्य के पूर्ण से पूर्ण जीवन को रखने के लिए आवश्यक है। मांस अप्राकृतिक भोजन है और इसी लिए शरीर में अनेक उपद्रव पैदा कर देते हैं। आजकल की सभ्य समाज इस मांस को लेनेसे कैन्सर

क्षय, ज्वर, पेट के कीड़े आदि भयानक रोगों से जो एक मनुष्य से दूसरे में फैलते हैं बहुत अधिक पीड़ित होती है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि मांसाहार स्वयं भयानक रोगों में से एक रोग है जो १००. मनुष्यों में से ९९ को पीड़ा दे रहा है।"

प्रोफेसर जी० सिम्सउडहेड, एम० डी०, एफ० आर० सी० पी०, एफ० आर० एस०, प्रोफेसर पैथेलॉजी, केम्ब्रिज यूनीवरसिटी, ने कैम्ब्रिज की सभा मई १२ सन् १९०५ में कहा था कि:—

"पूर्ण स्वास्थ्ययुक्त जीवन विताने के लिए मांस बिल्कुल अनावश्यक है; केवल शाकाहार पर ही बसर करने से सब से अच्छा काम हो सकता है। लोग बहुत ही मांस खाते हैं। यदि वे पूर्ण मांस भोजन की अपेक्षा शाकाहार पर रहें तो बहुत स्वास्थ्ययुक्त जी सकते हैं। शाकाहारियों ने बहुत अच्छी तरह यह बात दिखलादी है कि बहुत सादा जीवन विताना सम्भव है जिसके लिये बहुत आदमी बहुत ज़ोर से चिल्लाते हैं, जब कि वह यह नहीं समझते हैं कि उनके कहने का मतलब क्या है। डाक्टर लोग रोगों के रोकने पर ध्यान देते हैं, पर रोगों के अच्छा करने में नहीं। रोगके रुकने को ही समाज की शारीरिक अवस्थाकी उन्नति करनेका मुख्य साधन जानते हैं। आजकल की डाक्टरी शिक्षा भी पहिले की अपेक्षा अधिक ध्यान रोगों के रोकने पर देती है। यह अनुभव में आ रहा है कि हर एक उपाय इस बात का करना चाहिए जिससे रोग फिर होने ही न पावे, केवल इतना ही ठीक नहीं है कि जब रोग आवे तब उसे रोक दिया जावे। यह शाकाहार का आन्दोलन में ख़याल करता हूं कि रोगों के खोने में बहुत अधिक काम कर सकेगा।"

मि० सैमुअल सान्डर्स "हेरल्ड ऑफ दी गोल्डन एज" जुलाई सन् १९०४ में कहते हैं कि:-

"मैं वासठ वर्ष से मछली, मांस और मुर्गी नहीं खाता हूं तथा स्वास्थ्य के नियमानुकूल चला हूं। मुझे कभी सिर में दर्द नहीं हुआ, कभी मैं दिन भर बिछौने पर नहीं पड़ा रहा, न साधारण अकस्मातों के सिवाय दर्द सहन किया। मैंने बहुत हर्षयुक्त व जहां तक मैं समझता हूं कुछ उपयोगी जीवन विताया है। और अब मैं ८८ वें वर्ष में उतना ही हल्का, प्रफुल्लित और नया विचार ग्रहण करने को समर्थ हूं जैसा मैं २० वर्ष की उम्र में था।"

वास्तव में मांस खानेसे न शारीरिक बल बढ़ता है और न बुद्धि ही तेज़ होती है। प्रत्युत यह देखने में आया है कि निरामिषभोजी शारीरिक, और मानसिक शक्ति में विशेष बढ़े चढ़े होते हैं। यही लोग अधिक वर्ष जी सकते हैं। अन्वेषण के बाद डा० टी०एल० ओस्वाल कहते हैं कि आजकल की दुनियां की तीन बहादुर क़ौमों में सबसे मज़बूत क़ौम निरामिषभोजियों की है। ("The Strongest of the three manliest races in the present world are non-flesh-eating races.") निरामिष भोजन के व्यवहार से मानसिक ज्ञान विशेष बढ़ता है! यह बात सरजान सिन्कलेजर प्रगट करते हैं:-

"शाकभोजन का मानसिक शक्तियों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और इस से भाव की उत्तमता, विचार की सुन्दरता और विवेक ज्ञान की दृढ़ता बढ़ती है जो शायद ही कभी मांस भोजियों को नसीब होती है। बात भी यूँही है। संसार के महा विद्वानों के जीवनों पर एक दृष्टि डालिए तो

पता चल जायगा कि वे सब निरामिष भोजी थे। इनमें से प्रख्यात के नाम इस प्रकार हैं:—

"भगवान महावीर, स्वामी अकलङ्कदेव, शङ्कराचार्य, पैथागोरस, प्लैटो, सुकरात, मनु, ज़रदस्त, डानियाल, ईसाइया, हज़रत मसीह, और इनके शिष्य (Apostles, ओरिजेन, क्रैसोस्टम टेरट्यूलयन, क्लेमेन्स, असिसि के फ्रान्सिस, गस्सेन्डी, जोन होवार्ड, स्वेडनवर्ग जाँवेसली, मिल्टन, निउटन, फ्रेंकलिन, पैले, निउमैन, विलियम बूथ और ब्रामवेलवूथ आदि।"

इन सब विद्वानों और धीमानों ने पवित्र शाकाहार के बल ही संसार में अपनी कीर्ति का झण्डा फहराया था। शाकाहार में मानसिक शक्ति बढ़ती है और उस के साथ आत्मानुभव की मात्रा उदय होती है। भारतवर्ष के महात्माओं और योगियों की साक्षी इस विषय पर अनेक उपलब्ध हैं। परन्तु विदेशी भी इस से सहमत हैं। पादरी दी आनरेबुल एण्ड रेवरेन्ड कैनन लिटलटन साहब लिखते हैं कि मांसाहार से परहेज़ करने से आत्मस्फूर्ति उत्पन्न होती है।

"Abstinence from meat is found to give elasticity to the Spirit"

यही कारण है कि विविध धर्म प्रवर्तक निरामिषभोजी थे। हज़रत ईसामसीह के प्रसिद्ध अनुचर सेन्टपाल सादा शुद्ध जीवन व्यतीत करने के लिए मशहूर हैं। ऐसे ही अन्य ईसाई महत् पुरुषों के विषय में जाना जासकता है। यही मुसलमानों के पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद साहब के बारे में कहा गया है कि:—

"मुहम्मद साहब की ग़िज़ा अमूमन् खुर्मा, जौकी रोटी, दूध और शहद हुआ करती थी और अपने कमरे में आप झाड़ू दिया करते थे। खुद आग सुलगाया करते थे, अपने

फटे पुराने कपड़े आप मरम्मत किया करते थे।" (तहक़ीक़ात सरविन्स वाशिङ्गटन तर्जुमा उर्दू रलयाराम पृष्ठ ११६)

इस ही बात की पुष्टि निम्न रवायत में की गई है:-

"सैद इब्नताऊस ने मुहम्मद इब्नजरीर तबरी से रवायत की है कि हकताला ने हज़रत नोह अलयस्सलाम को पैग़म्बरी अता फरमाई इस वजह से कि आपने खुदावन्द ताला की बड़ी अतायत की और इबादत के लिए मखलूक से अलहदगी इख्त्यार कर रक्खी थी। और इस का कद १६० हाथ था. (इस ज़माने के लोगों के हाथ से)। लिबास इनका पशमीने का था। इन से पेश्तर हज़रत अबरीस अलयस्सलाम का लिबास खुश्ता का ख़ौफ था। पहाड़ों में रहते थे-ज़मीन की घास खाया करते थे-आख़िरकार जबरील अलयस्सलाम ने उनको पैग़म्बरी मिलने की खुशख़बरी सुनाई।" (आइने हम-दर्दी भाग १ पृष्ठ ५६)

शेष में हिन्दू और जैनधर्मके ऋषिगण परमोत्कृष्ट दर्जे के निरामिष भोजी थे, यह सर्व प्रकट है। महात्मा बुद्ध ने भी जीववध का निषेध किया है, यद्यपि मृतक मांस खाना बुरा नहीं बतलाया है। परन्तु जब जानबूझ कर एक बौद्ध प्राणी वध नहीं करेगा तो फिर उसे मांस कहां से मिलेगा? उधर पारसियों के ज़रदस्त निरामिषभोजी थे यह हम जानही चुके हैं। सारांश यह कि संसार के प्रख्यात् धर्मों के संस्थापक क़रीब २ सब ही निरामिषभोजी थे। उनका निरामिषभोजी होना लाज़मी ही था; क्योंकि प्राकृतिकरूपमें यह बात सिद्ध है कि मनुष्य का भोजन मांस नहीं है।

मांस न खानेवालों के जीवन अधिक होते हैं, यह भी प्रमाणित बात है। जितने दिनों निरामिषभोजी जी सकता है उतने

दिनों मांसभोजी नहीं जी सकता। तथापि जितनी दृढ़ता से वह परिश्रम कर सकता है उतनी दृढ़ता से मांस भोजी नहीं कर सकता है। निम्न के निरामिषभोजी व्यक्तियों की उम्र कितनी अधिक थी, यही इस बात का प्रमाण है:—

१. मार्गरेट पैटन	१३७	वर्ष जीवित रहे।	
२. डेसमॉन्डको काउन्टेस	१४८	"	"
३. टॉमस पार	१५२	"	"
४. टॉमस डेम	१५४	"	"
५. जॉन रेविया	१७२	"	"
६. पीटर नॉरटन	१८५	"	"
७. हेनरी जेन्किन्स ...	१६९	"	"
८. डा० विलियम मीड ...	१४८	"	"
९. मेरी कीथ	१३३	"	"
१०. जोनेथन हरपट ...	१३९	"	"
११. पीटर ग्रेडन	१३१	"	"

यह सब लोग विदेशों के हैं। वहां के विद्वानों ने इस बात की संभाल रक्खी, तब यह नाम प्राप्त हैं। भारतवर्ष में भी अनेकों ऐसे उदाहरण मिल सक्के हैं, परन्तु यहां इस बात का अभी इतना गर्व ही नहीं है, जो ऐसी घटनाओं का संग्रह रक्खा जावे। विलायतवालोंका कहना है कि इस समय ससार में सबसे बड़ी उम्र का व्यक्ति केलवेनो वैवेन्से (Calbeno Vaivense) है। इसकी उम्र १३२ वर्ष की है। इनके बाद जॉन सेल (John Sale) नामक व्यक्ति का नम्बर है, जिसकी उम्र इस समय १३१ वर्ष की है। अपनी इस बड़ी और तन्दुरुस्त उम्र के विषय में लिखते हुए इसने अपने एक मित्र को लिखा है कि:—

मेरा जीवन एक खुली किताब सदृश रहा है। मैं प्रकृति के अनुरूप में रहा हूं। मैं शुद्ध भोजन खाता हूं, शुद्ध पानी पीता हूं काफी मिहनत करता हूं-इन्हीं बातोंके कारण मैं अपनी यह बड़ी उम्र और अच्छी तरह तन्दुरुस्ती रहा समझता हूं।" बात भी यही है। जो शुद्ध और पवित्र भोजन और जल पर नियमित ढंग से सादा जीवन व्यतीत करेगा वह अवश्य ही उम्र और तन्दुरस्तीमें बढ़ा चढ़ा होगा।

("The Some Reasons why Vegetarion diet is prefrable" Page 9.)

जर्मनी के डाक्टर हन्फील्ड साहब का कथन इस विषय में प्रमाणभूत है। आप लिखते हैं कि-"मुल्क नारवे, स्वीडन, डेन्मार्क, तुर्की, यूनान, इटली, स्विट्ज़रलेन्ड, फ्रान्स, स्पेन, इंग्लिस्तान और स्कांटलेन्ड में वहां के ग्रामीणों का बहुत सा भाग मांस भक्षण बिल्कुल नहीं करता और इस लिए वे लोग बहुत तन्दुरस्त, चालाक और ताकतवर होते हैं। आयरलेन्ड के देहातों का आहार साधारण रीति से वनस्पति है और इनके समान तन्दुरस्त मनुष्य और कहीं के नहीं हैं। इंग्लिस्तान और स्काटलेन्ड के गांवों के लोगों का वह भाग जो जौकी रोटी, दलिया, और हरी तरकारी खाकर गुज़ारा करता है, बहुत तन्दुरस्त है और मांस भक्षण करने वालों से अधिक मिहनत और थकावट को सहन कर सकता है। सारांश यह है कि हमेशा से दुनियां की तीन चौथाई आबादी वनस्पत्याहार पर जिन्दगी बसर करती आई है और जब इन को ऐसा आहार अधिकता से मिलता है और इनकी आदतों व चलन में हर तरह की सफाई रहती है तो इनकी ताक़त में किसी प्रकार की कमी नहीं रहती, प्रत्युत नित्यप्रति उन्नति

ही होता जाती है।" (देखो 'अहिंसा भाग १' अङ्क १५) तो भी हमें "बम्बई जीवदया सभा" के प्रयत्न से मालूम है कि डुभास नामक एक पार्सी सज्जन ने मरणोन्मुख होने पर सभा के उपदेश से मांस का त्याग कर दिया 'फलतः आप तन्दुरुस्त होगए। ज़िन्दगी के दिन बढ़ गए। ६१ वर्ष से मांस खाते थे, जिससे तन्दुरस्ती बिल्कुल ख़राब थी। आध मील चलना भी मुहाल था। मांस खाना छोड़ते ही तन्दुरस्ती अच्छी होगई और रोज़ ८ मील की हवा-ख़ोरी को जाने लगे। यह मांस त्याग का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस प्रकार सब तरह से हम मांस भोजन को मनुष्य के लिए अनावश्यक समझते हैं। यही मत विलायतोंके बड़े डाक्टरों की काउन्सिल ने निर्णित किया है। विलायत के पांच देशों की सरकार ने अपने २ देश के बड़े डाक्टरों की सभा इस बात के निर्णय के लिए एकत्रित की थी कि मनुष्य को मांस खाना चाहिये या नहीं। इनकी नियुक्ति पेरिस की सन् १६१८ की "इन्टर-अलाइड-कॉन्फ्रेन्स" (The Inter-Allied Conference) में हुई थी। इस 'इन्टर नेशनल कमीशन' में फ्रान्स की तरफ से प्रो० ग्ले और प्रो० लैंगलुई, इटली की ओर से बोलज्ज़ी और पैगलियानी, बेलजियम की ओर हूलॉट, संयुक्तराज्य अमेरिका की ओर से चिट्टरडन और लस्क एवं संयुक्त साम्राज्य बटानिया की ओर से ई० एच० स्टारलिंग और टी०बी० वुड उपस्थित हुए थे। इन्हों ने आपसी निर्णयके बाद रोम को २६ अप्रैल सन् १६१८ की मीटिङ्गमें निम्न प्रस्ताव स्वीकृत किया था जिसका भाव यह है कि :—

"कमीशन ने यह निश्चय किया है कि किञ्चित मांस भोजन की भी आवश्यकता नहीं है, क्यों कि उसके

लिए कोई भी शारीरिक आवश्यकता नहीं है। जो पुष्टि कारक पदार्थ मांस है वही पदार्थ दूध आदि पदार्थों एवं शाकादि में है। इस दशा में मांस भोजन विलकुल निरर्थक प्रमाणित हो जाता है।"

आयुर्वैदिक आचार्यों का भी ऐसा ही मत है। सुश्रुत में कहा गया है किः–

"पाठीनः श्लेष्मलो वृष्यो निद्रालुः पिशिताशनः।
दूषयेद्रक्तपित्तं तु कुष्ठरोगं करोत्यसौ॥ ८॥" सुश्रुत पृष्ठ १६८

भावार्थ–"मत्स्य श्लेष्माकारक, वृष्य, निद्राकारक, और मांसभक्षी होता है; और आम्लपित्त को दूषित करता हुआ कुष्ठ रोग उत्पन्न करता है।" "वैद्यचूड़ामणि" खण्ड ३ श्लोक १२१ का भाव है कि "मनुष्यों का भोजन अन्न ही है।" मांस खाने से रुधिर विकृत हो जाता है। और रोग उत्पन्न होता है।" सारांश यह कि प्राचीन और अर्वाचीन वैद्यों का मत एक है कि मांस भोजन मनुष्य के लिये हितकर नहीं है। वह विशेष बल-कारक नहीं है; क्योंकि उस में स्वास्थ्यवर्द्धक पदार्थ कम है। सरविलयम अर्नेशा कूपर, सी० आई० ई० साहब ने अपनी "दी टायलर एण्ड हिज़ फुड" नामक पुस्तक में भिन्न २ भोजनों का मुक़ाबला करते हुए शक्ति अंश किसमें ज़्यादा है सो दिया है। उसका कुछ सार इस प्रकार है:–

१–बादाम आदि गिरियों में १०० में ९१ अंश तक शक्ति देने वाली वस्तु है।

२–सूखे मटर चने आदि में	"	" ८७	"	"	"
३–चावल में	"	" ८७	"	"	"
४–गेहूं के आटे में	"	" ८६	"	"	"
५–जौ के "	"	" ८४	"	"	"

६–सूखेकिसमिस,खजूरआदिमें,, ,, ७३ ,, ,, ,,
७–घी में ,, ,, ८७ ,, ,, ,,
८–मलाई में ,, ,, ६६ ,, ,, ,,
९–दूध में ,, ,, १४ ,, ,, ,,
(इस में ८६ भाग पानी है वो भी लाभदायक है।)
१०–अंगूर आदि ताजे फलो में ,, ,, २५ ,, ,, ,,
शेष पानी है वह भी लाभदायक है।
११–मांस में जब कि १०० में २८ भाग शक्ति अंश है तब
शेष पानी है जो हानिकारक है।
१२–मत्स्य में ,, ,, ,, १३ ,, ,,
१३–अण्डों में ,, ,, ,, २६ ,, ,,

इस अनुक्रमणिका से प्रगट है कि अन्न, मेवा, फल, घी, दूध, मलाई ही खाने योग्य अधिक शक्तिवर्धक पदार्थ हैं। मांस, मत्स्य, अन्डे आदि में उतनी शक्ति नहीं है और वह खाने याग्य नहीं हैं।

कतिपय महाशयों का कहना है कि विलायत आदि ठण्डे मुल्कों में इन मांसादि पदार्थों का खाना आवश्यक है। परन्तु हम ऊपर एक जर्मन डाक्टरका मत उद्धृत कर आए हैं, जिस से प्रमाणित है कि ऐसे ठन्डे मुल्कों के अधिकांश ग्रामीण वनस्पति आहार पर ही गुज़रान करते हैं। उनको मांस भोजन की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसके अतिरिक्त इङ्गलैन्ड, अमेरीका आदि देशों में घूमे हुए प्रसिद्ध थियोसूफिस्ट मि० सी०. जिनराज दास जी का कथन इस ओर विशेष प्रमाणीक है। आपने बम्बई में 'जीवदया ज्ञान प्रसारक फन्ड' के वार्षिक अधिवेशनमें ता०२सितम्बर १९१८को भाषण देते हुए कहा था-"मांस भोजन भी स्थूलबुद्धि का काम है। इस वर्तमान युद्ध के पहिले

पश्चिमीय देशोंमें मांसाहारकी विरुद्धता इतनी नहीं थी जितनी अब होगई है। लड़ाकू कौमों को शाकाहारी होना पड़ा है। क्योंकि शाकाहार से स्वास्थ्य अच्छा रहता है। शाकाहार के विरुद्ध एक भी युक्ति नहीं है। पश्चिमीय देशों में दौड़ लगाने, बाईस्कल पर चढ़ने, कुश्ती लड़ने आदि में शाकाहारियों ने मांसाहारियों पर बाज़ी मारली है। "ठण्डे देशों में भी मांसाहार की ज़रूरत नहीं है। पश्चिम के सर्द देशों में हज़ारों शाकाहारी रहते हैं। मैं इङ्गलैण्ड में १२ वर्ष शाकभोजन पर रहा। अमेरिका के चिकागो व कैनेडा में मैंने जाड़े शाकाहार पर काटे हैं तथा मांसाहारियों की अपेक्षा भले प्रकार जीवन बिताया है। शाकाहार के लाभ अगणित हैं।" ऐसी दशा में ठण्डे मुल्कों में भी मांस भोजन की आवश्यक्ता प्रतीत नहीं होती है।

अब केवल देखना यह है कि क्या धर्मशास्त्र मांस भक्षण और सुरापान करने को आज्ञा देते हैं? संसार के प्रख्यात धर्मों के शास्त्रों से हम इसका उत्तर पाने की चेष्टा करेंगे। जैनधर्म के विषय में हर कोई जानता है कि वहां दया महाप्रधान है। इसलिए मांस-मदिरादि सेवन की आज्ञा वहां से कभी नहीं मिल सकती है। प्रत्युत उस में इस विषय का यथार्थ वैज्ञानिक विवेचन मिलता है, जो अपने ढङ्ग का निराला और सर्वोत्कृष्ट है। इसका विवरण श्री सागारधर्मामृत में इस प्रकार दिया हुआ है:-

"तत्रादौ श्रद्दधज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुं।
मद्य मांस मधून्युज्झेत्पंचक्षीर फलानिच ॥ २ ॥

अर्थात्—"जो जीव गृहस्थधर्म में रहकर प्रथम ही श्री जिनेन्द्रदेव की आज्ञा पर श्रद्धान करता है ऐसे गृहस्थ को

मद्य आदि विषयों के सेवन करने से उन में राग करनेरूप जो भावहिंसा होती है और उन मद्यादि में उत्पन्न होनेवाले जीवों का विनाश होजाने से जो द्रव्यहिंसा होती है- इन दोनों तरह की हिंसा का त्याग करने के लिए मद्य, मांस, मधु का और पीपलादि पंच प्रकार के क्षीर वृक्ष के फलों का अवश्य त्याग करना चाहिये। श्लोक में दिये हुए 'च' शब्द का यह अभिप्राय है कि मद्य मांसादि के साथ उसे मक्खन, रात्रि को भोजन और विना छाना हुआ पानी इत्यादि चीजों का भी अवश्य त्याग करना चाहिये।" श्री मदमृतचन्द्राचार्य भी यही कहते हैं:-

मद्यं मांसंचौद्रं पंचोदुंबरफलानि यत्नेन ।
हिंसाव्युपरतकामै मोंक्तव्यानि प्रथममेव ॥

अर्थात्—"हिंसा त्याग करने की इच्छा करनेवालों को प्रथम ही यत्नपूर्वक मद्य, मांस, मधु, और ऊमर, कठूमर, पीपर, वड़, पाकर ये पांचों उदम्बरफल छोड़ देने योग्य हैं।" श्रीधर्म संग्रह श्रावकाचार में भी कहा गया है:-

"द्यूत क्रीडापलं मद्याऽऽखेटस्तेय परस्त्रियः ।
वेश्यंति व्यसना न्याहुदु :खदानीह योगिनः ॥

अर्थात्—"जूआ का खेलना, मांसका खाना, मद्यका पीना, शिकार का खेलना, चोरी का करना, परस्त्री का सेवन करना और वेश्या का सेवन करना ये सातों व्यसन दुःखों के देने वाले हैं। ऐसा मुनि लोगों का कहना है।" इस प्रकार स्पष्टरूप में जैन ग्रन्थों में मद्य-मांसादि के त्याग का विधान है। वल्कि इस नियम का पालन नियमित ढंग से होसके, इसलिए उस में इसका विशद विवेचन है। सागार धर्मामृत के निम्न श्लोक उसका सामान्य दिग्दर्शन हमको यहां करा देते हैं। मद्यादि के विषय में कहा गया है कि:—

"यद्येकबिन्दोः प्रचरन्ति जीवाश्चेत्तत् त्रिलोकीमपि पूरयन्ति ।
यद्विक्लवाश्चेममुं च लोकं यस्यंति तत्कश्यमवश्यमस्येत् ॥"

अर्थात्—"जिसकी एक बूंद में उत्पन्न हुये जीव निकल कर यदि उड़ने लगें तो उनसे ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक, ये तीनों ही लोक भर जांय। इसके सिवाय जिसके पीने से मोहित हुए जीव इस भव और परलोक दोनों लोकों का सुख नष्ट करते हैं-दोनों भवों को दुःख स्वरूप बना देते हैं। ऐसा जो मद्य है उसका अवश्य त्याग करना चाहिये।" फिरः-

"पीते यत्र रसांग जीव निवहाः क्षिप्रं म्रियंतेऽखिलाः ।
काम क्रोध भय भ्रम प्रभृतयः सावद्यमुद्यंति च ॥
तन्मद्यं व्रतयन्न धूर्तिल परास्कंदीव यात्यापदं—
तत्पायी पुनरेकपादिव दुराचारं चरन्मज्जति ॥ ५ ॥"

अर्थात्—"जिस मद्य के पीने के बाद ही उस मद्य के रस में उत्पन्न हुए अथवा जिसके समूहों से मिल कर वह मद्य का रस बना है ऐसे अनेक जीवों के सब समूह उसी समय मर जाते हैं, तथा काम, क्रोध, भय, भ्रम अर्थात् मिथ्याज्ञान अथवा चक्र के समान शरीर का फिरना, अभिमान, हास्य, अरति, शोक आदि निंद्य और पाप बढ़ाने वाले परिणाम उत्पन्न होते हैं। तथा जिसके न पीने का व्रत ग्रहण करने से जिस प्रकार धूर्तिल नाम के चोर को किसी तरह की विपत्ति नहीं हुई थी उसी प्रकार जिस कुलमें उत्पन्न होकर भी जो देव, गुरु, पंच आदि की साक्षी पूर्वक मद्य न पीने का व्रत ग्रहण करता है, अनेक तरह के दोषों से भरे हुए मद्य के छोड़ने का पक्का नियम कर लेता है उसको किसी तरह का दुःख नहीं होता। और जिसके पीने से जिस प्रकार एकपाद नाम के सन्यासी ने अविवेकी होकर चांडालिनी के साथ सहवास किया था,

मांस खाया था और न पीने योग्य चीज़ें पीयीं थीं तथा ऐसे दुराचरण करता हुआ वह अन्त में नरक आदि दुर्गतियों में गया था। उसी प्रकार जिस मद्यके पीने वाले अनेक दुराचरण करते हुये नरक आदि दुर्गतियों में डूबते हैं, उस प्रकारके मद्य को अवश्य छोड़ देना चाहिये।"

मद्यपान प्रत्येक धर्म में एक बड़ा बुरा कर्म बतलाया गया है, यह अगाड़ी दिये उद्धरणों से प्रमाणित हो जायगा। परन्तु साथ ही आज दरिद्र भारत इस दुराचरण के कारण किस प्रकार त्रसित और दरिद्र होता जारहा है, यह सहज अनुभव गम्य है। प्रत्येक वर्ष में भारतवासी क़रीब ७०-८० करोड़ रुपये की शराब आदि मादक वस्तुयें ख़रीद लेते हैं। अपने आप अपनी और अपने देश की बरबादी मोल ले लेते हैं। "कैथोलिक लीडर" नामक अंग्रेज़ीपत्र लिखता है कि "भारत सरकार की मादक वस्तुओं की आमदनी में बढ़ंवारी इस बातका भयानक चिन्ह है कि इस देशमें सुरापान का दुर्व्यवहार बढ़ रहा है। मादक वस्तुओं की बिक्री से सन् १९२२-२३ में सरकार को २०८,६७०,००० रु० की आमदनी हुई। यही आमदनी सन् १९११ में केवल ११४,१४०,००० रु० थी। सरकार को करीब २१ करोड़ रु० की आमदनी प्रति वर्ष होती है। परन्तु खरीदारों को ७० से ८० करोड़ रु०से कम नहीं देने पड़ते हैं। इस हिसाब से प्रत्येक व्यक्ति का मादक वस्तुओं का खर्च उसकी औसत आमदनी पर बहुत अधिक पड़ता है। तिस पर मद्य-व्यापार अनेक गृहस्थियों के दुःख-दर्द और बरबादी का कारण है।" ऐसी दशा में मद्य आदि मादक वस्तुओं को हाथ से छूना भी नहीं चाहिये। इसमें अपनी और अपने देश दोनों की भलाई है।

अब उक्त जैन ग्रन्थ में अगाड़ी मांस का निषेध करते हुए कहा गया है कि:—

"स्थानेऽश्नंतु पलं हेतोः स्वतश्चाशुचिकश्मलाः।
श्वादिलालावदप्यघुः शुचिंमन्याः कथंनुतत्॥ ६॥"

अर्थात्—"जो जाति कुलाचार आदि से मलिन अर्थात् नीच हैं वे लोहू वीर्य आदि से अपवित्र अथवा विष्ठा का कारण और विष्ठा स्वरूप होने से स्वभाव से ही अपवित्र ऐसे मांस को यदि भक्षण करें तो किसी तरह ठीक भी हो सकता है क्योंकि कदाचित् नीच लोगों की ऐसी प्रवृत्ति हो भी सकती है परन्तु जो आपको पवित्र मानते हैं आचार विचार से आत्मा को पवित्र मानते हैं, वे लोग बाज, कुत्ता आदि अपवित्र जीवों की लार के समान अपवित्र मांस को कैसे खाते हैं।" यहाँ पर ग्रन्थकार विवेकी पुरुषों को मांस त्याग करने का ही आदेश करते हैं। तथापि जो जिव्हालम्पट पुरुष अपनी रसनेन्द्रिय की तृप्ति के लिए मरे हुए पशुओं का मांस खाने की प्रवृत्ति करते हैं वह भी हिंसा के भागी हैं। मरे हुए पशुओं का मांस भी मनुष्य के लिए हितकर पाथेय नहीं है। इस ही बात को लक्ष्य कर उक्त जैन ग्रन्थ में लिखा है कि:—

"हिंस्रः स्वयं मृतस्यापि स्यादश्नन् वास्पृशन्पलं।
पक्कापक्का हितत्पेश्यो निगोदौघसुतः सदा॥ ७॥"

अर्थात्—"जो जीव मांस खाने वाले के बिना किसी प्रयत्न से अपने आप मरे हुये मछली, भैंसा आदि प्राणियों का मांस खाता है अथवा केवल उसका स्पर्श करता है वह भी द्रव्य हिंसा करने वाला हिंसक अवश्य होता है। क्योंकि मांस का टुकड़ा चाहे कच्चा हो, चाहे अग्नि में पकाया हुआ हो अथवा पक रहा हो उसमें अनन्त साधारण निगोद जीवों का समूह

सदा उत्पन्न होता रहता है। उसकी कोई अवस्था ऐसी नहीं है जिसमें जीवोंका समूह उत्पन्न न होता हो।" यही बात अन्यत्र भी कही गई है कि:—

"आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु ।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोदानां ॥"

अर्थात्—"बिना पकी, पकी हुई, तथा पकती हुई भी मांस की डलियों में उसी जाति के साधारण जीव निरन्तर ही उत्पन्न होते रहते हैं।" इसलिए मांस चाहे मृत पशु का हो अथवा पशु मार कर लाया गया हो. खाने योग्य नहीं है। उस का खाना तो दूर रहा छूने से ही अनन्त जीवों का घात होता है। और उसके खाने का संकल्प मात्र करने से ही अनेक दुःख उठाने पड़ते हैं। इसकी पुष्टि निम्न श्लोक द्वारा की गई है:—

"भ्रमति पिशिताशनाभिध्यानादपि सौरसेनवत्कुगतीः ।
तद्विरतिरतः सुगतिं श्रयति नरश्चंडवत्खदिरवद्वा ॥ ६ ॥"

अर्थात्—"जो जीव मांस भक्षण करने की इच्छा भी करता है वह सौरसेन राजा के समान नरक आदि अनेक दुर्गतियों में अनन्तकाल तक परिभ्रमण करता है। जब उसकी इच्छा करनेवाला ही दुर्गतियों में परिभ्रमण करता है तो उसे खाने वाला अवश्य ही भ्रमण करेगा–अनेक तरह के दुःख भोगेगा इस में कोई सन्देह नहीं है। तथा जिस प्रकार किसी पूर्वकाल में उज्जैन नगरी में उत्पन्न हुए चन्ड नाम के चांडाल ने अथवा खादिरसार नामक भीलों के राजा ने मांस का त्याग कर सुख पाया था, उसी प्रकार जिसने मांस भक्षण करना छोड़ दिया है वह प्राणी स्वर्ग आदि सुगतियों के अनेक सुख भोगता है।" साथ ही मद्य, मांस, मधु के त्यागी के लिए यह भी

आवश्यक है कि वह नवनी (मक्खन), उदुम्बर फलादि भी न खावे। तथा सात्विक भोजन दिन में ही करलेवे। रात्रि में भोजन करना वैद्यक दृष्टि से भी मना है। अन्न दिवस में जितनी जल्दी पचता है उतनी जल्दी रात्रि में नहीं पचता। तिसपर रात्रि में जीवों के प्राणघात का भय रहता है। ग्रन्थकार कहते हैं:-

> रागजीव वधापाय भूयस्त्वात्तद्वदुत्सृजेत् ।
> रात्रि भुक्तं तथा युञ्ज्यात् पानीयमगालितं ॥ १४ ॥

अर्थात्-"धर्मात्मा पुरुष जिस प्रकार मद्य आदि का त्याग करते हैं उसी प्रकार उन्हें रात्रि-भोजन का त्याग भी अवश्य करना चाहिये। क्योंकि रात्रि में भोजन करने से दिन की अपेक्षा विशेष राग होता है, अधिक जीवों का घात होता है और जलोदर आदि अनेक रोग हो जाते हैं। तथा ये ही सब दोष विना छने पानी के पीने में हैं। इसलिये धर्मात्मा पुरुषों को विना छने पानी का त्याग भी करना चाहिये। पानी पीने योग्य पदार्थ है, इसलिये पानी शब्द से पीनेयोग्य अर्थात् पानी, घी, तैल, दूध, रस आदि समस्त पतले पदार्थ लेना चाहिये। और इन सब को छान कर पीना चाहिये तथा विना छने का त्याग करना चाहिये।" डाक्टर लोग भी उक्त मत में सहमत हैं। वह सदैव साफकिया (Filtered) पानी ही इस्तैमाल करते हैं। इन नियमों के पालन से जो उत्तम फल मिलता है, उसी को निम्न श्लोक से स्पष्ट किया गया है :—

> "चित्रकूटेऽत्र मातङ्गी यामानस्तमितव्रतात् ।
> स्व भर्त्रा मारिता जाता नागश्रीः सागरांगजा ॥ १५ ॥"

अर्थात्-"यहां ही मालवा देश की उत्तर दिशा में प्रसिद्ध चित्रकूट पर्वत पर रहने वाली एक चाण्डालिनी को जागरिक

नाम के उसके पति ने मार डाला था, परन्तु उस चाण्डालिनी ने एक पहर तक अर्थात् तीन घण्टे तक रात्रि भोजन त्याग का व्रत पालन किया था। इस लिये उसी पुण्य के प्रभाव से वह चाण्डालिनी मर कर सेठ सागर दत्त की नागश्री नाम की पुत्री हुई थी। अभिप्राय यह है कि एक पहर तक ही रात्रि-भोजन का त्याग कर देने से चांडालिनी ने भी एक धार्मिक श्रीमान् के यहां जन्म लिया था। यदि इसे अच्छे गृहस्थ धारण करें तो फिर उन की बात ही क्या है उन्हें अवश्य ही स्वर्गादि के सुख मिलेंगे।" इस प्रकार जैनशास्त्रों का स्पष्ट विवेचन है। विधर्मी अन्य शास्त्रों में शायद ही इस प्रकार वैज्ञानिक रूप में नियमित विवेचन मिल सकें। अस्तु !

अब आइये पाठक गण ! हिन्दू धर्म के शास्त्रों से भी देखलें कि वे मद्य, मांस, मधु आदि के विषयमें क्या कहते हैं ? पहिले जब हम उन में अहिंसा की मान्यता देख आए हैं, तो यह सहज अनुभव गम्य है कि वह इनके त्यागका ही उपदेश देंगे। वास्तव में बात भी यही है। वेद, पुराण, ब्राह्मण और उपनिषद् सब ही सात्विक भोजन-पान का ही विधान करते हैं। वाराह पुराण में वाराह जी ने वसुन्धरा से अपने बत्तीस अपराधियों में से मांसाहारी को अठारवां और सुरापान करने वाले को २४ वां अपराधी कहा है; यथा :—

> "यस्तु मात्स्यानि मांसानि भक्षयित्वा प्रपद्यते।
> अष्टादशापराधं च कल्पयामि वसुन्धरे !" ॥ २१ ॥ अ० ११७ ॥
>
> "सुरां पीत्वा तु यो मर्त्यः कदाचिदुपसर्पति।
> अपराधं चतुर्विंश कल्पयामि वसुन्धरे !" ॥ ७७ ॥

(वराह पुराण—कलकत्ता गिरीश विद्यारत्न-प्रेस में मुद्रित पत्र ५०८)

एक अन्य शास्त्र में एक जीव के पीछे आठ मनुष्य पातक के भागी गिने गए हैं :-

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥"

भावार्थ—"मारने में सलाह देने वाला, शस्त्र से मरे हुए जीवों के अवयवों को पृथक् २ करने वाला, मारने वाला, मोल लेने वाला, बेचने वाला, संवारने वाला, पकाने वाला और खानेवाला, ये सब घातक ही कहलाते हैं ।" ऐसी अवस्था में मांस खानेवाला ही नहीं प्रत्युत उसको छूने अथवा संकल्प करने वाला भी पाप का भागी है । उसे भी मांसाहारी की भांति अनेक दुःख उठाने पड़ेंगे । इसीलिए 'मनुस्मृति' में कहागया है कि :-

"समुत्पत्तिं च मांसस्य वध बन्धौ च देहिनाम् ।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वं मांसस्य भक्षणात् ॥ ४९ ॥ अ० ५ ॥"

भावार्थ—"मांस की उत्पत्ति एवं प्राणियों के वध तथा बन्ध को देखकर सर्व प्रकार के मांस भक्षण से मनुष्य को निवृत्त होना चाहिये ।" इस माँस त्याग के महत्व को अगाड़ी मनु जी इस प्रकार स्पष्ट करते हैं :-

"फल मूलाशनैर्मेध्यै मुन्यन्नानां च भोजनैः ।
न तत्फल मवाप्नोति यन्माँस परिवर्जनात् ॥ ५४ ॥"

अर्थात्—"जो पवित्र फल मूलादि तथा नीवरादि के भोजन करने से भी फल नहीं मिलता वह केवल मांसाहार के त्याग करने से मिलता है ।" और पशुघात का महत्व कितना गहन है, वह इस तरह वतलाया गया है :-

"यावन्ति पशु रोमाणि पशु गात्रेषु भारत !
तावद् वर्ष सहस्राणि पच्यन्ते पशु घातकाः ॥"

भावार्थ-"हे भारत ! पशु के शरीर में जितने रोम हैं उतने हजार वर्ष पशु के घातक नर्कमें जाकर दुःख भोगते हैं। यानी स्वकृत कर्मानुसार ताड़न, तर्जन, छेदन, भेदनादि क्रिया को सहते हैं। ऐसे स्पष्ट लेख रहने पर भी हिंसा में धर्म मानने वाले मनुष्य महानुभाव भद्र लोगों को भ्रम में डालने के लिये कुयुक्ति देते हैं कि विधिपूर्वक मांस खाने से स्वर्ग होता है, इतनी आज्ञा देने से अविधि से मांस खाने वाले लोग भय से रुक जावेंगे और हिंसा भी नियमित होगी इत्यादि कुत्सितविचारोंके उत्तरमें समझना चाहिये कि अविधि से मांस खाने वाले तो अपने आत्मा की निन्दा और पश्चाताप भी करेंगे, क्योंकि आत्मा का स्वभाव माँस खाने का नहीं है। किन्तु विधिपूर्वक मांस खानेवाले तो पश्चाताप भी नहीं करते, बल्कि धर्म मानकर प्रसन्न होते हैं, तथा एक बार मांस का स्वाद लेने से समय २ पर देव पूजा के व्याज से उदर की पूजा करेंगे और हिंसा के निषेध करने वाले के सामने विवाद करने को तैयार होंगे। तब सोचिए कि इस से अनर्थ हुआ कि लाभ ?" *

वस्तुतः मांस के लिए पशु वध करने से घोर तपस्या भी नष्ट हो जाती है। महाभारत शान्तिपर्व के मोक्षाधिकार में अ० २७३ पृष्ठ १५४ पर यही लिखा है :-

"तस्य तेनानुभावेन मृग हिंसाऽऽत्यनःस्तदा।
तपो महत् समुच्छिन्नं तस्माद् हिंसा न यज्ञिया॥ १८॥
अहिंसा सकलोधर्मोऽहिंसा धर्मस्तथा हितः।
सत्यं तेऽहं प्रवक्ष्यामि नो धर्मः सत्य वादिनाम्॥ २०॥"

भावार्थ-"स्वर्ग के अनुभाव से एक मुनि ने मृग की हिंसा की, तब उस मुनि का जन्मभर का बड़ाभारी तप नष्ट होगया।

---

* अहिंसा दिग्दर्शन पृष्ठ २५-२६

अतएव हिंसा से यज्ञ भी हित कर नहीं है। वस्तुतः अहिंसा ही सकल धर्म है और अहिंसा धर्म ही सच्चा हितकर है। मैं तुम से सत्य कहता हूं कि सत्यवादी पुरुष का हिंसा करने का धर्म नहीं है।" दया ही उसका मुख्य धर्म-कर्म है। उसका फल भी अपूर्व है, जैसे कि महाभारत शान्तिपर्व के प्रथम पाद में लिखा है कि:-

सर्वे वेदा न तत् कुर्युः सर्वे यज्ञाश्च भारत !
सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च यत् कुर्यात् प्राणिनां दया ॥"

भावार्थ-" हे अर्जुन ! जो प्राणियों की दया फल देती है वह फल चारों वेद भी नहीं देते और न समस्त यज्ञ देते हैं तथा सर्व तीर्थों के स्नान वन्दन भी वह फल नहीं दे सकते हैं।" इसलिये महाभारत शान्तिपर्व के २६५ वें अध्याय में कहा गया है कि :-

'सुरां मत्स्यान् मधु मांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतत् नैतद् वेदेषु कल्पितम् ॥ ६ ॥"

भावार्थ-"मदिरापान, मत्स्यादन, मधु-मांसभोजन, आसव याने मद्य का पान और तिलमिश्रित भात का भोजन, ये सब धूर्तों से ही कल्पित हुआ है किन्तु वेद कल्पित नहीं है।" अर्थात् वेद मदिरापान आदि का निषेध करते हैं। इसी ग्रन्थ के अनुशासन पर्व के अध्याय ११६ पृष्ठ २२६ में युधिष्ठिर भीष्मपितामह से निम्न प्रकार प्रश्न करते हैं :-

"इमे वै मानवा लोके नृशंसा मांस गृद्धिनः।
विसृज्य विविधान् भक्ष्यान् महारक्षो गणा इव ॥
अपूपान् विविधाकारान् शाकानि विविधानि च।
खाण्डवान् रसयोगान्नं तथेच्छन्ति यथाऽमिषम् ॥
तत्र मे बुद्धिरत्रैव विषये परि मुह्यते ।
न मन्ये रसतः किंचिन् मांसतो ऽस्तीति किञ्चन ॥

"तदिच्छामि गुणान् श्रोतुं मांसस्याभक्षणे प्रभो।
भक्षणे चैव ये दोषास्तांश्चैव पुरुषर्षभ॥"

"सर्वं तत्वेन धर्मज्ञ! यथावदिह धर्मतः।
किञ्च भक्ष्यमभक्ष्यं वा सर्वमेतद् वदस्व मे॥"

"यथैतद् यादृशं चैव गुणा ये चास्य वर्जने।
दोषा भक्षयतो येऽपि तन्मे ब्रूहि पितामह!"

भावार्थ—"यह प्रत्यक्ष दृश्यमान मनुष्यलोग, लोक में महा राक्षस की तरह दिखाई देते हैं, जो नाना प्रकार के भक्ष्यों को छोड़कर मांसलोलुप मालूम होते हैं। क्योंकि नाना प्रकार के अपूप (पूवा) तथा विविध प्रकार के शाक, खाण्ड (चीनी) से मिश्रित पक्वान्न और सरस खाद्य पदार्थ से भी विशेषरूप से आमिष (मांस) को पसन्द करते हैं। इस कारण इस विषय में मेरी बुद्धि मुग्धसी होजाती है कि मांसभोजन से अधिक रसवाला क्या कोई दूसरा भोजन नहीं है? इससे हे प्रभो! मांस के त्याग करने में क्या २ गुण होते हैं, पहले तो मैं यह जानना चाहता हूं; पीछे खाने में क्या २ दोष है यह भी मुझे जानना है। हे धर्मतत्वज्ञ! यथार्थ प्रमाण के द्वारा यहां पर मुझे भक्ष्य और अभक्ष्य बतलाइये, अर्थात् मांस खाने में जैसा दोष और गुण होता है वैसा कहिए। "भीष्मपितामह ने उत्तर में कहा :—

"एवमेतन्महाबाहो! यथावदसि भारत।
न मांसात्परमं किञ्चित् रसतो विद्यते भुवि॥
क्षत क्षीणाभितप्तानां ग्राम्यधर्मरतात्मनाम्।
अध्वना कर्षितानां च न मांसाद् विद्यते परम॥
सद्यो वर्द्धयति प्राणान् पुष्टिमग्र्यां दधाति च।
न भक्ष्योऽभ्यधिकः कश्चिन्मांसादस्ति परन्तप॥

विवर्जिते तु बहवो गुणाः कौरवनन्दन ।
ये भवन्ति मनुष्याणां तान्मे निगदतः शृणु ॥
स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितु मिच्छति ।
नास्ति क्षुद्र तरस्तस्मात् स नृशंसतरो नरः ॥
न हि प्राणात् प्रियतरं लोके किञ्चन विद्यते ।
तस्माद् दयां नरः कुर्याद् यथाऽऽत्मनि तथा परे ॥
शुक्राच्च तात ! संभूतिर्मांसस्येह न संशयः ।
भक्षणे तुमहान् दोषो निवृत्त्या पुण्यमुच्यते ॥
यत् सर्वे ष्विह भूतेषु दया कौरव नन्दन ।
न भयं विद्यते जातु नरस्येह दयावतः ॥
दयावतामिमे लोकाः परे चाऽपि तपस्विनाम् ।
अहिंसा लक्षणो धर्म इति धर्म विदो विदुः ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः ।
अभयं तस्य भूतानि ददतीत्यनुशुश्रुम ॥
क्षतं च स्खलितं चैव पतितं कृष्टमाहतम् ।
सर्वभूतानि रक्षन्ति समेषु विषमेषुच ॥
नैनं व्याल मृगा घ्नन्ति न पिशाचान राक्षसाः ।
मुच्यते भयकालेषु मोक्षयेद् यो भये परान् ॥
प्राणदानात्परं दानं न भूतं च भविष्यति ।
न ह्यात्मनः प्रियतरं किंचिदस्तीह निश्चितम् ॥
अनिष्टं सर्वभूतानां मरणं नाम भारत ।
मृत्युकालेहि भूतानां सद्यो जायेत वेपथुः ॥
जातिजन्म जरा दुःखैर्नित्यं संसार सागरे ।
जन्तवः परिवर्तन्त मरणादुद्विजन्तिच ॥
नात्मनोऽस्ति प्रियतरः पृथिवी मनुसृत्यह ।
तस्मात्प्राणिषु सर्वेषु दयावानात्मवान् भवेत् ॥

सर्वं मांसानि यो राजन् यावज्जीवं न भक्षयेत् !
स्वर्गे स विपुलं स्थानं प्राप्नुयान्नात्र संशयः ॥
ये भक्ष्यन्ति मांसानि भूतानां जीवितैषिणाम् ।
भक्ष्यन्ते तेऽपि भूतैस्तैरिति मे नास्ति संशयः ॥
माँस भक्षयते यस्माद् भक्षयिष्ये तमप्यहम् ।
एतद् मांसस्य मांसत्व मनुबुद्धयस्व भारत !
येन येन शरीरेण यद् यत्कर्म करोति यः ।
तेन तेन शरीरेण तत्तत्फल मुपाश्नुते ॥
अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दमः ।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ॥
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाऽहिंसा परं फलम् ।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ॥
सर्व यज्ञेषु वा दानं सर्व तीर्थेषु वाऽऽप्लुतम् ।
सर्वं दान फलं वाऽपिं नैतत्तुल्यमहिंसया ॥
अहिंस्रस्य तपोऽक्षय्यमहिंस्रो यजते सदा ।
अहिंस्रः सर्व भूतानां यथा माता यथा पिता ॥
एतत्फलमहिंसाया भयश्च कुरु पुङ्गव !
न हि शक्या गुणा वक्तुमपि वर्ष शतैरपि ॥"

भावार्थ–"हे भारत ! पृथ्वी में कोई वस्तु मांस की अपेक्षा किसको अच्छी नहीं लगती है यह स्पष्ट किए बिना बनता नहीं है; इसलिए जो मांस को उत्तम मानते हैं वे पुरुष दिखलाये जाते हैं अर्थात् घायल पुरुष, क्षीण, सन्तापी, विषयासक्त, और मार्गादि परिश्रम से थके हुए पुरुष ही मांस को अपेक्षा से अधिक अच्छा पदार्थ अपनी समझ से कुछ भी नहीं समझते हैं और केवल मांसाहार से ही शरीर की पुष्टि मानते हैं; इस लिये उनकी समझ से मांस से अच्छा कोई दूसरा भक्ष्य नहीं

है। किन्तु धर्मात्मा पुरुष तो मांसाहार को कदापि स्वीकार नहीं करते। हे कौरव नन्दन! मांसाहार त्याग करने से मनुष्यों को जो गुण होते हैं उनका दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है। जो पुरुष दूसरे के मांस से अपने मांस की वृद्धि करना चाहता है उस निर्दय पुरुष से दूसरा पुरुष हजार कुकर्म करने वाला भी अच्छा हो है, क्योंकि संसार में प्राण से बढ़कर कोई दूसरी वस्तु प्रियतर नहीं है। अतएव हे पुरुष श्रेष्ठ! अपने आत्मा पर जैसा तुम प्रेमभाव रखते हो वैसा ही दूसरों के प्राणों पर भी करो। तथा वीर्य से ही मांस की उत्पत्ति होती है यह बात भी सभी को सम्मत है क्योंकि इसमें किसी को कुछ भी सन्देह नहीं है। अतएव उसके खाने में बहुत दोष है और त्याग करने में बहुत पुण्य है। हे युधिष्ठिर! सब प्राणियों में दया करने वाले पुरुष को कभी भय नहीं होता और दयावान पुरुष का और तपस्वी जनों को ही यह लोक और परलोक दोनों अच्छे होते हैं; इसलिये हम लोग अहिंसा को ही परम-धर्म मानते हैं। जो पुरुष दया में तत्पर होकर सब प्राणियों को अभय दान देता है वही पुरुष सब भूतों से अभय पाता है ऐसा मैं ने सुना है। धर्मात्मा पुरुष तो आपत्ति काल में और सम्पत्ति काल में सब भूतों की रक्षा ही करता है। किन्तु वर्तमान काल के कितने ही स्वार्थी पुरुष दया नहीं करते और कितने ही धर्मतत्त्व के जानकार होने पर भी अपने पास पाले हुए गौ, भैंस, घोड़े वगैरह को जब बेकार देखते हैं तब उन्हें पशुशाला में छोड़ देते हैं या दूसरों के हाथ बेच देते हैं। किन्तु बहुत से नास्तिक लोग तो अनुपयोगी जानवरों को गोली से मार देते हैं; यदि इसका मूल कारण देखा जाय तो हृदय में दया देवी का संचार न होना ही है तथा सामान्य नीति को

भी स्वार्थान्ध होने के कारण नहीं देखते हैं, किन्तु सच्चे धार्मिक पुरुष तो अनुपयोगी पशु का भी पालन करते हैं। पूर्वोक्त निःस्वार्थ दया करने वाले पुरुष पर व्याघ्र, सिंह, पिशाच, राक्षसादि कोई भी क्रूर जन्तु कभी उपद्रव नहीं करते। इसलिये संसार में प्राण दान से अधिक कोई दान नहीं है क्योंकि प्राण से अधिक प्रिय कोई भी चीज़ दिखाई नहीं पड़ती है। हे भारत! सब प्राणियों को मृत्यु के तुल्य कुछ भी अनिष्ट दिखाई नहीं देता।" (अहिंसा दिग्दर्शन पृष्ठ ७०–७६)

वेदों में भी मांस खाना बुरा बताया गया है। अथर्ववेद अ०६ ऋचा ७०–१ में मांस, सुरापान आदि अभक्ष्य बतलाये गए हैं। ऋग्वेद में भी कहा गया है कि "वह व्यक्ति जो पशु का मांस, घोड़े का मांस और मानव शरीरोंका भक्षण करते है उनके सिर, मित्र फोड़ डालो।" (१०। ८७। १६) "हे अग्नि! जल और अपने मुखमें मांसभक्षियों को रख।" (ऋग्वेद १०। ८७। २) मनुस्मृति में फलते हुए वृक्ष को काटना, मधु, मक्खनका खाना, आदि कर्म वर्जित बतलाए गए हैं। (देखो ११। १४१–१४५) चाणक्यनीति पूर्वार्ध अ० २८ श्लोक २२ में कहा है कि "मांस खाने वाले, शराब पीने वाले और अनक्षर मूर्ख यद्यपि मनुष्य कम हैं परन्तु वास्तव में वह पशु हैं कि जिनके बोझ से वृथा पृथ्वी दबी हुई है।" इस प्रकार हिन्दूधर्म में भी हम मांस-मधु और मद्य का निषेध ही पाते हैं। हिन्दू लोग अपने शास्त्रों के इन वाक्यों का ध्यान कर के इन अभक्ष्य पदार्थों का कभी भक्षण नहीं कर सकते हैं। तथा निम्न के उद्धरणों को देखते हुए उनके लिये छान कर पानी पीना और रात्रि भोजन त्याग लाज़मी हो जाते हैं। मनुस्मृति में कहा है कि:—

दृष्टि पूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्य पूतां वदेद्वाचं मनः पूतं समाचरेत् ॥ ६ ॥ ४६ ॥"

"अहिंसाधर्मप्रकाश" में यह मत यूँ छन्दबद्ध किया गया है :—

"नयन देखि भूपद धरें, पानी पीवें छान।
सच बोले मन शुद्ध रखे मनु भी करत बखान ॥"

"मार्कण्डेय पुराण" में कहा गया है कि सूर्य के अस्त होने पर भोजन-पान करना रुधिर मांस का खाना है। यथा :—

"अस्तंगते दिवानाथे आपो रुधिर मुच्यते।
अन्न मांस सम प्रोक्तं मार्कण्डेन महर्षिणा ॥"

यही बात निम्नश्लोक द्वारा हिन्दुओं के पद्मपुराण में स्पष्ट की गई है:—

"मद्य मांसा शनांशनौ भोजनं कंदभक्षणं।
ये कुर्वन्ति वृथास्तेषां तीर्थयात्रा जपस्तपः ॥"

अतएव हमारे हिन्दूभाइयों को प्रकृति और अपने शास्त्रों के अनुरूप में मांस आदि का त्याग करके पूर्ण अहिंसक बनके और अपनी एवं अपने देश की भलाई करके जगत को कल्याण मार्ग पर ले आना आवश्यक है। उनका गौरव इसीमें है।

अब आइए पाठकगण, इस्लामधर्म में भी मद्य-मांस आदि अभक्ष्यपदार्थों के विषय में दिग्दर्शन करलें। ज़ाहिर तो हमको हमारे मुसलमान भाई इन अभक्ष्य पदार्थों के परहेज़गार दिखते नहीं हैं। इसीही कारण हम-हिन्दूगण बहुधा इन से घृणा और उपेक्षा करते हैं। यही विश्वास करलेते ह कि इनके धर्म में अहिंसा को कोई स्थान ही प्राप्त नहीं है। परन्तु दर असल बात ऐसे नहीं है हम पहले ही इस धर्म में अहिंसा की भी स्वीकृति देख चुके हैं। और यहां भी इस्लाम धर्म के शास्त्रों से उद्धरण उपस्थित करके इस विषय में उनके पूर्वजों का मत

प्रकट करेंगे। कुरान शरीफ की निम्न आयत मांस भोजन का विरोध ही करती है। जिसका भाव इस प्रकार है कि—

"इस दिन स्वास्थ्यकारक पदार्थ तुम्हारे लिए बताये गए हैं और मांस उन ही जीवों का जिन्होंने शरीयत (शास्त्रों) को पालिया है, जायज़ है; उसी तरह जिस तरह तुम्हारा मांस उनके लिए जायज़ है।* दूसरे शब्दोंमें इस का अर्थ यही है कि यदि तुम अपना मांस दूसरों को खिला सकते हो तो दूसरों का मांस तुम भी खा सकते हो। परन्तु हम प्रत्येक को देखते हैं कि कोई भी अपने शरीर का मांस दूसरे को नहीं खिला सकता है। उसे इस से बड़ा कष्ट दिखाई पड़ता है। ऐसी अवस्था में हज़रत मुहम्मद यहां पर मांस भोजन का निषेध ही कर रहे हैं। वह स्वयं निरामिषभोजी थे। फिर 'सूरामाइदाह पारा वाज़ा समऊर कोय १२' में भी मांस भोजन का निषेध ही है। वहां लिखा है कि "वकलअममारक कमअल्लाहलालातईबनवअलत्कूअल्ला" अर्थात् "ऐ मोमनों! खाओ सुथरी चीजें अर्थात् जिनके खाने से तुमको फायदा हो, शरीर पुष्ट हो, दीन-दुनियांमें हितकर हो, न तुम्हारे शरीर को हानि देवे, न कोई तुम पर ऐतराज़ करे, न उससे नुक़सान वाक़ै हो, न तुम्हारी रियाज़त व इबादतमें फितूर आवे।" इसी लिए कुरान शरीफ में अगाड़ी कहा गया है कि "अलशमरात ज़रक़ालकम्........।" अर्थात् "ख़ुदा ने तुम लोगों के रज़क के लिए मेवा व फल अता किया है।" इस प्रकार इस्लाम में भी माँस का स्पष्ट निषेध है। तथा सुरापान और शिकार का भी निषेध कुरान शरीफ में है। वहां जो कहा गया है उसका तर्जुमा इस प्रकार है:-

* The Ethics of Koran p. 46

"ऐ मोमिनो ! दरअसल शराब और मौक़े के शिकार और बुत और—(divining) तीर शैतान के वरग़लाने के काम हैं। उन्हें छोड़ो कि तुम फलो फूलो ! इन कामों से शैतान तुम में द्वेष और अनैक्य के बीज बोवेगा-शराब और मौक़े के शिकारों से तुम्हें परमात्मा की स्मृति और प्रार्थना से अलग करेगा-इस लिए क्या तुम इनसे परहेज़ नहीं करोगे ?"*

हज़रत मुहम्मद की रवायतों में भी शुद्ध भोजन करने वाले और मानवों की भलाई करने वाले को स्वर्ग का अधिकारी बतलाया है।‡

यही बात 'हदीस' में मना की गयी है, जैसेः—"क़ातेउल-शजर, क़ायेउलबकर, दाइमुलख़मसर, नायमुस्सहर, मानेउलमतर, बाइयलुबशर, इब्दन्फीलसकर यानी सब्ज़ दरख़्त का काटने वाला, गाय को मारने वाला, शराब पीने वाला, सुबह के वक्त सोने वाला, बारिश होने को मना करने वाला और आदमी को बेचने वाला हमेशा के लिए जहन्नुम में जाता है।" इसी तरह फ़िर्क़ा अलविया जो अपने को हज़रत अली की औलाद से बतलाते हैं और गोश्त नहीं खाते हैं कहते हैं हज़रत अली अलयस्सलाम का इरशाद है कि मत बनाओ शिकमों (पेटों) को हैवानों (पशुओं) की क़बरें।" और यह भी कहते हैं कि क़ुरान शरीफ़ में जो कतिपय पशुओं का मांस खाना लिखा है वह "मिन्जानिब हज़रत अबूबकर-उसमान-उमर और इनके पैरवों के हैं।" मूलमें मांस-मद्य का निषेध ही है।

---

* The Ethics of Koran P. 92

‡ The Sayings of Muhammad P. 64

'सीरुल्मिताखरीन्' जिल्द अव्वल पृष्ठ १८४-१८५ (आगरा कालिज-हालात अकबर आज़म) में लिखा है कि "वह (अकबर) किसी का दुःख नहीं देख सक्ता था। मांस बहुत कम खाता था। जिस तारीख़ को पैदा हुआ उस दिन और उससे कुछ रोज़ पहले और पीछे भी बिल्कुल न खाता था और हुक्म था कि इन तारीखों में कुल मुमालिक महरूसा में कोई जानदार ज़िबह (क़त्ल) न हो। जहां होता था वहां चोरी छिप्पे से होता था। फिर इस महीने और इससे और पिछले माह में तर्क (छोड़) कर दिया। फिर जितने वर्ष उम्र के थे उतने दिन पहले और पीछे छोड़ दिये और कहता था कि मांस आखिर दरख़्त (वृक्ष) में नहीं लगता-ज़मीन (पृथ्वी) से नहीं उगता-जानदार के बदन से कटकर जुदा होता है। उसे दुःख होता है। अगर इन्सान (मनुष्य) हैं तो हमें भी दर्द आना चाहिए। हज़ारों नियामतें खुदा ने दी हैं-खाओ पीओ और मज़े लो। जरा से चटखारे के लिए कि पल भर से ज़्यादह नहीं रहता जानका ज़ाया (नाश) करना बड़ी बेअक़्ली और बे रहमी है।" (देखो आइने हमदर्दी पृष्ठ ५०-५५) शहंशाह अकबर आज़म के इन शब्दों पर हमारे मुसलमान भाइयों को ध्यान देना चाहिए। आखिर सम्राट् बाबर भी मांस-मदिरा का सेवन करते रहने के लिए पश्चाताप करते हैं, जैसे कि निम्न के उद्धरण से प्रकट है:—

'महाराणा संग्रामसिंह से बाबर का युद्ध होरहा था। उस में बाबर की परास्त यहां तक हुई कि उसका सब परिश्रम ही निष्फल होता प्रतीत होने लगा। उस को मन ही मन बड़ा कष्ट हुआ। इस प्रकार चिन्ता करते १५ दिन बीत गए, कोई उपाय न सूझा। उस काल बाबर ने मानवी शक्ति के तुच्छ

आश्रय को छोड़ कर ईश्वर के ऊपर भरोसा किया और अपने पापों का प्रायश्चित्त करने के लिये भगवान्‌से प्रार्थना करने लगा। बाबर ने अपने प्रायश्चित्त का विस्तृत वर्णन अपने जीवन-चरित्र में भली भाँति लिखा है।

बाबर ने लिखा है कि '९३३ हिजरी पहली जेमाहीके तेरहवें दिन सोमवार को घोड़े पर सवार हो अपनी फ़ौज देखने चला. मार्ग में मुझे बड़ी चिन्ता हुई मैं प्रतिज्ञा कर चुका था कि जो बातें हमारे मत के विरुद्ध होंगी मैं उन पर हाथ न डालूंगा. तथा अपने किए पापों का प्रायश्चित्त करूंगा, इस का पालन आजतक न हो सका।" इस पर जो उसने कहा उसका भाव यह है "ए दिल तू कब तक पाप का सुख भोगता रहेगा. पछतावा कड़ुवा नहीं है उसका स्वाद ले। रे मूढ़ तू पाप में पड़ कर कितना निकृष्ट हुआ: निराशा में पड़े पड़े तैने क्या सुख भोगा? कितने दिनतक तू ऐश्वर्य का दास बना रहा. तेरे जीवन का कितना समय व्यर्थ गया, आ मैं पवित्र धर्म की ओर चलूँ। जिससे कि मरने के पीछे तुरन्त मुक्ति मिले। नजात पाने के लिए जो मनुष्य अपना जीवन त्याग करता है वही बड़ा है, और वही मुक्ति पाता है: इस कारण अरे मूर्ख मन! उसके पाने के लिये सब बुरे भोग और बुरी वासनाओं को त्याग, और जितने तेरे कुकर्म हों उन सब को छोड़।"

"इस प्रकार दुष्कर्मों को छोड़ कर मैंने प्रतिज्ञा की कि आज से कभी मद्यपान न करूँगा। फिर सेवकों को आज्ञा दी कि मद्यपान के सोने चाँदी और शीशे के समस्त बर्तन लाये जावें, उनके आते ही मैंने उनको तोड़ डाला। और आगे से मद्य न पीने की प्रतिज्ञा की और उनको दीन भिखारी लोगों में

घटवा दिया. सब से प्रथम जिस पुरुषने प्रायश्चित्त कर पापों से अलग होने में मेरा अनुकरण किया उसका नाम अफ्सस है।.......दूसरे दिन दरबार और सेना के ३०० पुरुषों ने मेरे समान प्रायश्चित्त और मन शुद्ध करने का प्रण किया। मैंने अपने पासको मदिरा को जमीन पर फेंक दिया। ...... जहां मद्य फेंकी गई थी वहां पत्थर का एक खोखला स्तम्भ और यतीमखाना बनवाने की आज्ञा दी। ....

"इससे पहिले मैं (बाबर) कह चुका हूं कि ऊपर लिखी घटना के हेतु से उच्च नीच सभी भय से उत्साह हीन होगए थे किसी के मुख से भी पुरुषार्थ भरी साहस की बात नहीं निकलती थी।............अन्त में सब को निराश देख चित्त स्थिर कर मैं सोचने लगा, और उमराव तथा सेना के लोगों को बुलाकर कहा 'माननीय सज्जन सैनिको! जो भी इस संसार में आया है, उसे मृत्यु के आगे शिर झुकाना पड़ा है।.........यह संसार जीवन का एक उत्सव स्थान है. इस में मिलने के लिए जो लोग जाते हैं. वे इस उत्सव के समाप्त होने से पहले ही यहां से चले जाते हैं। यह संसार दुःख का आगार और ध्वंस के मुसाफिरखाने की समान है। सैकड़ों यात्राओं से निकाल कर जो कोई यहां तक पहुंचता है. निश्चय ही उसे एक दिन विदा होना पड़ता है; परन्तु क्या हम इस से यहसमझ लें कि मनुष्य के जीवन का कुछ भी उद्देश्य नहीं है? क्या कलंक और दुर्नामता में पड़कर जीवन विताना चाहिए? पशुओं की समान इन्द्रिय-सेवन करते हुए सदा आलस में रहने के ही लिये, क्या दयामय परमेश्वर ने मनुष्यों को इस जगत् में भेजा है? क्या हम लोग कीर्ति, मान, मर्यादा का भोग न कर सकेंगे?

विचार देखो कि कलंक और अपयश से दबे हुए मस्तक को लेकर जीवन व्यतीत करने की बनिस्बत सन्मान और प्रतिष्ठा का स्वर्ण मुकुट शिर पर धारे हुए जीवन विसर्जन करना कितना बढ़ कर प्रशंसा के योग्य है। यह देह अनित्य है, जगत् में कोई किसी का नहीं है: सब ही मृत्यु के वशीभूत हैं: मान, गर्व, यश, एक छिन-लव ही न रहेंगे, सब ही एक दिन काल के गर्भ में लीन हो जायंगे, जब मरना ही है तो यश के साथ क्यों न मरें जिससे कि किसी प्रकार का दुःख न रह जाय।"*

बाबर ने इस तरह धर्म का आश्रय लेकर, अपने कृत पापों का प्रायश्चित अपनी फौज के साथ करके विजय लाभ प्राप्त किया था!

हज़रत हाफ़िज तो बड़े ज़ोरों के साथ ऐसे शराब नोश मुसलमानों की तरदीद करते हैं। यह कहते हैं कि "अगर तुझे शराब पीनी है तो अपना खालिस खून पी, अगर कबाब खाना मतलूब है तो दांतों से अपना कलेजा चबा, अगर खुदा की तलाश है तो "कुन्जबहदाया" (नाम किताब) में वह नहीं मिल सक्ता, बल्कि अपने दिलको किताब में देख; क्योंकि इन से अर्थात् नफ़सकुशी (इन्द्रिय निग्रह) से बहतर न तो कोई शराब है, न कबाब और न कोई किताब हो है।" (Ibid. P. 61)

"तहक़ीक़ात अहमदिया" नामक पुस्तक के पृष्ठ ८५ पर सरसैयद अहमदखां साहब लिखते हैं कि "पहले आदम को सिर्फ दरख्तों के फल खाने की इजाजत थी—हैवानात के

* देखो टाड साहब का राजस्थान का इतिहास (हिन्दी अनुवाद-वेंक-टेश्वर प्रेस) भाग १ पत्र २५४-५५।

खाने की इजाजत नहीं थी।" यह तो बाद के लोलुपी लोगों की ही वजह से इस्तेमाल में आगया है। कोई भी धर्म इन अभक्ष्य पदार्थों के खाने की आज्ञा नहीं दे सक्ता। यही हाल हम इस्लाम धर्म का देखते हैं। उसमें इन अभक्ष्य पदार्थों का साफ निषेध भी मौजूद है। मुसलमान लोगों को अपने पूर्वजों का मूल भाव समझना आवश्यक है।

अब ईसाइयों के मज़हब की भी पड़ताल करलें। क्या उसमें मद्य मांसादि का व्यवहार उपयुक्त बतलाया गया है? प्रथम ही बाइबिल की दस आज्ञाओं (The Commandments) में इनका निषेध है। "Thou Shall not kill" यही छटी आज्ञा हिंसा करने की मनाई करती है। और मद्य-मांसादि के पीने में हिंसा होती है, यह हम देख ही चुके हैं, इस लिए ईसाई धर्म इन अभक्ष्य पदार्थों के खाने का विधान नहीं कर सक्ता है, यही कारण है कि बाइबिल में स्पष्ट कहा गया है:—

"खुदा ने कहा कि देखो हमने तुमको समस्त पृथ्वी तल पर के बीज और पेड़ औरवनस्पति प्रदान की है। और प्रत्येक वृक्ष जिसमें फल और बीज होता है तुम को देता हूं। बजाय गोश्त (मांस) के यह तुम्हारी खूराक है।" *यही बात निम्न आयत में कही गई है:—

"वनस्पति का भोजन जिस में सहत है उत्तम है बनिस्वत तबेले के बैलके कि वह घृणाकारक है।"‡ इस निरामिष भोजन को ही सराहना हज़रत लूका ने की है, यथा:—

"मुबारक है वह जो रोटी खायेगा खुदा की बादशाहत में।"†

---

*Genesis Ch. 1. P. H. 29.
‡Proverbs XV. 17.
†St. Luke XI.

इन उद्धरणों से स्पष्ट प्रमाणित है कि मांस भोजन करना बाइबिल की दृष्टि में एक पाप क्रिया है। किन्तु खेद है कि आज करीब २ सब ही ईसाई अपने शास्त्र के इन उपदेशों की अवहेलना कर रहे हैं। धड़ाधड़ जीवित प्राणियों की कबरें अपने पेट में बना रहे हैं। हम नहीं समझते कि ऐसी अवस्था में वे ईसाई धर्म का महत्व किस प्रकार एक तात्विक की दृष्टि में चढ़ा सकते हैं। किन्तु अब उनमें भी इस मांस भोजन से घृणा हो चली है। लन्दन में एक सभा The Order of Golden Age अहिंसा-प्रचारका महत्वशाली कार्य बर्षोंसे कर रही है और उसे सफलता भी अधिक मिली है। ईसाई लोग बाइबिल की उक्त आयतों का महत्व जानने लगे हैं और मांस भोजन का त्याग भी करते जाते हैं। पहले के ईसाई गण अहिंसा का महत्व जानते थे और वह मांस भक्षण भी नहीं करते थे। यह नहीं, बल्कि विवाह न करके ब्रह्मचर्यमय शेष जीवन बिताते थे। मि० हैच साहब हम को यही बतलाते हैं; यथाः—

भाव यही है कि "प्रारंभिक ईसाई जातियोंमें अपने साधारण जाति भाइयों से उत्कृष्ट जीवन बिताने वालों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। पूर्णता के उद्देश्यरूप में विवाह और मांस भोजन से परहेज़ रखना आवश्यक और व्यवहार्य था। किन्हीं २ जातियों में इन नियमों को अनिवार्य बनाने के भी प्रयत्न हुए थे।"‡ इससे स्पष्ट प्रमाणित है कि मांस भोजन ईसाइयों के निकट धार्मिक क्रिया नहीं थी। मांस के साथ २ सुरापान का भी निषेध बाइबिल में है। एक रवायत में वहां

‡ असहमत संगम के परिशिष्ट भाग में से

पितृद्रोही पुत्र के बारे में कहा गया है कि उसे मान्यपुरुषों के समक्ष ले जाकर कहना चाहिए कि:-

"यह हमारा लड़का ज़िद्दी और द्रोही है- हमारा कहना नहीं मानता, यह अधिक लोलुपी और शराबख़ोर है। और नगर के सब पुरुष उसे पत्थरों की मार देंगे कि वह प्राणान्त कर जावे'। देखिये, पितृद्रोह और सुरापान के अपराध का दण्ड बाइबिल के अनुसार प्राणों के मूल्य से चुकाना पड़ता था। इसलिए मद्यपान करना सर्वथा अनुचित है। यही बात हज़रत अगस्त ने कही है; यथा:-

"मद्यपान एक दैव है, एक मीठा ज़हर है, एक खुशगवार पाप है, जिसको जो कोई अपनाता है वह अपने आपको नहीं रखता है, जिसको जो व्यवहार में लाता है वह पाप नहीं करता बल्कि वह खुद पूर्ण पापरूप है।" † इस तरह ईसाईधर्म में भी मद्य-मांस आदि का निषेध ही है।

पारसियों के धर्म में भी यही बात हमको ढूँढने से मिल जाती है। निम्न का उद्धरण यह प्रमाणित करता है कि उनका प्रधान भोजन रोटी ही था; यथा:-

"जब जब वे रोटी खायें तो तीन ग्रास रहने देना लाज़मी है कि वे एक कुत्ते को दिये जासकें और कुत्ते का मारना प्रिय नहीं है।" ‡ जब यहां एक पशु को मारना बुरा बतलाया है तब मांस के लिए गाय-बकरी आदि उपयोगी पशुओं के प्राणघात करना कभी भी अच्छा नहीं बतलाया जा सकता। यही कारण है कि भोजन के लिए पारसी धर्मकार यहां रोटी शब्द लाया है। मांस के लिए पशु हिंसा करना ठीक नहीं है-यही इसका

---

† St. Augustine.

‡ Dinkard Bk. VIII. 83

भाव है। 'ख़ुर्दान ख़ूर' आयत १--२ में स्पष्ट लिखा है कि "चोपाये कि जानवर वे आज़ार हैं और जानवरों को मारने वाले नहीं हैं जैसे घोड़ा, गाय, ऊँट, खच्चर, गधा, आदि इन को मत मारो और बेजान मत करो।" ऐसी दशा में जब पशु वध निषेध है तब मांस का मिलना मुश्किल है, जिस से वह खाया नहीं जा सकता।"एक सच्चे पारसी के लिए मितव्ययिता, संयम, परिश्रम, नियमित इन्द्रिय निग्रह आवश्यक गुण हैं।* नियमित संयम का अभ्यास न करना उनके यहां बुरा बतलाया गया है। 'दिनकरद' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि "नियमित संयम के न रखने से पूरा भारीपन (आलस्य) आता है और पूरे भारीपन से अस्वास्थ्य घेरता है और अस्वास्थ्य से मृत्यु आती है।" आदतों को नियमित करने अथवा नियमित संयममय जीवन बिताने के लिए मद्य-मांस आदि का त्याग करना ही होगा। इसीलिए महात्मा ज़रदस्त ने कहा है कि "मांस भक्षण न करो जब तक शाकाहार प्राप्त हो।" (देखो "अहिंसा" वर्ष १ अङ्क २२ पृष्ठ ६) मांस को तरह मद्यादि का भी स्पष्ट निषेध है; यथाः--

"औषधिरूप में रोग के समय चिकित्सक के बतलाने पर मादक-पदार्थ भले ही लिये जा सकते हैं, परन्तु अन्यथा एक भोग-वस्तु की तरह उसका व्यवहार नहीं करना चाहिए, क्योंकि सब ही मादक पदार्थों में एकसा ही गुण है कि एक को तुमने आज लिया तो कल तुमको उसके लिये बग़ैर चैन नहीं पड़ेगी। यदि इसी तरह दूसरे तीसरे और अगाड़ी दिनों तक उसको व्यवहार में लाया जाय तो वह इतनी पक्की आदत पड़ जायगी कि उसका छोड़ना मुहाल होगा।

*The Zoroastrian Ethics P. 66

इस लिये विना मतलव मादक वस्तुओं का सेवन करना ठीक नहीं है, क्योंकि शराव, ताड़ी, अफीम, भांग, चरस, तम्बाकू आदि मादक वस्तुओं के लगातार सेवन से शरीर, मन और धन की हानि होती है। मादक वस्तुओं के सेवन से एक भी फायदा नहीं हैं, जब कि उस से होने वाले अलाभ और दुष्परिणाम अनेक हैं।" * इस प्रकार पारसीधर्म में भी मांस और मदिरा का त्याग है अर्थात् उस सर्व प्रकार की हिंसा के त्याग का उपदेश है जो अपनी इन्द्रियों की तृप्ति के लिये करनी पड़ती हो। उन के एक ग्रन्थ में रात्रि भोजन करने को भी मनाई है:-

'अन्धकार में भोजन करना वर्जित है। क्योंकि जो अन्धकार में भोजन करते हैं उनकी एक तिहाई वुद्धि और प्रतिष्ठा को प्रेत गृहण करलेते हैं।' †

बौद्ध धर्म पर दृष्टि डालिये तो वहां भी मद्य आदि का निषेध ही मिलता है। वौद्धों के पञ्च व्रतोंमें पहिला "किसीके प्राणों का नाश न करना है और अन्तिम "मादक वस्तुओं का सेवन नहीं करना है।"‡ इन व्रतों द्वारा मद्य और जीव-वध का निषेध स्पष्ट है! उनके तेविज्ज़ सुत्त में "चूलशीलम्" के मध्य (मूल गुण) प्रथम व्रत के विषय में स्पष्ट कहा गया है कि:-

"वह (वौद्धानुयायी) किसी भी वनस्पति या जीवित प्राणी को कष्ट पहुंचाने से परे रहता है! वह एक दिन में एक दफे आहार करता है। रात्रि में भोजन नहीं करता इत्यादि।" +

---

* The Zoroastrian Dharmaniti, No. 3

‡ The Collected Works of Mass Mutter

† S.BE. V p. 310

+ The Buddhist Suttas P. 191

उनके 'पातिमोक्ख' नामक ग्रन्थके ५१ वें श्लोक में स्पष्टतः मद्य निषेध में कहा गया हैः—

"मादक शराबों और तेज़ आसवों के पीने में पाचित्तिय दोष है।" यही बात "सुत्तविभङ्ग" में कही गई है। सुत्तनिपात' में भी स्पष्ट कहा गया है कि गृहस्थ को मादक वस्तुयें नहीं लेना चाहिये, न दूसरों को लेने देना चाहिये, और न लेने वालों की सराहना करनी चाहिए।' (Sutta Nipata S. BE. Vol. X p. 66) इस तरह बौद्ध धर्ममें भी मद्य-आदि का निषेध है।

गुरु नानक भी मद्य मांस को बुरा बतलाते हैं। आप फरमाते हैं किः—

"भंग माछली सुरापान जो जो प्राणी खायें।
धरम करम जितने किए सब ही रसातल जायें॥
जुआ, मांस, मद, वेश्या, हिंसा, चोरी, परनार।
सतलोक में सप्त हैं कुए वृथ आचार॥
सोधन करके चौका पाया-जीव मारके मांस चढ़ाया।
जिस रसोई चढ़ा मांस-दया धरम का हुआ नास॥
जीवत लगे कपड़े जामा हावे पलीत।
एरत खावे मांसा तिन कहा निर्मल चित्त॥
जिया बधू सो धरम कर थाप्यो धरम-को कहं गत भाई।
आपस को सवर कर जान्यो-ताको कहो कसाई॥"

(आइने हमदर्दी पृष्ठ १२५)

यूनान के मशहूर दार्शनिक भी अहिंसक थे और मांस भोजन का निषेध करते थे। तत्ववेत्ता पैथागोरस एवं उसके अनुयायियों के बारे में कहा जाता है कि वे मांस भोजन और बलिहिंसा से परहेज़ करते थे। यही नहीं, प्रत्युत वे लोग ठीक

जैनियों की भांति द्विदलों को भक्षण करने से परहेज करते थे। जैनगण द्विदलों (दाल आदि) को दही अथवा छाछ के साथ मिलाकर नहीं खाते हैं, क्योंकि इस अवस्था में उस में सूक्ष्म जीवराशि उत्पन्न हो जाती है। यूनानी तत्ववेता पैथागोरस ने जैन मुनिगणों से तत्व शिक्षा गृहण की थी, यह प्रकट है। (देखो हमारा 'भगवान महावीर और उनका उपदेश') इसी लिए उनके निकट अहिंसा का विशेष मूल्य था। यही नहीं बल्कि उनसे प्राचीन--उनके पूर्वज--मिश्रवासी तत्ववेतागण अहिंसा पालन में उन से भी बढ़े चढ़े थे। वे चमड़े के जूते भी नहीं पहिनते थे; केवल वेही जूते पहिनते थे जो वृक्षों की छाल आदि से बनाये जाते थे।

इस तरह प्राचीनकाल में ज्यों ज्यों गहरे पैठते जाइए त्यों २ अहिंसा की महत्ता खूब विस्तृत मिलती है।

इस प्रकार देखने से प्रत्येक धर्म में मद्य-मांसादि अभक्ष्य पदार्थों के सेवन करने को बुरा बतलाया हुआ मिलता है, परन्तु इन्द्रियलोलुपी मनुष्य अपनी लालसातृप्ति के लिए पवित्र धर्म ग्रन्थों को कलङ्कित करके उन्हीं में से इन अभक्ष्य पदार्थों के खाने की आज्ञा सामने उपस्थित करते हैं। निर्मल बुद्धि की उपेक्षा कर के असलियत को गँवादेते हैं। रत्न को गँवा कर ठीकरे की तरफ लपकते हैं यही उनकी बुद्धि की वलिहारी है। वैसे हम अब तक के विवेचन से संसार के प्रत्येक धर्म में अहिंसा की मान्यता देख आए हैं; परन्तु प्रवृत्तिमार्ग के अन्ध श्रद्धालु प्रवृति को ही सब कुछ मानते हैं। हां यथार्थ सत्यखोजी अवश्य ही स्वाधीनता पूर्वक अपनी विवेक बुद्धि से सत्यासत्य का निर्णय करके यथार्थता को पालेते हैं। और यदि वे निष्पक्ष

‡ The Mysterios of Froe Masonary P. 198

दृष्टि से सर्व धर्मों का मुकाबला करें तो वे पालें कि जैन धर्म एक ऐसा धर्म है जो पूर्वा-पर-बाधिता बातों से वंचित एक वैज्ञानिक धर्म है। अबतक जो हमने तुलनात्मक ढंग से विविध धर्मों के चारित्र नियमों का विवेचन किया है। वही इस बातका साक्षी है। अस्तु !

जो भारत पवित्रता और शुचिता में परम गर्व रखता था—जहां अहिंसावाद व्यवहारिक रीति से परमोच्च अवस्था को पहुंच चुका, जहां के निवासी सदैव धर्म को अपने प्राणों से भी बढ़कर समझते रहें-वहीं के अधिवासी परम अहिंसक वीर राम की सन्तान होने का दावा करने वाले आज किस प्रकार अपने धर्म, धन और बल का नाश कर रहे हैं, यही बड़े दुःख का विषय है। इन्द्रियलम्पटता में पड़ कर अपने धर्म और कर्तव्य से च्युत होगए हैं। यही कारण है कि आज भारतवर्ष की दरिद्रता दिनों दिन बढ़ रही है। करोड़ों नहीं अरबों रुपये प्रति वर्ष उसके विदेशों को चले जाते हैं ! सो भी किस में ? इन्द्रियपोषक हिंसाजनक पदार्थों के मँगाने में ! मांस-मदिरा आदि हिंसा से प्राप्त वस्तुओं के खाने में । धर्मप्रधान भारतीयों, इस प्रकार जान-बूझ कर धर्म की अवहेलना करना ठीक नहीं ! अपने कर्तव्य को लक्ष्य करके इन्द्रिय निग्रह का पाठ पढ़िए। रसना-स्पर्श आदि इन्द्रियों को अपने आधीन कीजिए। आज केवल रसनेन्द्रिय के ज़रा देर के स्वाद के निमित्त किस प्रकार हमारे बच्चों को दूध देकर पालने वाले गोधन का नाश होरहा है, यह ज़रा ख़याल कीजिए ! हिन्दू और मुसलमान सब ही को अपने बालकों के लिए दूध की ज़रूरत पड़ती है। इस लिए प्रत्येक का यह लाज़मी फ़र्ज़ हो जाता है कि वह दूध देने वाले पशुओं की ख़ास तौर पर रक्षा

करें। मनुष्यता भी यही सिखाती है कि जो हमारा किसी प्रकार का अपकार नहीं करते, बल्कि उल्टा उपकार ही करते हैं, उनके प्रति हम दयाभाव ही रक्खें। आज भारत में पशु धन किस तेज़ी से घट रहा है, यह प्रत्येक भारतीय को द्रष्टव्य है:—

वर्ष	बैलादि	गाय	भैंसा	भैंसें	शिशुधेनु
१९१६-१७	४९४	३,७५ १/५	५५ ३/४	१,२८ १/१०	४२१ १/३
१९१७-१८	४९३ १/२	३,७४ ३/५	५५ २/५	१,२८ १/५	४२० ३/४
१९१८-१९	४९३ १/२	३,७४ १/५	५८ १/५	१,२८ १/३	४२० १/३
१९१९-२०	४९८ १/४	३,७१ १/५	५५ १/५	१,२३ १/२	४०८ १/२
१९२०-२१	४८९ १/४	३,७० १/५	५४ १/५	१,२३ १/५	४०३ १/३

दिनों दिन दूध और खेतीके लिए परमावश्यक यह पशुधन घट रहा है। इस पर प्रत्येक हिन्दू, मुसलमान और ईसाई आदि को ध्यान देना आवश्यक है। अधिकांश मांस इन्हीं दूध देने वाले पशुओं से मिलता है। इस लिए इनको घटती रोकने के लिए मांसका त्याग करना लाज़मी है। इसमें अपनी,अपनी सन्तान और अपने देश की भलाई है। यह अमिट और अटूट धन है। इसकी रक्षा कीजिए। मि० गैपगट लिखते हैं कि:—

"गऊओं का मूल्य उनके वज़न के बराबर सोने में है और फिर यदि हम उनका अच्छी तरह से पालन करें तो वह उस सोने को बार-बार हमें लौटा देती हैं। इस लिए कोई भी गाय कसाई के हाथ में न पहुंचना चाहिये। देश के जीवन के लिए इन इतने उपयोगी पशुओं के प्रति हमें ध्यान देना परमावश्यक है। खेती के लिए बैल कितने अमूल्य हैं। हम उनके कृत उपकारों के बदले में क्या करते हैं! अतएव आज भारत में हम को जग जाना चाहिए और अपने पशुधन

की रक्षा करनी चाहिए। यदि हम पशुधन की उपेक्षा करेंगे तो समग्र राष्ट्र को दुख भुगतना पड़ेगा और फिर उन्नति करना असम्भव होगी।" इस प्रकार स्वयं भारतोत्थानके लिए भी हमें मांस-भोजन से परहेज़ करना लाज़मी है। यह हमारा एक राष्ट्रीय कर्तव्य है, क़ौमी फ़र्ज़ है। देश-प्रेम कुछ है तो इस नियम का पालन कीजिए। धर्म और देश-दोनों का आदेश सिर आँखों पर रखिये। और सम्राट अकबर आज़म के शब्दों में 'अपने शिक्मों (पेटों) को निरपराध पशुओं की क़ब्र (मृतक स्थान) मत बनाओ!'

यहां पर कोई महाशय यह शङ्का कर सकते हैं कि जिस प्रकार पशुओं को मारकर मांस मिलता है उसी प्रकार गेहूं चना, चावल, फल आदि भी पौधों को काटकर मिलता है और पौधों में भी जीव होता है। इसलिए निरामिषभोजी भी घातक और हिंसक हैं। मांसभोजी ही पर यह आक्षेप क्यों लागू है? वेशक बात ठीक है, परन्तु इस प्रश्न को वही उठा सकता है जो वनस्पति-वृक्षादि में जीव मानता है। प्राकृतिक रीत्या वनस्पति में जीव है ही! आधुनिक विज्ञान वेत्ता सर जगदीशचन्द्र बोस ने भी यह बात सिद्ध करदी है। अतएव यह बिल्कुल सच है कि वनस्पति-आहार में भी हिंसा होती है। परन्तु इस में सब से पहिले विचारणीय बात यह है कि जीव अपने २ शुभ-पुण्य प्रकृति अनुसार इस संसार में उन्नति करके अधिकाधिक पदवी को प्राप्त होते हैं वैसे वैसे अधिक पुण्यवान गिने जाते हैं। इसी कारण से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पंचेन्द्रिय, रूप से जगत में जो जीवों के मूल भेद पांच माने गए हैं, उन में एकेन्द्रिय जीव से द्वीन्द्रिय अधिक पुण्यवान होता है और द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय;

तथा त्रीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय-इस तरह सर्वोत्तम जीव पंचेन्द्रिय समझना चाहिए। और पञ्चेन्द्रिय में भी न्यूनाधिक पुण्यवाले हैं; अर्थात् तिर्यक् पञ्चेन्द्रिय (बकरा, गौ, भैंसादि) में हाथी अधिक पुण्यवान् है, और मनुष्यवर्ग में भी राजा, मण्डलाधीश चक्रवर्ती और योगी अधिक पुण्यवान् होने से अवध्य गिने जाते हैं, क्योंकि संग्राम में यदि राजा पकड़ा जाता है तो मारा नहीं जाता। इस से यह सिद्ध हुआ कि एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय के मारने में अधिक पाप होता है, एवं अधिक अधिक पुण्यवान् के मारने से अधिक २ पाप लगता है।'* तथापि यदि हम जीवों को प्राणों की अपेक्षा ख़याल करें तो भी हम देखेंगे कि पञ्चेन्द्रिय से एकेन्द्री में बहुत कम प्राण हैं। जैन तत्ववेताओं ने कुल दस प्राण जीवों के बतलाये हैं। अर्थात् पांच इन्द्रियां (स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु, और श्रोत) तीन बल (मन, वचन और काय) आयु और श्वासोश्वास पञ्चेन्द्रीय जीव में यह सब मौजूद हैं। गाय, बकरे, मेंढे, भैंसे, हिरन आदि में यह दसों प्राण मिलते हैं। परन्तु चतुरिन्द्रिय में वह आठ हैं मन और कर्ण इन्द्री का अभाव है। ऐसे ही त्रीन्द्रिय के सात और द्वीन्द्रिय के छै हैं। परन्तु एकेन्द्री के केवल चार--स्पर्श इन्द्री, काय बल, आयु और स्वासोश्वास हैं। इस अपेक्षा भी एकेन्द्रीय जीव से द्वीन्द्रियादि जीवों के मारने में ही अधिक पाप है। इसलिए जहां तक एकेन्द्रिय जीव से निर्वाह हो सके वहां तक पञ्चेन्द्रिय जीव का मारना सर्वथा अयोग्य है। यद्यपि एकेन्द्रिय जीवका मारना भी पापबन्ध का कारण ही है किन्तु कोई उपायान्तर न रहने से वह कार्य अगत्या करना ही पड़ता है।' जो इस पापबन्ध से भी अलग रहना चाहते हैं वह राज-

* अहिंसा दिग्दर्शन पृष्ठ ११-१२

घाट त्यागकर साधु होजाते हैं। इस तरह शाकाहार में मांसाहार की अपेक्षा बहुत कम हिंसा है। फिर दूसरे यह हम जान चुके हैं कि मांस जीवका शरीर होता है और उस में प्रति समय उसी जाति के सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति होती रहती है। इसलिए मांस हर दशा में जीवोत्पत्ति से ख़ाली नहीं है, जिस के कारण उस में बहुत अधिक हिंसा होती है। यही आचार्य कहते हैं।

"आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांस पेशीषु।
सातत्ये नोत्पाद स्तज्जातीयानां, निगोदानाम् ॥ १ ॥
आमां वा पक्वां वार वा खादति यःस्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीव कोटीनाम् ॥ २ ॥

भावार्थः—"कच्चे पकाये हुये तथा रींधे हुये मांसपिण्ड में भी जिस जीवका मांस होता है उसी जाति के निगोद जीवों की उत्पत्ति होती रहती है॥१॥ कच्चे अथवा पक्के मांसके पिंड को जो कोई खाता है तथा छूता है वह हमेशा उस में उत्पन्न होनेवाले करोड़ों जीवों की हिंसा करता है ॥ २ ॥

यह कृमि उत्पादक दशा शाकाहार में नहीं होती। जिस समय गेहूं इत्यादिक अन्न खेत से काट कर सुखालिये जाते हैं अथवा किसी अन्य प्रकार से प्रासुक करलिये जाते हैं तो फिर उस में मर्यादानुसार कुछ काल के लिए जीवोत्पत्ति नहीं होती है। इसलिए उस में मांसाहार की तरह हिंसा नहीं होती है।

तीसरे इस विषय में यह हम जानही चुके हैं कि 'हिंसा कषाय के वश से होती है। जैसी २ कषाय की तीव्रता तथा मन्दता होती है वैसे २ ही हिंसा में भेद हो जाता है, क्योंकि एक ही प्राणी के घातमें किसी को अधिक पाप लगता है और किसी को कम। इसका कारण केवल कषाय है। इसी तरह

से जिस समय मनुष्य स्थावर जीव (गेहूं इत्यादि) की हिंसा करता है उस समय उसके इतनी तीव्र कषाय नहीं होती जितनी द्वीन्द्रिय जीव के घात में। तथा उत्तरोत्तर पञ्चेन्द्रिय जीव पर्यन्त कषाय की तीव्रता तथा मन्दता से हिंसा में अधिकता होती है।' इस अपेक्षा भी मांसाहर में ही हिंसा अधिक है। श्रीयुत पं० आशाधर जी इसका समाधान इस प्रकार करते हैं।

'प्राण्यङ्गत्वे मेऽप्यन्नं भोज्यं मांसं न धार्मिकैः।
भोग्या स्त्रीत्वा ऽविशेषे ऽपि जनै जायैव नाम्बिका॥'

"यद्यपि मांस और अन्न दोनों ही प्राणी के अङ्ग हैं तथापि धार्मिक पुरुषों को मांस नहीं खाना चाहिए जिस तरह स्त्री धर्म समान होने पर लोक में अच्छे मनुष्य अपनी स्त्री से ही सम्भोग करते हैं, मातासे नहीं। उसी तरह यहां परभी समझ लेना चाहिए। इसलिए मद्यपान और मांसाहार करना धर्माचरण के विरुद्ध है। प्रकृति उसके प्रयोग को आज्ञा नहीं देती। देश की परस्थिति उस के त्याग का ही आदेश कर रही है। ऐसी दशामें भी यदि कोई मांस खाये और मद्यपिये तो उसकी गणना किस प्रकार विवेकवान् सभ्यसमाज में की जा सकी है! अतएव अपने जीवन सुखी बनाने के लिए हम लोगों को मद्य, मांस और मधु का त्याग करके अहिंसापालन का अमली कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिये। इससे हमारे इह एवं पर दोनों लोक सुखमय बनेंगे। क्यों कि श्री शुभचन्द्र आचार्य कहते हैं:—

"अहिंसैकाऽपि यत्सौख्यं कल्याणमथवा शिवम्।
दत्ते तद्देहिनां नायं तपः श्रुतयमोत्करः॥ ४७॥

किन्त्व हिंसैव भूतानां मातेव हितकारिणी ।
तथा रमयितुं कान्ता विनेतुं च सरस्वती ॥ ५० ॥
अभयं यच्छ भूतेषु कुरु मैत्री मनिन्दिताम् ।
पश्यात्म सदृशं विश्वं जीवलोकं चराचरम् ॥ ५२ ॥
जायन्ते भूतयः पुंसांयाः कृपाक्रान्त चेतसाम
चिरेणापि न ता वक्तुं शक्ता देव्यपि भारती ॥ ५३ ॥
किं न तप्तं तपस्तेन किंनदत्तं महात्मना ।
वितीर्णमभय येन प्रीतिमालम्व्य देहिनाम् ॥ ५४ ॥
यथा यथा हृदि स्थैर्यं करोति करुणा नृणाम् ।
तथा तथा विवे॰ श्रीः परां प्रीतिं प्रकाशते ॥ ५५ ॥
यत्किंचित्संसारे शरीरिणां दुःख शोक भय बीजम् ।
दौर्भाग्यादि समस्तं तद्धिंसा संभवं ज्ञेयम् ॥ ५८ ॥"

(ज्ञानार्णव, अहिंसा प्र०)

"यह अहिंसा अकेली ही जीवों को जो सुख, कल्याण तथा अभ्युदय देती है, वह तप, स्वाध्याय, और यम नियमादि नहीं दे सकते। यह अहिंसा प्राणियों की माता के समान रक्षिका तथा स्त्री के समान रमानेवाली और सरस्वती के समान सदुपदेश देने वाली है। हे भाई! तू प्राणियों को अभय दान दे, उनसे प्रशंसनीय मित्रताकर और सब चर अचर विश्व के प्राणियों को अपने समान देख। दयावान मानवों को जो विभूतियें प्राप्त होती हैं उनका वर्णन सरस्वती देवी भी बहुत काल करे तो भी नहीं कर सकती। जिसने प्राणियों से प्रीतिकर अभयदान दिया उस महात्माने कौनसा तप न तपा व कौनसा दान नहीं दिया। अर्थात् सब तप व दान किया। मनुष्यों के हृदय में जैसे जैसे दयाभाव स्थिर होता है वैसे वैसे विवेकरूप लक्ष्मी परम प्रीति प्रकाश करती है। इस संसार में जीवों के जो कुछ दुःख, शोक व भयका बीज है, तथा दुर्भाग्य

आदि है सो सब हिंसा से पैदा हुए जानो ।" अतएव प्यारे भाइयों ! जन्म में सुखकारी अहिंसा का पालन कर परमामृत का पान कीजिए। यही मनुष्य जन्म फल है—देश प्रेम और ईश-आदेश पालन हैं।

—o—

(१०)

अहिंसा के पालन में भीरुता नहीं है !

"तल्वार का वार करने में बहादुरी नहीं है। सच्ची बहादुरी तल्वार का वार सहन करने में है।"

—महात्मा गांधी !

सम्भव है कि अब तक का विवेचन पढ़ लेने पर भी कतिपय पाठक अपनी दृढ़ असित धारणा के अनुसार यह कहें कि बेशक जो कुछ कहा गया है वह ठीक है, परन्तु अहिंसा का पालन पूर्णरूप में करना एक स्वाधीन नागरिक के लिए हितकर नहीं है। यदि वह अहिंसा का पालन करने लगेगा तो भीरु बन जावेगा। एक आतताई का भी सामना नहीं करेगा। क्षत्रियत्व तो उसमें से बिल्कुल जाता रहेगा। भारत की वर्तमान हीन दशा इसी अहिंसा पालन के फलरूप है। इसी के कारण आज भारतीय बिल्कुल भीरु बने हुए हैं। किन्तु इस कथन में कितना तथ्य है यह वह निष्पक्ष पाठक सहज में समझ सके हैं जो पूर्वोक्त विवेचन को अच्छी तरह मनन कर चुके हैं। यहां पर ग़लती सिर्फ़ यह है कि ऐसे सशङ्क पाठक महोदय तमोगुण को ही वीरता का कारण समझते हैं।

सात्विक अवस्था उनकी दृष्टि में वीरता का कारण नहीं हो सकी। स्वयं अपने जीवन को सुखी बनाने वाला और नीची से नीची अवस्था में पड़े हुए प्राणी का जीवन सुखमय करने वाला व्यक्ति ऐसे लोगों की दृष्टि में वीरता का दावा नहीं कर सका! इनकी नज़रों में वीर वही है जो लोभ कषाय के वश मौका पाते ही तोप-बन्दूक लेकर दूसरे पर चढ़ जावे अथवा जिव्हा लम्पटता या मौज़-शौक़ के लिए मूक जीवों के प्राणोंका नाश कर डालें! परन्तु आज वह भारती जो असहयोग के ज़माने में शान्तिमय अहिंसक प्रतिरोध का दृश्य देख चुके हैं, अकाली और नागपुर झण्डा सत्याग्रहों में सफलता का दर्शन कर चुके हैं अथवा दक्षिण अफ्रीका में निरंकुश अधिकारियों की ज्यादतियों को शान्ति के साथ सहन कर चुके हैं समझ सके हैं कि वास्तविक वीरता कहां है! उनके अनुभव में वीरता का यथार्थ रूप आगया है। यही कारण है कि इस युगकालीन अहिंसक वीर महात्मा गांधी अहिंसा के महत्व को स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि:—

"हमारे शास्त्रों की शिक्षा है कि उस मनुष्य के चरणों में सारा संसार आनमता है जो अहिंसा का पालन पूर्ण रीति से करता है। वह अपने निकटस्थ वातावरणको इस तरह शान्ति-मय बना लेता है कि सांप और विषैले जानवर भी उस को कोई हानि नहीं पहुंचाते। असीसी के सेन्ट फ्रान्सिस के विषय में यही कहा जाता है। खण्डनात्मक (Negative) रूप में इसके अर्थ यही हैं कि किसी भी प्राणी को मन व काय से कष्ट न पहुंचाना। इसलिए मुझे किसी दुर्व्यवहारी (Wrong-Doer) के शरीर को दुःख नहीं पहुंचाना चाहिए अथवा उसके प्रति कोई दुर्भाव न रखना चाहिए, जिससे कि

उसको मानसिक दुःख हो। इस व्याख्या में वह क्रिया गर्भित नहीं है जो दुर्व्यवहारी-आततायी के प्रति मेरे प्राकृतिक कार्यों द्वारा विना किसी दुर्भाव के कीजाय। इस लिए यह मुझे उस बच्चे को दुर्व्यवहारी के समक्ष से हटाने में नहीं रोक सक्ती, जिसको समझिए वह मारने के लिए तैयार हो।.........और विधायक रूपमें अहिंसा के अर्थ सर्वोत्तम प्रेम व सर्वोत्कृष्ट दान के हैं। यदि मैं अहिंसा का अनुयायी हूं, तो मुझे अपने वैरी से भी प्रेम करना चाहिए। इसी तरह दुर्व्यवहारी अथवा विदेशी के प्रति भी वही व्यवहार करना चाहिए जो कि मैं अपने दुर्व्यवहारी पिता या पुत्र के प्रति करूं। यह अहिंसा सत्य और निःशङ्कता का प्रतिरूप ही है एक मनुष्य अपने प्रिय-जनों के साथ धोखा नहीं कर सक्ता। न वह स्वयं डरता है और न किसी को डरा सक्ता है। अभयदान ही सब दानों में श्रेष्ठ है। एक मनुष्य जो इस दान को देता है वह वस्तुतः सर्व प्रतिरोध को एक तरफ रख देता है। उसने एक सम्मानीय समझौते का रास्ता बना लिया है और कोई भी इस दान को नहीं दे सक्ता जो स्वयं भयका शिकार हो। इसीलिए अभय दान दाता को स्वयं निर्भीक-निडर-वीर होना लाजमी है। वह मनुष्य अहिंसा का पालन नहीं कर सक्ता जो भीरु है-डरपोक है। अहिंसा पालन में सर्वोत्कृष्ट बहादुरी की जरूरत है। यह सैनिकके लिए सैनिकपनेको परमावश्यक है। जेनरल गारडेन की एक मूर्ति एक छड़ी लिए दर्शाई गई है। यह हमें अहिंसा मार्ग पर बहुत ले जाती है। परन्तु एक सैनिक जो एक छड़ी का भी सहारा रखता है वह उतने ही अंश में सैनिकता में कम है। वही सच्चा सैनिक है जो जानता है कि कैसे मरा जाता है और अपने स्थान पर गोलियोंकी बौछारमें कैसे

खड़ा रहा जाता है ! ऐसा ही सैनिक अम्बरीश था जो अपने स्थान पर खड़ा रहा–फिर दुर्वासा ने उसका सर्व नाश हीं क्यों न किया !…यहां अपने क्रिया शील रूपमें अहिंसा थी !"

सच है सर्वोत्कृष्ट वीरता अहिंसा के पालन में ही है। उसका पालन करने वाला कभी भी भीरु नहीं वन सकता, प्रत्युत उस के हृदय में अहिंसाभावों की सृष्टि होने से वास्तविक मनुष्यता आती है। उसका नैतिक वल बढ़ता है। उसे सहनशीलता में अद्भुत आनन्द मिलता है। वह स्वयं स्वाधीन सुखी जीवन व्यतीत करता है और जो कोई व्यक्ति अथवा प्राणी उस के सम्पर्क में आता है वह उसके जीवन को भी सुखी बनाने का प्रयत्न करता है। अहिंसा पालन कभी भी अहित कर नहीं हो सकता। उससे मनुष्य में मनुष्यता आती है, पाशविकता घटती है। पाशविकता के नाश होने पर ही मनुष्य असलियत को देख पाता है। तव ही उस के विवेकनेत्र-आत्मिक गुण प्रकाश पाते हैं। वही सर्वोत्तम पुरुष सर्वोत्कृष्ट वीर होता है जो अहिंसा का पूर्ण पालन करता है। क्षमारूपी ढाल को धारण किए रहता है। यहां वह मनुष्यता से भी कुछ अगाड़ी बढ़जाता है। फिर उसके निकट सर्वथा प्रेम विजय का डंका बजता रहता है। इसलिए यथार्थ रूप में अहिंसक भाव कमजोरी न होकर एक शक्ति है, वल है, वीरता है। हिंदुओं के महाभारत में भी कहा गया है कि "इस से केवल एक सामान्य दोष आता है। वह यह कि लोग ऐसे मनुष्य को निर्वल समझने लगते हैं। किन्तु इस दोष के प्रति ध्यान नहीं देना चाहिये, क्योंकि क्षमा-अहिंसाभाव एक बड़ा शक्ति है। वस्तुतः क्षमा निर्वल के लिये एक मुख्य कर्म है और सवल के लिए भूषण है। क्षमा संसार में सब को परास्त करती है; वहां है ही क्या जिस पर वह विजय

प्राप्त कर सके ? दुष्ट व्यक्ति उसका विगाड़ ही क्या सकते हैं, जो क्षमारूपी ढाल हाथ में लिए विचरता है ? घास फूँस जहां नहीं है, वहां अग्नि गिर कर स्वयं नष्ट हो जाती है !" (उद्योग० ३३।५५-५६) यही अहिंसकभाव की प्रधानता है, क्षमा का यही अपूर्व प्रभाव है। इसी कारण कुरानशरीफ में भी कहा गया है "Commit not the injustice of attacking first" (The Ethics of Koran. p. 102) कि प्रथम वार करने का अन्याय मत कर! सचमुच यह अन्याय है, जान बूझ कर दुःख और क्लेश की सिरज है। बहादुरी आक्रमण करने में नहीं है, बल्कि बाइबिल के अनुरूप में बहादुरी 'एक गाल पर चपत मारे तो उसके समक्ष दूसरा गाल कर देने' में है। इसीलिए म० बुद्ध कहते हैं कि 'जो क्रोध को चलते हुए रथ की भांति एकदम रोक लेता है वही मेरे निकट सच्चा चालक (Driver) है; और शेष पुरुष तो मात्र लगाम हाथ में थामे हुए हैं ! अस्तु, मनुष्य को क्रोध पर प्रेम से विजय पाना चाहिये; बुराई को भलाई से जीतना चाहिये।' Dhammapada S. B. E. Vol X P. 58 मनुष्य जिस समय इस उत्कृष्ट सिद्धान्त को हृदयङ्गम कर लेते हैं उत्तम ढङ्ग से आपस में एक दूसरे से प्रेम करते हैं, तब पारसी धर्म संस्थापक के शब्दोंमें 'वे परम आनन्द को पाते हैं। और देवों को प्रिय होते हैं'। (The Zorcastrian Ethics p. 138--139) अतएव अहिंसा को पालन करने से, क्षमाभाव रखने से कोई भीरु नहीं होता !

अहिंसा अव्यवहार्य भी नहीं है। पूर्व में करोड़ों जीव उसकी शरण में परम सुख को अनुभव कर चुके हैं आज भी अनेकों जीव उसको अपने अमल में ला रहे हैं। किन्तु जो

लोग ऐसा समझते हैं कि अहिंसा का पालन करना कठिन है, वह यहां पर ठीक होते हुए भी अहिंसा का स्वरूप समझने में गलती करते हैं। हम पहिले ही देख चुके हैं कि अहिंसा का पूर्ण पालन तो एक मुनि ही कर सकते हैं। नागरिक गृहस्थ अपनी परिस्थिति और आत्मोन्नति के अनुसार ही उसका पालन कर सकता है। इसलिए यह कभी भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि अहिंसा अव्यवहार्य है। जैनगण दीर्घकाल से इसका पालन करते चले आए हैं। उनका ह्रास सामाजिक परिस्थितियों के कारण हो रहा है। अहिंसा पालन से नहीं; उसकी अवहेलना ही इसमें कारणभूत है। हां, "इतना अवश्य है कि जो लोग अपने जीवन का सद्व्यय करने को तैयार नहीं हैं, जो अपने स्वार्थों का भोग देने में हिचकते हैं, उन लोगों के लिए यह तत्व अवश्य अव्यवहार्य्य है। क्योंकि अहिंसा का तत्व आत्मा के उद्धार से बहुत सम्बन्ध रखता है। आत्मा को संसार और कर्मबन्धन से स्वतन्त्र करने और दुःख के झगड़ों से मुक्त करने के लिए तमाम मायावी सुखों की सामग्री को त्याग देने की आवश्यकता होती है। इसलिए जो लोग मुमुक्षु हैं, अपनी आत्मा का उद्धार करने के लिए इच्छुक हैं, उनको तो जैन-अहिंसा कभी आत्मनाशक या अव्यवहार्य्य मालूम नहीं हो सकती। स्वार्थलोलुप और विलासी आदमियों की तो बात ही दूसरी है।"* वह तो स्वयं अपने पूज्य पुरुषों को जिनकी वह मान्यता मानते हैं, उनके कथन की भी उपेक्षा करते हैं।

इस तरह देखने पर स्पष्ट यह मालूम होता है कि अहिंसा तत्व का पालन हमको साहसी, वीर, निर्भीक पर-दयालु

*भगवान महावीर पृष्ठ २६२-२६३

सत्यप्रिय, नीतिवान् नागरिक बनाने वाला है। इसके पालन से क्षत्रियत्व की वृद्धि ही होती है। क्षत्रियत्व लोप नहीं होता इसके लिए तनिक हमको इस विषय पर गहन विचार कर लेना आवश्यक है क्षत्री शब्द के शब्दार्थ यही होते हैं। कि जिसकी छत्रछाया में सर्व प्रकार के जीवों की रक्षा हो वही क्षत्री है, और यह मानी हुई बात है कि अहिंसक वीर ही सर्व प्रकार के प्राणियों को अभय दान दे सकता है। जो स्वय हिंसक है, जिसे पर प्राणहरण करने में तनिक भी पीड़ा नही है, वह अपने आत्मभावों को भी कुचलते नहीं हिचकता है। काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मत्सर्य आदि प्रतिहिंसक भाव उनके स्वाभाविक शौर्य को नष्ट करते रहते हैं, जिसके कारण वह सर्वथा इतना कमजोर हो जाता है कि स्वयं अपनी व अपने आश्रितकुटुम्बी की भी रक्षा नहीं कर सकता।

सचमुच "अपने हृदय में उठती हुई स्वार्थ की लहर दूसरों के हृदय में स्वार्थ और कामवासना पैदा कर देती हैं।" ऐसी दशा में तुच्छ हिंसक संसार में क्लेश का साम्राज्य लाने में ही सहायक हो सकता है। दूसरे के दुख दर्द का खयाल रखने वाला अहिंसक अपने निजी कार्यों को जितनी सुगमता और सुन्दरता से पूर्ण कर लेता है, उतनी सरलता और शान्ति से स्वार्थान्धता में अन्धा "मेरो" २ करने वाले हिंसक के स्वार्थ-कार्य पूर्ण नहीं होते। अतएव संसार में वही अहिंसक वीर श्रेष्ठ है जो मनुष्य भव के महत्व को जानता है और इस सुभाषित वाक्य का ध्यान रखकर उसको सफल बनाता है "यदि मन, वाणी और कर्म से संहारक कार्य निर्माण किया तो दुरुपयोग किया और यदि रक्षणात्मक कार्य किया तो सदुपयोग किया।" इस तरह रक्षणात्मक कार्य करता वह जीवन के वा-

स्तविक उद्देश्य को प्राप्त करने में सफल मनोरथ होता है। किन्तु अपनी स्वार्थवासनाओं का दास क्षुद्र हिंसक संहारक कार्य करके अपने जीवन के वास्तविक सुफल को नष्ट कर डालता है और अन्यों को दुःखी बनाता है। ऐसे ही कमज़ोर पुरुष अपने क्षणिक सुख के लिए दूसरे के प्राणों को अपहरण करते नहीं हिचकते! अपने प्राणों की, मानव समुदाय की रक्षा का मिस कर के अनेकों भोले प्राणी चिकित्सा देवी के नाम पर प्राण रहित करदिये जाते हैं। प्राचीन काल में भी चिकित्सा उन्नत शिखर पर थी। बौद्धकालीन तक्षशिला के वैद्यगण सर्व प्रकार की चिकित्सा में दक्ष थे, यह बात स्वयं पाश्चात्य पुरातत्वविदों ने स्वीकार की है। परन्तु उन दक्ष वैद्य-राजों को अपनी अज्ञान वृद्धि के लिये पर-प्राणों को नष्ट करने की आवश्यकता नहीं पड़ी थी। आज जो यह आवश्यकता दिखाई पड़ रही है वह यथार्थज्ञान के अभाव के कारण है। स्वाभाविक स्वरूप की अजानकारी का फल है। यही दशा फैशनेबुल जेन्टलमैनों की है। फैशन के नाम पर करोड़ों पशु-पक्षियों की जानें कुरबान करदी जाती हैं! इन सभ्य महानु-भावों से जरा पूछिये कि फिर आप में और एक असभ्य जँगली में अन्तर ही क्या रहजाता है! आप फैशन देवी के नाम पर पशु-पक्षियों के बलि कराते हैं तो वह असभ्य अपनी माता देवी की मांनता में उनको होम देता है। हां, यदि सभ्य होने का दावा है तो चारित्र में भी असभ्यों से कुछ उन्नति करना लाज़मी है। बहुतेरे शौकीन साहब बगल में बन्दूक दबाकर असहाय प्राणियों के प्राण लेने में ही बहादुरी समझते हैं। इसके वे अनोखे नाम शिकार मृगया आदि रख लेते हैं। यह लोग भी अपने आप को भूले हुए हैं। वरन् बिना कारण

दयार्द्र पशुओं के प्राण-शोषक न बनते ! कोई भी व्यक्ति शिकार के नाम पर जीवित प्राणियों के प्राण नष्ट नहीं कर सकता, यदि इसमें ज़रा भी मनुष्यता शेष है । निशानेबाज़ी में कमाल ता शिकार से ही नहीं आती ! और न कुछ इस में बहादुरी ही है । लाखों सैनिक जो सैनिकशिक्षा पाते हैं, क्या वे ठीक निशाना लगाने के लिये बनबन भटक कर पशुओं को प्राण-रहित करते फिरते हैं ? प्रिय पाठकगण ! यह तो केवल एक ढकोसला है । यह लोग दीन-दुनियां की ख़बर से परे हैं ! यथार्थ वस्तुस्थिति को जानने में असमर्थ हैं । ऐसी दशा में इन का अहिंसा को कायरता की जननी बताना बिलकुल भूल भरा है । भला शिकार में क्या वीरता है ? गरीब हिरणों के मारने में क्या बहादुरी है ? प्रख्यात् रूसी लेखक टरजीनेफ अपने जीवन में इस क्रिया की एक रोमांचकारी घटना का अनुभव कर चुके हैं । इस घटना ने उन की रचनाओं में प्रेम और दया का श्रोत बह निकाला है । वह लिखते हैं कि "जब मैं दस वर्ष का था तो मेरे पिता मुझे पक्षियों का शिकार कराने के लिये बाहर लेगए । जब हमने ऐसी पृथ्वी पर पैर रक्खे जहां का अनाज कट चुका था और भूरे रङ्ग के डंठल ही डंठल नजर आते थे तो क्या देखते हैं कि एक सुनहरे रङ्ग का तीतर अथवा इसी प्रकार का एक और पक्षी मेरे पांव के पास ही से फर्राता हुआ उड़ा और मैं ने शिकार करने के जोश में, जो मेरी रग २ में भरा हुआ था, फौरन बन्दूक उठाकर छोड़ी । जब वह पक्षी मेरे सामने गिरकर तड़फने लगा तो मेरा जोश और भी बढ़ गया और इस चलबले से मारे हर्ष के फूला न समाया । अब जल्दी २ इसकी जान निकल रही थी, परन्तु माता की ममता मौत से भी अधिक दृढ़ होती है इसलिए यह पक्षी

मरता मरता भी अपने परों को धीरे २ फड़फड़ाता हुआ उस घोंसले में आ पहुंचा जहां उसके छोटे २ बच्चे थे और जिनको इस भयका ध्यान ही नहीं था। अब इस पक्षीका छोटासा भूरे रङ्ग का सिर तो मुर्दा होकर गर्दन की ओर झुक गया और यह मुर्दा शरीर ही इसके बच्चों की रक्षा करता रहा। इस समय बड़ा ही हृदयग्राही दृश्य दिखाई दिया। मानों वह पक्षी मुझको लक्ष्य कर के मुझे लांछित कर रहा है। यह दशा देख कर मेरे हृदय में एक ख़ास प्रकार की हालत उत्पन्न हुई। और मैं अपने आप को भूल गया। मेरा हृदय (Coinscience) मुझे घृणा से कह रहा था कि हाय ! तूने कैसा घरेलू सत्यानाश किया है। और इन अबोध बच्चों पर कैसी तबाही डाली है। उस समय की दशा मैं कभी नहीं भूलता जो ऐसी कठोरता और पापक्रिया के कारण मेरे हृदय में गुज़र रही थी। मैं ने भयभीत हो पिता की ओर देखा और चिल्ला कर कहा कि 'हे पिता ! यह मैं ने क्या किया ?' परन्तु यह शोकमय दृश्य मेरे पिता के नेत्रों से दूर था, इसलिये उन्हों ने कहा 'शाबास बेटा ! यद्यपि तुमने पहिली ही बार गोली चलाई है परन्तु खूब चलाई है। विश्वास है कि तुम जल्दी एक अच्छे शिकारी बन जाओगे।' मैं ने कहाः 'हे पिता, कदापि नहीं ! फिर कभी मैं जीवित प्राणी को नहीं मारूंगा ! यदि शिकार इसी का नाम है तो मेरा इसको नमस्कार है। मेरे निकट मृत्यु की अपेक्षा जीवन अधिक प्रिय है। और मैं मरने से जीने को अधिक प्यारा समझता हूं और जब कि मैं जान नहीं डाल सकता तो मैं किसी की जान लेना भी नहीं चाहता।" (आइने हमदर्दी)

अस्तु यदि शिकार में बहादुरी और मनुष्यता होती तो यह निर्विकार बालक उस से घृणा न करने लगता। इसी से

स्पष्ट है कि शिकार में कुछ भी शौर्य और मनुष्यत्व नहीं है। अहिंसा का पालक इसका अभ्यास छोड़ने से भीरु नहीं बन सकता; प्रत्युत वह सब से बड़ा रक्षक होने का अधिकार रखता है। इस का सत्य प्रमाण जयपुर के जैनी-धर्मात्मा दीवान अमरचन्द जी के जीवन से मिलता है। आपकी एक जीवन घटना इस प्रकार लिखी गई है कि "महाराजा साहब ने शिकार खेलने को आप से साथ चलने को कहा। दोनों जङ्गल में पहुंचे और घोड़ों की टाप की आहट सुन कर गरीब हिरनों के समूह तित्तर-बित्तर होकर भागने लगे। महाराजा साहब ने तुरन्त बन्दूक की गोली का उन्हें निशाना बनाना चाहा कि इतने ही में अन्तरङ्ग में भीगे हुए दया के भावों से ललकार कर दीवान साहब ज़ोर की आवाज़ से कहने लगे कि 'अय नादान असहाय गरीब हिरन समूह! जब तुम भागते हुओं के पीछे तुम्हारा रक्षक राजा ही तुम्हारे प्राणघात को पीछे पड़ा है तो तुम किसकी शरण में जाकर अपने प्राण बचा सकते हो।' इस सच्चे दयालु की आवाज़ सुनकर सम्पूर्ण हिरण वहीं खड़े होगए और पास में जाकर दीवान साहब ने कहा, 'लीजिए महाराज, आप इन के प्राण नष्ट करने के लिये भागने का कष्ट क्यों उठाते हैं? यह सब आपके सामने हाजिर खड़े हैं।' यह कौतुक देख और दीवान साहब का दयामय थोड़े शब्दों का ओजस्वी कथन सुनकर राजा विस्मित सा हो गया। समझ गया कि मारने वाले से बचाने वाला बड़ा होता है, तुरन्त उसी दिन से महाराजा साहब ने हमेशा के लिए मांस भक्षण और शिकार खेलने का त्याग कर दिया और अपने राज्य में यह घोषणा करवा दी, हुक्म जारी कर दिया, 'लिखा-पढ़ी कर कानून बनवा दिया कि जबतक जयपुर राज्य

नहीं सलामत रहे तबतक कोई भी मनुष्य किसी प्रकार के प्राणी का शिकार न खेलसके। आजतक इस राज्यमें वह अटल नियम चला आता है कि राज्य घराने औरअँग्रेज़ तक भी वहां शिकार नहीं खेल सकते। इसीलिए दूर २ से मनुष्य कबूतरों को पकड़ पकड़ कर वहां छोड़ आते हैं कि इस राज्य में उनको मारने वाला कोई नहीं है। यह असंख्य प्राणियों की हिंसा बन्दी और राज घराने के सुधार का काम एक सच्ची दयामूर्त्ति आत्मा ने कितनी स्थिरता के साथ बात की बात में कर दिया। महत्वता, वचनों में शक्ति और अनन्त आत्मबल इसी दैवी अहिंसा से उत्पन्न होता है।"* इस के समक्ष शारीरिक बल कुछ भी नहीं है। यही कारण है कि ज़ाहिरा प्रत्येक धर्मप्रवर्त्तक महात्मा ने हिंसा कर्म बुरा बतलाया है और शिकार खेलने की मनाई की है। ईसाइयों में सेंट हूबर्ट St. Hubert के बारे में कहा जाता है कि वे पक्के शिकारी थे। एक बड़े दिन (Christmas Day) के रोज़ उन्होंने एक हिरण का शिकार किया कि वहीं उनके नेत्रों के समक्ष ईसामसीह क्रॉस पर चढ़े नज़र आगए। हज़रत मसीह ने उनसे कहा कि तुम इन निरपराध जीवों के प्राणों को क्यों शोषण करते हो। जितने जीवों को तुम मारते हो उन सब में तुम मुझे (ईसामसीह अर्थात् विशुद्ध आत्मा) के प्राणों का नाश करते हो। इस घटना से हूबर्ट का हृदय पवित्र हुआ। वह गत पापों के लिए प्रायश्चित करने लगा और प्रेम-पूर्ण जीवन का महत्व उसने प्रकट किया। यथाः—

'प्रेम पूर्वक ईसू ने कहा कि हे हूबर्ट! मैंने तेरा क्या बिगाड़ा है कि तू इस तरह मुझे मेरे इन नीच गति के

* अहिंसा धर्म और प्रेम पृष्ठ ५-६।

भाइयों में मारता और घायल करता है ? हे ह्यूवर्ट ! वता और अधिक अव मैं कथा करूं ? कितनी मृत्युयें और मरूं कि जिस से मनुष्य देखें कि जिस को वे कष्ट पहुंचाते हैं उसमें वे मुझे क्रॉस पर चढ़ाते हैं-शूली पर धरते हैं। तव उसने प्रभू का विशाल दया भाव देखा-यह कोई कथा प्राचीन काल की नहीं है। वल्कि यह वही पाप कथा है जिसको मनुष्य, मनुष्य और पशुओं को मार कर सिरजते हैं। उस बहादुर पर क्रूर शिकारी ह्यूवर्ट के हृदय में उस दिन-उस बड़े दिन (क्रिसमस) के दिन-प्रेम का जन्म हुआ, विशुद्ध भाव जागृत हुआ। उसने अपना भाला और विगुल एक ओर को फेंक दिया और घोड़े को स्वतन्त्रता से घूमने के लिए छोड़ दिया ! और वह उच्च स्वर में वोला कि "हाय ! मैं यह जीवन सताने के लिये जिया। प्रेम ! तू जो चाहे सो मेरा कर ! हे ईसू ! तू सव संसार में क्रॉस पर चढ़ा है। मुझे भी तेरे क्रास में भागीदार होने दे ! सारे संसार में-स्वर्ग में-ऊर्ध्व में और पाताल में सिवाय प्राचीन प्रेम मार्ग के और कोई मार्ग ही नहीं है, जिसको मनुष्य ढूंढते हैं। और वे सव जो जागृत प्रभू के साथ हर्ष से राज्य करने को उठेंगे तो वे अवश्य ही अपने अन्तस्थल में इस प्राणी-वध की पीड़ा के पश्चाताप का अनुभव करेंगे। *"

इसी प्रकार हजरत मुहम्मद ने भी शिकार को बुरा वतलाया है यह हम पहले देख चुके हैं। म० वुद्ध के विषय में ज्ञात ही है कि उन्होंने देवदत्त को किस तरह एक हंस मारने के लिए दुतकारा था। हिन्दू ऋषि भी अभयदान के महत्व को जानते थे। निरपराध जीवों को मारने वाले क्षत्रियों के पुरुषार्थ को महात्मा लोग तिरस्कार ही करते हैं; यथाः—

* The Herald of Star. 11 th. March 1914

"पदे पदे सन्ति भटा रणोत्कटा न तेषु हिंसारस एष पूर्यते।
धिगीदृशंते नृपते! कुविक्रमं कृपाऽऽश्रये यः कृपणे मृगे मयि॥"

भावार्थ—"हे क्षत्रियो! यदि तुम्हारे अन्तःकरण में स्थित हिंसा का रस तुम्हें पूर्ण करना है तो स्थान स्थान में लाखों जो संग्राम में भयङ्कर सुभट तैयार हैं, क्या वहां पर वह रस तुम्हारा पूर्ण नहीं हो सकता है? अर्थात् उन लोगों से लड़कर यदि शस्त्रकला को सफल करो तो ठीक है; किन्तु कृपा करने के लायक और कृपण मेरे से वेचारे मृग में जो हिंसा रस को पूर्ण करना चाहते हो, इस लिये इस तुम्हारे दुष्ट पराक्रम को धिक्कार है!"

इस पर स्व० श्री विजयधर्म सूरि विवेचन करते हैं कि क्षत्रियों का धर्म शस्त्रवान् शत्रु के सम्मुख होने के लिये ही है, किन्तु वह भी योग्य और शास्त्रयुक्त और नीति पूर्वक, निष्कपट होकर इतना ही नहीं उत्तम वंशी वीर राजा के साथ ही करना चाहिए। ऐसा नियम है कि जो मनुष्य हार जाता है वह अपने मुख में घास लेकर और नम्र होकर यदि शरण में आजावे तो वह माफ़ी पाता ही है, किन्तु वह मारा नहीं जाता इस लिये मृग कहता है कि हे राजन्! न तो मेरे पास शस्त्र है और न मैं उत्तम कुल में राजा ही हुआ हूं किन्तु हमेशा मुख में घास रखने वाला मैं निरपराधी जीव हूं, मुझे यदि मारोगे तो तुम्हारी कीर्ति कैसे होगी? यह विचारनीय है। कहा हुआ है कि:—

"वैरिणोऽपि विमुच्यन्ते प्राणान्ते तृणभक्षणात्।
तृणाहाराः सदैवैते हन्यन्ते पशवः कथम्?"
वने निरपराधानां वायुतोय तृणाशिनाम्।
निघ्नन् मृगाणां मांसार्थी विशिष्येत कथं शुनः॥ २३॥‡

‡ अहिंसा दिग्दर्शन पृष्ठ १०४-१०५।

इस तरह शिकार खेल कर हिंसा करने में शौर्यता नहीं है। और न ऐसा हिंसक व्यक्ति सर्व प्राणियों को समुचित रक्षा कर सकता है। इस लिये वास्तविक वीरता और शौर्यता अहिंसा पालन में ही है।

यह कहना कि अहिंसा पालन से ही राष्ट्रों का पतन होता है कुछ भी मूल्य नहीं रखता। किसी भी राष्ट्र से यह बात लागू नहीं होसकी। भारत को ही ले लीजिए। उसके विषय में यह कहना कि जैन और बौद्ध लोगों के अहिंसा सम्बन्धी उपदेश से भारत का पतन हुआ, तनिक ऐतिहासिकता के भी विरुद्ध पड़ता है। इतिहास पर दृष्टि डालने से हमको ज्ञात हो जाता है कि जब तक यहां अहिंसा धर्म को प्रधानता रही तब तक भारत का झण्डा विदेशों में भी फहराता रहा। महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य जैन धर्मानुयायी थे। उनके समक्ष यूनानी आक्रमणकों की दाल नहीं गली थी। झक मारकर उनको वापस अपने देश को ही लौट जाना पड़ा था अथवा भारतीय लोहा मान कर रहना पड़ा था। फिर दयालु अशोक प्रिय दर्शी के राजत्वकाल में भारतीय अहिंसा धर्म का दिग्व्यापी सन्देश विदेशों में भी पहुंचा था। वहां राजा अशोक के इस सन्देश को मान दिया गया था। अहिंसाधर्म का पालन विदेशों में भी होने लगा था। भारत की प्रजा बड़ी सुख-शान्ति से जीवन-यापन करती थी, यह सर्व प्रकट है। परन्तु दूसरी ओर मध्यकाल में जब अधिकांश हिन्दू राजागण मांस भोजी थे तब मुसलमानों के आक्रमण के सामने वे टिक न सके! मुसलमानों ने उनको परास्त करके सारे भारत पर अपना दौर दौरा जमाया। यदि मांसभक्षण में ही शौर्यता और वीरता थी तो अहिंसातत्व को महत्व न देने वाले

राजागण क्यों परास्त हुए ? प्रतिहिंसा ही विजय मन्त्र है तो इनसे मुसलमान क्यों नहीं पराजित हुए ? किन्तु पाठकगण, हिंसा मांस भोजन की प्रधानता के साथ इन हिन्दू राजाओं में तमोगुण इतना प्रबल हो गया था कि ये ज़रा ज़रासी बात के लिए आपस ही में लड़ मरते थे। इसलिए घरेलू झगड़े और आपसी अनैक्य उस समय बढ़े हुए थे; जिसके बल पर मुसलमानों का बन आई ! जयचन्द ने अपने निजीस्वार्थ के समक्ष समग्र भारत की भलाई का कुछ भी ध्यान नहीं किया ! इस के बिलकुल बरअक्स सम्राट् चन्द्रगुप्त और अशोक को भारतियों का ही नहीं बल्कि प्राणीमात्र की भलाई का कितना अधिक ख़याल था—अहिंसा की मान्यता उनके निकट कितनी अधिक थी, यह सर्व प्रकट है। इसलिये शौर्यता और वीरता अहिंसा धर्म के पालन से नष्ट नहीं हो सकती, प्रत्युत उस का वास्तविक विकास इसी अवस्था में होता है।

जैनियों के विषय में मालूम है कि वे कट्टर अहिंसा पालक हमेशा से रहे हैं। परन्तु उन में भी अनेकों रणाङ्गन वीर हो गुज़रे हैं। आज जो उनकी हीनदशा है वह अहिंसातत्व के स्वरूप को न समझने के कारण ही हो रही है। वरन् कौन नहीं जानता कि सम्राट चन्द्रगुप्त के अतिरिक्त खारवेल मेघवाहन, अमोघवर्ष, कुमारपाल, रायमल्ल, चामुंडराय प्रभृति राजागण पूर्ण अहिंसक रह कर भी अपने देश और प्रजा की रक्षा कर चुके हैं। जैनाचार्य स्वयं इनके गुरू थे, परन्तु उन्होंने इस कर्तव्य पालन में कभी भी बाधा नहीं डाली। क्योंकि वह जानते थे गृहस्थजन आरम्भी और विरोधी हिंसा के त्यागी नहीं हैं। वह उनको क्षम्य है। पृथ्वीराज के समय में गुजरात से उनकी सेना का मुकाबिला करने एक अहिंसक

जैन ही आता था। फिर भामाशाह के स्वार्थ त्याग को कौन नहीं जानता? जिन्हों ने अपना सर्वस्व मेवाड़ के लिए राणाप्रताप के चरणों पर उत्सर्गीकृत कर दिया था। १६ वीं और १७ वीं शताब्दी में राजपूताने के राजाओं की सेवा ओसवाल जैनों ने सेनापति, राजमन्त्री और दीवान बनकर की हैं। उन की बहादुरी के उपलक्ष में आज भी उन्हें पट्टे और जागीरें मिली हुई हैं। सारांश यह कि अहिंसा से मनुष्य में भीरुता नहीं आती, बल्कि वह उसे सात्विक साहसी, सन्तोषी और विवेकवान् बना देती है। अहिंसक वीर वृथा किसी के प्राणों को जान बूझ कर पीड़ा नहीं पहुंचायगा; किन्तु उस पर या उसके आश्रितजन या देश पर कोई आक्रमण करेगा अथवा अन्यत्र कहीं अन्याय फैल रहा होगा तो इनके प्रतिकार के लिए वह प्राकृतिक रूप में बिना किसी द्वेष भाव के ऐसे आततायी का मुकाबिला करेगा।

इस प्रकार जैनधर्म और बौद्धधर्म के प्रधान ज़माने में भारत में स्वर्ण अवसर व्याप्त था। जब तक यहां अहिंसा की प्रधानता रही तब तक किसी भी विदेशी को यहां आकर सताने का मौक़ा ही नहीं मिला। जब तक उपरोक्त दोनों धर्म यहां राष्ट्रीय धर्म की तरह प्रचलित रहे तब तक यहां सर्व ओर और सर्व ठौर स्वतन्त्रता, शान्ति और सम्पत्ति यथेष्ट रूप में विद्यमान थी। गुज़रात के इतिहास में भी वही समय विशेष उन्नतिशील और सम्पतिशाली रहा है जिस समय वहां जैन राजा सर्वत्वाधिकारी थे। 'उस समय गुजरात का ऐश्वर्य चरमसीमा पर पहुंच चुका था। वहाँ के सिंहासन का तेज दिग दिगन्त में व्याप्त था। गुजरात के इतिहास में दण्डनायक विमलशाह, मन्त्री मुजाल, मन्त्री शान्तु, महामात्य उदयन और वाहड़,

वस्तुपाल और तेजपाल, आभू और जगडू इत्यादि जैन राज्याधिकारियों को जो स्थान प्राप्त है; वह शायद दूसरों को न होगा ?' केवल गुजरात ही में नहीं प्रत्युत भारत के इतिहास में अनेकों अहिंसक वीरों की वीरता के दृष्टान्त देखने को मिलते हैं। ऐसी परिस्थिति में अहिंसा के मत्थे भारतपतन का इलज़ाम मढ़ना युक्तियुक्त नहीं है। एक मान्यलेखक के विचार इस ओर मननीय हैं :-

"जिस धर्म के अनुयायी इतने पराक्रमशील और शूरवीर थे और जिन्होंने अपने पराक्रम से देश को तथा अपने राज्य को इतना समृद्ध और सत्वशील बनाया था उस धर्म के प्रचार से देश और प्रजा की अधोगति किस प्रकार हो सकती है। कायरता या गुलामी का मूल कारण अहिंसा कभी नहीं हो सकती। जिन देशों में हिंसा खूब ज़ोरशोर से प्रचलित है, जिस देश के निवासी अहिंसा का नाम तक नहीं जानते, केवल मांस ही जिनका प्रधान आहार है और जिनकी वृत्तियां हिंसक पशुओं से भी अधिक क्रूर हैं, क्या वे देश हमेशा आज़ाद रहते हैं ? रोमन साम्राज्य ने किस दिन अहिंसा का नाम सुना था ? उसने कब मांसभक्षण का त्याग किया था ? फिर वह कौनसा कारण था जिससे उसका नाम दुनिया के पर्दे से मिट गया ? स्वयं भारतवर्ष का ही उदाहरण लीजिए। मुग़ल सम्राटों ने किस दिन अहिंसा की आराधना की थी, उन्होंने कब पशुवध को छोड़ा था; फिर क्या कारण है कि उनका अस्तित्व नष्ट होगया ? इन उदाहरणों से स्पष्ट ज़ाहिर होता है कि देश की राजनैतिक उन्नति और अवनति में हिंसा अथवा अहिंसा कोई कारणभूत नहीं है। देश क्यों गुलाम होते हैं, जातियां क्यों नष्ट होजाती हैं, साम्राज्य क्यों बिखर जाते हैं, इन घटनाओं के मूल

कारण हिंसा और अहिंसा में ढूँढने से नहीं मिल सकते। इनके कारण तो मनोविज्ञान और साम्राज्य के भीतरी रहस्यों में ढूंढने से मिल सकते हैं। हम तो यहां तक कह सकते हैं कि मनोविज्ञान के उन तत्वों को-जिनके ऊपर देश और जाति की आज़ादी मुनहसर है-अहिंसा के भाव बहुत सहायता प्रदान करते हैं। मनस्तत्व के वेत्ता और समाजशास्त्रके पण्डित इस बात को भली प्रकार जानते हैं कि जब तक मनुष्य के जीवन में नैतिकता का विकास होता रहता है, तबतक उस जाति का तथा समाज का कोई भी वाह्य अनिष्ट नहीं हो सकता। ग़रीबी और गुलामी उसके पास नहीं फटक सकती। जितनी भी जातियां अथवा देश गुलाम होते हैं वे सब नैतिक कमजोरी के कारण अथवा यों कहिए कि आसुरी सम्पद के आधिक्यके कारण होते हैं। दैवी सम्पद और नैतिक जीवन का मूल कारण सतोगुण का विकास होने से उत्पन्न होता है। सत्वशाली प्रजाका जीवन ही श्रेष्ठ और नैतिकता से युक्त हो सकता है। अहिंसा इसी सतोगुण की जननी है। जबतक मनुष्य के अंतर्गत यह तत्व जागृत रहता है तब तक उसका कोई अनिष्ट नहीं हो सकता। हिंसा की क्रूर भावनाओं से ही मनुष्य की तामसिक वृत्तिका उदय होता है, जोकि व्यष्टि और समष्टि दोनों की घातक है। अतः सिद्ध हुआ कि "अहिंसा ही वह मूल तत्व है जहां से शान्ति, शक्ति, स्वाधीनता, क्षमा, पवित्रता और सहिष्णुता की धारायें शतधा और सहस्रधा होकर बहती रहती हैं। जबतक मनुष्य के हृदय में अहिंसा का उज्वल प्रकाश रहता है, तबतक उसके हृदय में वैर विरोध की भावनायें प्रविष्ट नहीं हो सकतीं और जबतक वैर विरोध की भावनाओं का समावेश नहीं हो जाता तबतक संगठन शक्ति में किसी प्रकार

को विशृंखलता उत्पन्न नहीं हो सकती। एवं प्रायः निश्चय ही है, संगठनशक्ति से युक्त जातियां बाहरी आपत्तियों से रक्षित रहती हैं।"* इसलिए अहिंसा पालन सुदर्शन चक्र का पाना ही है। उससे प्रत्येक कार्य की पूर्ति होती है। सत्य ही हैः—

"दीरघ आयु नामकुल उत्तम, गुण संपति आनन्द निवास।
उन्नति विभव सुगम भवसागर, तीन भुवन महिमा परकास॥
भव बलवन्त अनन्तरूप छवि, रोगरहित नित भोगविलास।
जिनके चित्त दयाल तिन्हीं क, सब सुख होहिं बनारसिदास॥"

---

(११)

सत्य-व्रत-विवेचन।

"बोले झूठ न झूठ बुलावे, कहे न सच भी दुखकारी।
स्थूल झूठ से विरक्त होवे, है सत्याणु व्रत धारी॥
निन्दा करना, धरोड़ हरना, कूटलेख लिखना, परिवाद।
गुप्त बात को जाहिर करना, ये इस के अतिचार प्रमाद॥
इस व्रत के पालन करने से पूज्य सेठ धनदेव हुआ।
नहीं पाल मिथ्या रत होकर, सत्यघोष त्यों दुखी मुआ॥
मिथ्यावाणी ऐसी ही है, सब जग को संकट दाई।
इसे हटाओ, नहीं लड़ाओ, समझाओ सब को भाई॥"

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार हिन्दी

सत्य व्रत का पालन करना मानो यथार्थता को पा लेना है। जो बात ज्यों है उसको ज्यों को त्यों कहना सत्य है।

---

*भगवान महावीर पृष्ठ २६५-२६७।

वस्तुस्थिति जैसी है, पदार्थ का स्वरूप जैसा है उसको वैसा ही कहदेना सत्य है। सत्य के सद्भाव में अनार्षता अन्त को पहुंच जाती है और प्राणियों को आनन्द प्राप्त होता है। इस व्रत का पूर्ण पालन तो मुनिगण ही कर सकते हैं; परन्तु गृहस्थ-जन भी स्थूल रूप में इसके अभ्यास से लाभ उठा सकते हैं। यही कारण है कि आज हमारे प्रारम्भिक मदरसों और पाठ-शालाओं में कोमल बुद्धि के बच्चों को 'सच बोलने' का पाठ-पढ़ाया जाता है। उस नन्हीं अवस्था से ही इसके महत्व को हृदयङ्गम कराया जाता है। तिस पर भी पाप-पिशाच का कुप्रभाव इतना प्रबल व्यापी हो रहा है कि आज संसार में कठिनता से सत्य ढूंढने पर मिलता है। मनुष्य के दैनिक जीवन व्यवहार में 'डिप्लोमेसी-पिशाची' ऐसा ताण्डव-नृत्य कर रही है कि बेचारी 'सत्यमूर्ति' के कहीं दर्शन ही प्रायः नहीं हो रहे हैं। मनुष्य इसी असद्प्रवृति के वशीभूत हुआ आर्ष-सत्य-मार्गों, धर्मों में भी इस अनार्ष-मिथ्या प्रवृति को घुसेड़ रहा है। यथार्थ-वस्तुरूप अथवा सत्य सर्वदा सर्वत्र एक रूप है। उसमें कहीं कभी अन्तर पड़ नहीं सकता। परन्तु मनुष्य महाशय अपनी आसुरी प्रवृति के अनुसार उसमें भी अन्तर डालने को उतारू हो जाता है। ऐसे ही अनार्ष-मिथ्या प्रवृतकों की कृपा से आज यथार्थ सत्य के भी विलक्षण रूप देखने को मिलते हैं। किन्तु यह मृषावाद है, विकृतनेत्रों का विकार है। सत्य एक है, एक रूप है, वैसा ही था और वैसा ही रहेगा। मनुष्य प्रवृति भले हो उसके मनोगत रूप बना डाले, किन्तु उस में उसका हित कुछ भी नहीं है। इसीलिए आज संसार कार्य में व्यस्त प्रत्येक प्राणी को सुख-प्रासाद का द्वार दिखाने के लिए, उसे सुख के राजमार्ग पर लाने के लिए, परस्पर प्रेमपूर्वक काल बिताने के

लिए 'सत्य-मार्ग' का बताना लाज़मी हो रहा है। सत्य मार्ग पर आने के लिए प्राणियों को अपने विवेक से कार्य लेना होगा। और यथार्थता को जानकर सत्य की आराधना करनी होगी!

अस्तु विचारणीय यह है कि सत्य है क्या? ऊपर हम कह चुके हैं कि वस्तुस्थिति को ज्यों का त्यों कहना ही सत्य है। इसलिये आचार्यों ने असत्य की व्याख्या की है कि :—

"असदभिधानमनृतम् ॥ १४ ॥" (तत्वार्थ सूत्र)

भावार्थ—प्रमत्तयोग के वशीभूत होकर किसी को पीड़ा जनक वचन कहना असत्य है। प्रमत्तयोग वही है जिस में मन, वचन, काय में विकृतपना—कषायभाव आया हो। अतएव यह अनिवार्य है कि जब स्वयं हमारी आत्मा अपने स्वभाव से विचलित होकर किसी को कुछ कहे तो उसके यह शब्द अवश्य ही दूसरे को पीड़ाजनक होंगे। यदि किसी के घर में प्रचण्ड आग लग रही हो और वह उस में धधकती हुई चीज़ों को अपने पड़ोसियों पर फेंके तो अवश्य ही उस के पड़ोसियों को झुलसना पड़ेगा। यही दशा असत्य के सम्बन्ध में है। मनुष्य जब असलियत से विचलित होता है तब ही हो उस के सत्य-व्रत का अभाव और असत्य का सद्भाव होता है। इस प्रकार सत्य-व्रत को त्यागने से मनुष्य स्वय अपनी आत्मा का अहित करता है और दूसरों के हृदय को पीड़ा उपजाता है। ज़रा आप एक कोमल बुद्धि के भोले बालक की ओर ध्यान दीजिये जो यह जानता है कि यदि मैं अमुक कार्य करूंगा तो पिटूंगा। किन्तु अज्ञातवश वह उस कार्य को कर जाता है और पिटने के भय से उसे छिपाने की कोशिश करता है। परन्तु उस समय उसकी आकृति बतला देती है कि वह

उस कृतकर्म को छिपाने के लिए कितनी आत्म-ग्लानि और पीड़ा को सहन कर रहा है।

आधुनिक तत्ववेत्ता भी इस ही बात को निम्न प्रकार स्पष्ट करते हैं :-

"सत्य सदैव हमारे मनोगत भावों का सहज और निजी विकास है; जब कि असत्य हमारे स्वभाव पर कुछ आघात करता है, क्योंकि किसी कार्य को छुपाने की कुत्सित भावना का प्रभाव पड़ता ही है।"*

इस लिए जब असत्य बोलना स्वयं हमको और परपुरुषों को पीड़ाजनक है तो उस का हमें अभ्यास नहीं करना चाहिये। सत्य का ही आदर करना आवश्यक है। लोक व्यवहार में भी जो सत्यनिष्ठ की मान्यता और प्रतिष्ठा होती है वह एक झूठे मनुष्य की नहीं होती प्रत्युत लोक में उसको लज्जा और परिहास का भाजन बनना पड़ता है। इसी लिए कहा गया है कि:—

> यद्वस्तु यद्देशकाल प्रमाकारं प्रतिश्रुतं।
> तस्मिंस्तथैव संवादि सत्य सत्यं वचो वदेत् ॥ ४१ ॥

अर्थात्—"जो पदार्थ जिस देश में जिस काल में कहा है, जो कुछ उसका परिणाम वा संख्या कही है तथा जो कुछ उसका रंग आकार आदि कहा है उस पदार्थ को उसी देश उसी काल का कहना; वही उसका परिणाम वा संख्या बतलाना और वही उसका रङ्ग व आकार कहना। वह जैसा है उसे वैसाही ज्यों का त्यों यथार्थ कहना सत्य सत्य है। श्रावक को ऐसा सत्य सत्य वचन सदा बोलना चाहिए।"

---

*Useful Instr. vol. III p. 307

(सागार धर्मामृत पृष्ठ २६७) ऐसे सत्य को आचार्यों ने व्रत की उपमा दी है: यथाः-

"स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे ।
यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावाद् वैरमणम् ॥ ५५ ॥ र० श्रा०

अर्थात्—"जो स्थूल झूठ नहीं बोलता है, न दूसरे से बुलवाता है तथा जिस से किसी पर विपत्ति आजाय ऐसे सत्य को भी नहीं बोलता है, उसका नाम स्थूलमृषावाद वैरमण नाम व्रत है, ऐसा सन्त पुरुष कहते हैं ।" यही बात अमितगति आचार्य कहते हैं:-

"क्रोध लोभमदरागद्वेष मोहादि कारणैः ।
असत्यस्य परित्यागः सत्याणुव्रत मुच्यते ॥ ७६६ ॥"

अर्थात्—"क्रोध, लोभ, मद, राग, द्वेष, मोह आदि कारणों से झूठ बोलने का जो त्याग करना उसको सत्याणुव्रत कहते हैं ।" इसका पालन करना स्वयं अपने लिए व दूसरों के लिए हितकर है: क्योंकि इस अभ्यास के द्वारा कभी भी आत्म दुःख का अनुभव नहीं करना पड़ेगा और दूसरों को धोखा देकर उनके प्राणों को दुःख नहीं पहुंचाने का पुण्य प्राप्त होता है । आचार्यों ने इसका पालन चार प्रकार के असत्य को त्याग देने से बतलाया है। श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' में यह इस तरह बताये गए हैं :-

(१) "जो चेतन व अचेतन पदार्थ हो कहना कि नहीं है। जैसे किसी ने पूछा कि क्या देवदत्त मौजूद है ? उसको कहना कि नहीं है, यद्यपि देवदत्त मौजूद है ।

(२) "जो चेतन व अचेतन पदार्थ न हो उसको कहना कि है; जैसे किसी ने पूछा कि क्या यहां घड़ा है ? तो उसको यह उत्तर देना कि 'है' यद्यपि वस्तु मौजूद नहीं है ।

(३) "जो चेतन व अचेतन पदार्थ जैसा हो उसको वैसा न कह कर और रूप कहना । जैसे किसी ने पूछा कि क्या यहां देवदत्त है ? तो देवदत्त होते हुए भी यह कहना कि यहां देवदत्त नहीं है किन्तु रामसिंह है अथवा धर्म का स्वरूप हिंसा मई कहना । और

(४) "गर्हित, सावद्य और अप्रिय वचन कहना । दुष्टना हँसी करने वाले वचन, कठोर वचन तथा अमर्यादीक वचन व बहुत प्रलाप याने बकवाद रूप वचन कहना सो गर्हित है; छेदन, भेदन, ताड़न, मारण, कर्षण, वाणिज्य तथा चोरी आदि के पापरूप वचन कहना सो सावद्य वचन है । अरति पैदा करने वाले, भय देने वाले, खेद करने वाले, वैर, शोक तथा कलह कहिये लड़ाई करने वाले तथा सन्ताप पैदा करने वाले वचनों को कहना सो अप्रिय वचन है ।

"इन चार प्रकार के असत्यों में से केवल भोग और उपभोग की सामग्री की प्राप्ति व उसके उपायों के लिये सावद्य कहिये पापरूप वचनों के सिवाय और समस्त असत्य का त्यागना योग्य है । आरम्भ कार्यों के लिये जो वचन कहा जाता है वह भी सावद्य नाम का असत्य है, परन्तु आरम्भी गृहस्थी इस तरह के असत्य को त्यागने से लाचार है । सत्य अणुव्रती को योग्य है कि वचन बहुत सम्हाल के बोले, कड़ये, कठोर, मर्म छेदने वाले आदि अविनय करने वाले तथा अभिमान बढ़ाने वाले वचनों को यद्यपि वे सत्य भी हों तब भी न कहे । जिन सत्य वचनों से दूसरे पर भारी आपत्ति आ जाय व प्राण चले जांय ऐसे सत्य वचन को भी नहीं बोले । व्यापारादि में वस्तु की लागत झूठ न बतावे, उचित नफा जोड़कर दाम लेवे, खोटी वस्तु को खरी न कहे । सत्य बोलने वाला

गृहस्थी अपना विश्वास जमाता है तथा थोड़ी सी बातचीत में अपना मतलब सिद्ध कर सकता है। यह अवश्य याद रखना चाहिये कि जिस वचन के कहने में अन्तरङ्ग में प्रमत्तभाव अर्थात् कषाय भाव हो, उसी को असत्यभाव कहते हैं। प्रमत्त योग रहित जो वचन हैं सो असत्य नहीं हैं।"

(गृहस्थधर्म पृष्ठ १०१-१०३)

कषाय अथवा वासनातममें फँसकर ही प्राणी इस कल्याणकारी सत्य का त्याग करता है और झूठ को अपनाता है। कड़वे, कठोर, मर्म छेदनेवाले वचनकहते वह नहीं हिचकता है। जहां अपना लाभ देखता है अथवा जहां अपनी झूठी मानबड़ाई या मन बहलाव देखता है वहां फोरन सत्यव्रत की परवा न करके वह झूठ का शिकार हो जाता है। फिर वह दूसरों की हानि का कुछ भी ध्यान नहीं करता और न अपने आत्मपतन की ओर दृष्टि पाड़ता है। अपने कुत्सित अभिप्रायों की सिद्धि के लिये वह यथार्थता पर सफेदी फेरता है, घटित घटनाओं के विपरीत कहते नहीं हिचकता है। आचार्य तो कहते हैं कि यदि दूसरे के प्राण संकट में पड़ते हों तो ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिये, परन्तु वह इस की भी उपेक्षा करता है। सारांश यह कि स्वार्थतम में पड़ा हुआ मनुष्य सर्वथा सत्य की अवहेलना कर के दुःखों का शिकार बनता है।

यहां पर शायद यह शंका हो सकती है कि घटित घटना को ज्यों को त्यों कहना उपरोक्त पर पीड़ाजनक अवस्था में असत्य क्यों समझा जाय? इस पर ज़रा गम्भीर विचार करने की आवश्यकता है। कतिपय अवसरों पर सांसारिक कार्यों में उलझन व पेचीदगी आ पड़ती है। मान लीजिये कि एक गाय पूर्व को भागी जा रही है और कसाई तलवार लिए

उसके पीछे भागा आता है, वह आप से पूछता है कि गाय किधर को गई? अब आप यदि यह कहते हैं कि गाय पूर्व को गई तो प्रत्यक्ष है कि वह कसाई जाकर गाय का वध कर देगा। और यदि आप गाय का जाना किसी अन्य दिशा में बतलाते हैं तो घटना के विपरीत बोलने का दूषण आप पर आता है। इस द्विविधा में आप चिन्ताग्रस्त खड़े हैं। दूसरा उदाहरण लीजिये कि वन में एक यात्री कि जिसके पास विशेष धन है, जारहा है। उस की खोज में एक समूह डाकुओं का फिर रहा है। वह आप से पूछता है कि यात्री किधर को गया? यदि आप उस के जाने की ठीक दिशा बतलाते हैं तो यात्री लुटता है, बल्कि सम्भव है कि मारा भी जावे। यदि किसी और दिशा को बतलाते हैं तो घटना के प्रतिकूल होता है। अतएव इस कठिनाई को हल करने के लिये हमें सर्वोच्च धार्मिक सिद्धान्त अहिंसा पर आना होगा। यह हमें मालूम है कि किसी निरपराध जीवित प्राणी की हत्या करना या नुकसान पहुंचाना उस की व अपनी दोनों की आत्मोन्नति को रोकता है, और बुरा है। इसलिए यदि आप कसाई को गाय के जाने की ठीक दिशा बताते हैं अथवा डाकुओं को धनी यात्री का पता बताते हैं तो दूसरे शब्दों में कहना होगा कि आप इस महान सत्यसिद्धान्त के विरुद्ध कार्य करते हैं, अर्थात् झूठ की पाबन्दी करते हैं। यही कारण है कि प्राचीन ऋषियों ने ऐसी बात को कि जो यद्यपि घटना के अनुसार हो परन्तु दूसरों की हत्या या हानि पहुंचाने वाली हो, झूठ में ही गिना है। आप कसाई को गाय के जाने की ठीक दिशा बतला कर कसाई की आत्मा में वध करने के समय हिंसा अदया आदि कषाय भावों को उत्पन्न कर के उस की आत्मोन्नति को रोकते हैं। और गाय जिस समय

मारी जायगी उसके आत्मा में महान क्लेश व भय व दुःख उत्पन्न हो कर उस की आत्मा भी आत्मोन्नति से बहुत कुछ पीछे हट जायगी। और आप स्वयं इस में सम्मिलित होकर अपनी आत्मोन्नति से भी विमुख होंगे। सारांशतः इस घटना के अनुसार बात को कह कर आप तीन आत्माओं की आत्मोन्नति को हानि पहुंचाते हैं। इसलिये यह बात चाहे घटना के अनुसार हो झूंठ में ही सम्मिलित है। इस प्रकार दूसरों को हानि कर घटना का भी उल्लेख सत्यव्रती को नहीं करना चाहिये। इसी बात को लक्ष्य कर हिन्दू नीतिकार मनु महाराज कहते हैं कि :—

"सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयात्‌ न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्‌ ॥
प्रियं च नानृतं ब्रूयाद्‌ एष धर्मः सनातनः ॥ १३८ ॥ ४ ॥"

अर्थात्‌—जो सत्य है वही कहो और जो कहो वह मिष्ट हो, परन्तु अदयापूर्ण सत्य मत कहो और न मिष्ठ असत्य ही कहो। यह सनातन धर्म है। अतएव इस का अभ्यास करना हमारे लिए लाजमी है। यह हमारा मनुष्य कर्तव्य है। एक आधुनिक विद्वान कहते हैं कि :—

"सच बोलना वह ऋण है जो हमें समग्र मानव समुदाय का देना है। वचनशक्ति एक दूसरे से बातचीत और सहयोग करने के लिये और मनस्तत्व को जानने के लिये जो अन्यथा गुप्त पड़ा है, हमें प्राप्त है। यदि यह इन के लिये न होती तो हमारे वार्तालाप भी पशुओं के समान ही होते। अब जब कि यह वचन शक्ति मनुष्यमात्र की भलाई और सुगमता के लिये है तो इस पर यह एक लाजमी फर्ज है कि यह इसी कार्य के लिए ही प्रयोग में लाई जावे, किन्तु जो असत्यभाषण करता है वह इस फर्ज के अदा करने से कोसों दूर है। उलटे

इस को भाषा पीड़ोत्पादक है और उस को धोखे में डालने वाली जिस से कि वह बात करता है।"* इस ही बात को लक्ष्य कर के इस आवश्यक कर्तव्य की पूर्ति का विधान प्रत्येक धर्म ने किया है। ऋग्वेद कहता है कि :-

"मित्रवर्ण! समग्र असत्य पर तू विजय पा और सनातन धर्म को दृढ़ता से अपना।"

"हे अग्नि! तेरा आवर्ण तीन दफे उस पिशाच को घेरे जो पवित्र संघ को असत्य द्वारा पीड़ा पहुंचाता है।" †

"सत्य ही वह आधार है जिस पर पृथ्वी अवस्थित है; सूर्य से स्वर्ग आधारित है। धर्म से आदित्य स्वरक्षित स्थित है और सोम का स्थान स्वर्ग में है।" × जब हिन्दू धर्म का आधारभूत ऋग्वेद ही समस्त पृथ्वी का आधार सत्य को बतलाता है तो प्रत्येक हिन्दू के लिए इस सत्य का दिगन्तव्यापी प्रकाश अपने शुभकर्मों द्वारा चहुं ओर फैला देना आवश्यक है। शतपथ ब्राह्मण कहता है कि सत्य देवों का मुख्यगुण है और असत्य असुरों का दुर्गुण है (Sh. Br. I 1.1.45)। अतएव यदि हम नीच असुरों में अपनी गणना नहीं कराना चाहते तो सत्य-व्रत का अभ्यास करना लाज़मी है। सत्यव्रत का पालन हर समय हमारी रक्षा करने को तैयार है। ऋग्वेद में कहा गया है कि:—

"बुद्धिवान् सत्यासत्य को सहज पहचान लेता है—उन के शब्द परस्पर विरोधक होते हैं। इन दो में जो सच्चे और

---

* U. I. Vol. III p.309

† Rg. X 87.11

× Rg. X 85.1

ईमानदार हैं उनकी रक्षा सोम करता है और झूठे को कुछ के बराबर भी नहीं छोड़ता है।" "अग्नि ! हम में से सत्यनिष्ठों को सम्पत्ति प्रदान कर।"

रामायण में भी सत्य की विशेष व्याख्या की गई है। अन्ततः उसमें लिखा है कि 'धर्मात्मा पुरुष जो हैं वह सत्य का अभ्यास करते हैं। इसलिये सत्य का पालन सब को करना चाहिए।' इस ही के प्रतिसर्ग ३ में रामचन्द्र जी सत्य को ही मुख्य धर्म बताते हैं और काम, क्रोध, भय आदि के वशीभूत होना पापवर्द्धक कहते हैं। महाभारत में भी 'सत्य को ही परमधर्म बताया है और असत्य को घोर पाप। प्रत्युत सत्य को धर्म का आधार स्तम्भ बताया है। (शान्ति पर्व १६७। ६७-७६)।

इसी तरह ईसाई धर्म में भी सत्य को प्रधानता दी गई है। बाइबिल की दस आज्ञाओं में एक यह भी आज्ञा है कि 'न असत्य साक्षी मत दे।'

इसही बात की पुष्टि बाइबिल के निम्न उद्धरण करते हैं:—

"वह जो सच बोलता है पुण्य को पाता है, किन्तु झूठा साक्षी धोखा देता है।"

"सच बोलो, और तेरा एक २ शब्द फलदायक बीज होगा।"

"सच बोलने वाले ओंठ सदैव के लिए स्थित रहेंगे, किन्तु असत्यमय जिव्हा क्षणभर ही रहेगी।" † इस ही लिए प्रत्येक ईसाई अपनी प्रार्थना में यह भावना करता है कि अपनी जिव्हा पर अधिकार रक्खूं कि दूसरों को उससे कष्ट न पहुंचे।

यदि अपने नाश का भय है तो सत्यव्रत का पालन करना चाहिए, यही बाइबिल का सन्देश है।

---

† Bible Proverbs 12

इस्लाम धर्म में भी इसकी मान्यता है। 'मिशातुलमसा-बिह' में लिखा है कि "पैगम्बर साहब (मुहम्मद) ने कहा कि उसको छोड़ो जो तुम्हें संशय में डालता है। और उस को अपनाओ जो संशय से विलग रखता है; क्योंकि सत्य हृदय को शांति का कारण है। और सचमुच झूंठ संशय का बीज है। मेरा भाव है कि सच की वाञ्छा करो और झूंठ को त्यागो।"

सत्य का महत्व कुरान शरीफ की उस आयत से प्रकट है जिसमें स्वयं परमात्मा को ही सत्य बताया गया है।

इसी लिए वहीं कहा गया है कि मनुष्यों से सच्ची बात चीत करो। क्योंकि 'सत्य आया है और असत्य लुप्त हुआ है: असत्य वह पदार्थ है जो लुप्त होता है।' इसीलिए मोमिनों से कहा गया है कि 'हमारे साथ आत्मघातक धोके बाज़ों के लिए प्रार्थना मत करो; क्योंकि ईश्वर धोखेबाज़ों और बदमाशों से प्रेम नहीं करता। वे स्वयं मनुष्यों से अपने को छिपाते हैं, किन्तु परमात्मा से वे अपने को नहीं छिपा सके।" इस्लाम में मिथ्याभाषी मोमिनों से एक सत्यवादी को अच्छा माना है, सुखी बताया है; इसलिए पैगम्बर कहते हैं कि 'मोमिनो! उसका तुम विश्वास ही क्यों किये हो जिस को तुम अमल में नहीं लाते? परमात्मा को वही सब से अधिक अप्रिय है जो तुम कहते हो पर वैसे तुम हो नहीं! इसलिए सत्यव्रत का पालन करना इस्लाम की दृष्टि से भी श्रेयस्कर है।

पारसियों के धर्म में भी सत्य को स्वीकार किया गया है। उनके 'दिनकरद' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि "सत्य यह है: जो कोई कुछ कहता है वह वही कहता है जो कि उस को कहना चाहिए और इस होशियारी से कहता है कि मानो परमा-

न्मा और अमेशस्पेन्द् पास ही खड़े उसके भाषण को सुन और समझ रहे हो।"

इस ही लिए इसी ग्रन्थ में सत्य को सर्वोत्तम और असत्य को परमहेय वस्तु कहा है। और बतलाया है कि "नैतिकचारित्र की आवश्यक पूर्तियों का निष्कर्ष यही है कि तुम अपने विचार और शब्द और कार्य बिल्कुल सत्य रक्खो; एवं पवित्र जीवन यह है। हर कोई द्रुज (असत्य) को त्याग करके उसे फिर अपने पास न आने दे।" इस प्रकार पारसीधर्म में भी सत्य को पवित्र जीवन व्यतीत करने के लिये आवश्यक समझा गया है।

बौद्धों के यहां भी इसका महत्व भुलाया नहीं गया है। उनके 'तेविज्जसुत्त' में 'चूलशीलम्' के विवरण में कहा गया है कि:-

'पांच व्रतों में बताएगए सत्यव्रत के अनुसार असत्य का त्याग करने से असत्य भाषण का अभ्यास छूटता है। सत्यव्रती सत्य बोलता है, वह उस से कभी पीछे नहीं हटता। वह विश्वास पात्र होता है जिसके कारण वह माया-चारी से अपने साथियों को नहीं ठगता है। महासुदस्सन सुत्त' में भी असत्यभाषण का विरोध किया गया है, 'धम्मपद' में भी असत्यभाषीको नर्कगामी बतलाया गया है।

सुत्तनिपात में भी गृहस्थ के लिये मन, वचन काय से झूठ बोलने की सर्वथा मनाई है।

इसी लिए म० बुद्ध कहते हैं कि "सत्य धर्म वह जीती जागती शक्ति है जिसे न कोई नाश कर सकता है और न जीत सकता है। सचको ही अपने जीवन में बरतो और मनुष्यों में उसी का प्रचार करो, क्योंकि सच ही पापों और दुःखों से बचायेगा। सत्य बुद्ध है और बुद्ध सत्य!" (भग.

वान् बुद्धदेव, पृष्ठ ६) अतएव सत्य के उपासक बनो सत्य-मार्ग का अनुसरण करो।

सिक्खधर्म में सच्च को उपमा एक दृढ़ पाषाण से और असत्य की मिट्टी के ठीकरे से दी है; जो हर हालत में सत्य के समक्ष दुःखी रहता है। चाहे पत्थर ठीकरे पर गिरे और चाहे ठीकरा पत्थर पर गिरे, हानि ठीकरे की ही होगी। यही दशा असत्य भाषण की है। सत्य सदैव स्वरक्षित है। इसलिए यहां भी सत्य की महत्ता स्वीकृत है। इस तरह संसार में जितने २ भी प्रख्यात् मतप्रवर्तक हुए हैं उन्होंने अहिंसा के साथ इस सत्य को भी प्रकटरूप में स्वीकार किया है, परन्तु दुःख है कि मनुष्य प्रकृति ऐसी चंचल है कि वह इतना होने पर भी सत्य से विमुख है!

अब इस सत्य के पालन के लिए एक नियमित विवेचन होना भी आवश्यक है। इतर धर्मों में हमें ऐसा विवेचन कहीं दिखाई नहीं पड़ता। परन्तु जैन शास्त्रों में वह अवश्य मिल जाता है। उन्हीं के अनुसार इस का किंचित विवेचन हम ऊपर कर आए हैं और उन पर अगाड़ी विचारने से मालूम होता है कि सत्यव्रत के पालन में सहायता पाने के लिए हमें क्रोध, लोभ, भीरुत्व और हास्य का त्याग करना चाहिए और शास्त्रानुसार भाषण का अभ्यास करना चाहिए। यह अवश्य है कि इतर धर्मों में भी इन बातों को अधिकांश में बतलाया गया है, परन्तु वह किसी नियमित वैज्ञानिक ढङ्ग से नहीं। इसीलिए अभ्यासी भ्रम में पड़जाता है। इसलिए एक पूर्ण और यथार्थ विवेचन के लिए जैनधर्म का अध्ययन करना लाज़मी है। अन्यधर्मों से उस में यही विशेषता है। उस में पूर्वापरविरोध कहीं दृष्टिगत नहीं होगा। जो कुछ विवेचन

है वह पूर्ण और नियमित वैज्ञानिक ढङ्गपर है। जैसे कि सत्य के विवेचन से प्रकट है। अस्तु! सत्यखोजी के लिए जैनधर्म का अध्ययन करना लाज़मी है। उसके महत्व को जानने के लिए 'असहमतसंगम' नामक पुस्तक का पाठ करना चाहिए। तो भी क्रोध, लोभादि का निषेध मोटेरूप में ढूंढने से इस्लाम आदि इतर धर्मों में भी मिलजाता है। कुरानशरीफ में क्रोध का निषेध करना फलदायक बतलाया है।

इसी तरह लोभ को बुरा बतलाया है। लोभी पुरुष को ऐसा बताया है कि जो समुद्र का जल भी पीने लगे तो भी न अघाय और अन्त को मृत्यु को प्राप्त होजाय। भीरुत्व का भी हेय बतलाया गया है और हास्य को भी हानिकर लिखा है। तथापि शरीअत की मान्यता-आर्षवाक्यों का श्रद्धान मुसलमानों का प्रख्यात् ही है। कहा भी है कि कुरान में जो विश्वास करते हैं और सत्य का अभ्यास करते हैं वह शास्वत स्थान को पाते हैं। परन्तु यथार्थ सत्य का यहां पर प्रयत्न और स्पष्ट दर्शन पाना कठिन है। यही कारण है कि इस्लाम एवं इतर धर्मों के अनुयायियों में इन अहिंसादि यथार्थ कल्याणकारी चरित्रव्रतों की मान्यता दिखाई नहीं पड़ती! यही दशा अन्यधर्मों की भी है। प्रयत्नतः बाईबिल में भी क्रोध को क्षोभोत्पादक लिखकर क्रोध को शमन करने का उपदेश दिया है। पारसियों के यहां भी कहा गया है कि 'सत्य की परीक्षा क्रोधके समय होती है।' अर्थात् सत्यवान को क्रोध नहीं करना चाहिए और भगवद्गीता में आत्मा को दुःखकर नर्क में लेजानेवाले तीन ही कारण बताए हैं- क्रोध, वाञ्छा और लोभ-तृष्णा-इसीलिए वहां इनके त्याग का उपदेश दिया है। लोभ का भी निषेध बाईबिल में है। पारसियों के उपरोल्लिखि

ग्रंथ में भी कहा है कि 'लोभ का मोह अपने हृदय से निकाल दो, ऐसा करने से तुम्हारी गर्दन से तौक का भार दूर हो जायगा।' बौद्धधर्म भी क्रोध, लोभ, आदि का निषेध करता है।

उक्त बातों को साधारणतया प्रत्येक धर्म में निषेध किया है। इनका त्याग सत्यव्रत पालन में सहायक है। इस प्रकार सत्यव्रत का अभ्यास करते हुए इसे निम्न बातों द्वारा दूषित भी नहीं होने देना चाहिए। जैनाचार्य कहते हैं कि निम्न बातों के करने से यद्यपि सत्यव्रत नष्ट नहीं होता परन्तु वह दूषित होता है, इसलिए इन से भी परहेज़ रखना आवश्यक है। यथाः—

"मिथ्योपदेश रहोभ्याख्यान कूटलेख क्रिया न्यासापहार साकार मन्त्र भेदाः ॥ २६ ॥

(तत्वार्थ सूत्र)

अर्थात्—सत्याणुव्रत के अतीचार (१) मिथ्योपदेश (२) रहोभ्याख्यान (३) कूटलेखक्रिया (४) न्यासापहार और (५) साकारमन्त्रभेद हैं। इन में "प्रमाद से सत्यधर्म से विरुद्ध मिथ्याधर्म का उपदेश देना अथवा प्रमाद से परको पीड़ा पहुंचे ऐसा उपदेश देना सो मिथ्योपदेश है। इससे अपना कोई अर्थ नहीं है।" (गृहस्थधर्म पृष्ठ १०३) वृथा ही परपीड़ा जनक उपदेश देना सत्यधर्म के विरुद्ध है। इस से यह स्पष्ट है कि जो प्रवर्तक सत्य का उपदेश देगा वह कभी भी परपीड़ा जनक हिंसामय मिथ्या सिद्धान्तों का विधान नहीं करेगा। उसके धर्म में परप्राणघातक पशु-बलिदान अथवा मांसभोजन आदि जायज़ नहीं होंगे। दूसरे रहोभ्याख्यान की व्याख्या आचार्य इस प्रकार करते हैं:—

"स्त्री पुरुषाभ्यां रहोस एकान्ते यः क्रिया विशेषः अनुष्ठितः तास क्रिया विशेशः गुप्तवृत्या गृहीत्वा अन्येषां प्रकाश्यते।"

अर्थात्-"स्त्री पुरुष जो एकान्त में क्रिया कर रहे हों उस को छिप करके जान लेना और फिर दूसरों को प्रगट कर देना हास्य व क्रीड़ा के अभिप्राय से कहना-सो ऐसी क्रिया रहो-भ्याख्यान अतीचार है।"

तीसरे "झूठा लेख पत्रादि व बहीखाता लिखना व झूठी गवाही दे देना (व्यापारादि कार्य में कभी ऐसा करना सो अतीचार है) सो कूट लेख क्रिया है।"

चौथे "अपने पास कोई अमानत रुपया पैसा व चीज़ रख गया हो और पीछे भूल कर कम मांगी तो आप यह कह देना कि इतनी ही आप की थी सो ले जाइये-यह न्यासापहार अतीचार है। याने न्यास कहिये अमानत का हर लेना।"

पाँचवे "कहीं दो आदमी व अधिक गुप्त रीति से कोई मंत्र यानी सलाह कर रहे हों उसे इशारों से जानकर उसकी मरज़ी बिना दूसरों को प्रगट कर देना, साकार मंत्र भेद नाम का अतीचार है। इन पांचों दोषों को बचाना चाहिये।

इतर धर्मों के शास्त्रों में ढूँढने से हमको बहुत करके इन पाँचों दोषों को निवारण करने का उपदेश मिल जायगा। सामान्यता कुरानशरीफ की निम्न आयतें इन्हीं दोषों को लक्ष्य करके मानो लिखी हुई हैं:-

"और वह जो अपनी अमानतों और वायदों के पक्के हैं और जो सच्ची गवाही देते हैं।" यह कर्म मोमिनों के लिए आवश्यक हैं।

"ऐ मेरे मानवों! तुम ठीक तरह से तौल और नाप दो, दूसरोंके पदार्थ को हजम मत कर जावो और जालसाजी के

कारनामों से इस संसार को अन्याय का घर मत बनाओ।" ॐ

"सचमुच खुदा तुमको आज्ञा देता है कि अपनी अमानतों को उन के मालिकों को लौटादो और जब तुम इस में विचार करो तो यथार्थता से करो।"

"जो झूठी गवाही नहीं देते हैं उन्हें पुरस्कार मिलेगा।" ‡

"जो सुशील स्त्रियों को बदनाम करते हैं और फिर चार साक्षी नहीं लाते हैं उनके अस्सी कोड़े मारो और कभी उनकी साक्षी मत लो। वे हेय मनुष्य हैं।"

सब गुप्त मन्त्रणायें और वाह्य अत्याचार जिन से कष्ट हो नहीं करना चाहिये। †पारसी धर्म के निम्न शास्त्र उद्धरण भी जैन शास्त्र में बताए उक्त दोषों में अधिकांश को त्यागने का उपदेश देते हैं :–

"अपने पड़ोसी से अपनी अमानत में बैल या कपडा ले कर इनकार मत करो।"

"झूठी गवाही देने से व्यक्ति को महा कष्ट भुगतना पड़ता है।"

"अन्यों की सम्पत्ति में से मत लो कि तुम्हारा परिश्रम प्रमादमय हो जाय।"

दो पुरुषों के बीच प्रदत्त वचन का पालन न करना घोर पाप है।

हिन्दू शास्त्रों के उद्धरण भी इस विषय में इस प्रकार हैं :–

किसी भले मानस की रक्षा के लिए झूठ बोलना पाप नहीं

ॐ XI. Ibid p. 60

‡ XXV. Ibid 66

† II Ibid p. 113

है। + मनुस्मृति अध्याय ८ श्लोक १२१ में विविध प्रकार की असत्य साक्षी देने वालों को सजायें लिखी हुई हैं। धोखादेने का उदाहरण द्रोण और अश्वत्थामन् के मृत्यु सम्बन्ध में प्रगट है। हाथी अश्वत्थामन् के मारने पर धीरे से हाथी शब्द कहने पर भी द्रोण को जो धोखा दिया उस के लिये उसे नर्क में पड़ना पड़ा। इसीलिये धोखा देना भी बुरा है। अमानत को लौटादेना भी वाजवी है। मनुस्मृति में भी कहा गया है :-

कोई अमानत देजाय, फिर उसे चाहे चोर ले जाय या पानी या अग्नि से वह नष्ट होजाय परन्तु उसको वापस देना लाज़मी है। अमानत वगैर रक्खे मांगना भी पाप है। बाइबिल में भी कुत्सित-मायावी विचारों और कार्यों का करना बुरा बतलाया है (Bible Proverbs 6)। सारांश यहकि सत्यव्रत के निर्दोष पालनके लिए अणुव्रती को उक्त अतीचारों से बचते रहना चाहिए। और व्यवहार में सत्यता का प्रकाश प्रकट करना चाहिए। व्यवहार में सत्यप्रकाश आने से ही आभ्यन्तर आत्मप्रकाश प्रकट होगा, जिसके प्रत्यक्षदर्शन राज-मार्ग पर पहुंच कर होंगे।

लोक में सत्यवचन से ही मनुष्य की शोभा है। मनुष्य की वचनशक्ति सत्यभाषण से ही शोभित है, वरन् पशुओं की वाणी में और उसमें अन्तर ही क्या है? सत्यता से व्यापारादि दैनिक कार्य करने से वृथा के बहुत से झगड़े मनुष्य के हट सक्ते हैं। परन्तु अतीव दुःख है कि आज संसार में वृथा ही असत्य की शरण ली जा रही है। धर्म प्रधान इस भारत में भी वकील, वणिकों आदि द्वारा फिजूल ही असत्य और

+ Gautama XIII

मायाचार का संदेश चहुं ओर फैलाया जा रहा है। भोले ग्रामीण इन लोगों की वाकचालों से स्वाभाविक सत्य को—भलमनसाहत को—तिलाञ्जली देते जा रहे हैं। एक श्वेताम्बराचार्य रूच कहते हैं:—

"हा हा भारतमण्डले सपदि चेत्स्वरूपमेवयाऽवेक्ष्यते।
प्राप्योऽसत्यभयेन दृष्टि पदवीं नायाति सत्य क्वचित॥ २१५॥"

अर्थात्—"वर्तमान समय में हिन्दुस्तान पर दृष्टि कर दीर्घता से निरीक्षण करें तो आज उन्नति और नीति के मूल सत्य के दर्शन दुर्लभ हो गए हैं। जहां देखें वहां असत्य के सिवाय दर्शन ही नहीं। सच कहें तो वर्तमान में यहां असत्य ही की विजय हुई दृष्टिगत होती है। पहले यहां सत्य और नीति दोनों व्याप्त थे जिससे यह देश आबाद भी था, परन्तु अभी सत्य का लोप होने से नीति नष्ट होगई है जिसके फल से इसकी दुरवस्था है।......(आज यहां) धार्मिक दुर्दशा के कारणों से भी सत्य और नीति का अभाव ही है, कारण कि भारत में यह गुण स्थिर रहते तो जैन, बौद्ध, वेदान्ती, सिक्ख, समाजी और दूसरे आपस में लड़भिड़ कर ख्वार न होते और वर्तमान में धर्म चलनीमें से निकली हुई दशा भोगते हैं वैसी न भुगतते।" (कर्तव्य कौमुदी पृष्ठ १४५ तृतीयखण्ड)। इसी असत्य के कारण न यहां धन है, न संपत्ति है, न बल है, न विद्या है, न न्याय है, न कर्तव्यनिष्ठा है! है तो केवल असत्य! न्यायालयों की दशा कैसी बुरी हो रही है यह भी उक्त आचार्य के शब्दों में देखिए:—

"सत्यासत्यविनिर्णयाय रचिते न्यायालये साम्प्रतं।
किंसत्यस्य समादरो ? न हि न हि प्रायोस्ति तत्रानृतम्॥"

विक्री शन्ति मतं स्वकीयमनघं न्यायञ सत्याङ्कितं ।

न्यार्थं साधयितुं प्रधान पुरुष न्यायालने संस्थिताः॥"

भावार्थ—"जो कचहरियां सच और झूँठ का निर्णय कर सच बात को जगजाहिर करने और मनुष्यों को न्याय देने के लिये स्थापित हैं उन कचहरियों में भी क्या सच ही का सत्कार होता है? नहीं २, अधिक अंश में वहां भी असत्य का प्रवेश है। न्याय के आसन पर बैठनेवाले प्रधान पुरुष भी कदाचित् पैसे की लालच में लिपट स्वार्थसाधन के लिए सत्यासत्य का भेद जानते हुए भी सच को छिपा अपना सच्चा और न्यायाङ्कित मत पैसे के लिए देते हैं और असत्य की ओर झुक जाते हैं अर्थात् घूस के नाम से पहचानी जाती चोरी का आश्रय ले न्याय की कचहरियों में भी कितने ही स्थान पर असत्य घुस गया है और वहां सत्य का पराजय हुआ है।" इस पर अधिक विवेचन करना वृथा है। जनता को वर्तमान न्यायालयों का ख़ासा परिचय है। उपरान्त वकीलों द्वारा वहां जो असत्य का साम्राज्य जमता है, वह भीतिनिक देखिए:—

'ये बेरिस्टर इत्युपाधिविदिताः ख्याता वकीलंस्तिथा ।

गण्यन्ते निपुणाः प्रधानपुरुषा राजप्रजा सत्कृताः ॥

निघ्नन्ति प्रतिपक्षि सत्यमनृतं स्वीयञ्च रक्षन्तिते ।

प्रायो वञ्चयितुं परं रचितया युक्त्यायतन्ते भृशम् ॥"

भावार्थ—"जो वकील और बैरिस्टर ऐसे नामसे प्रसिद्ध हैं; लोगों में जो प्रधान अग्रसर और माननीय हैं और राजा और प्रजा दोनों से सत्कार पात्र हैं उनके धन्धे में क्या सत्य को अवकाश मिलता है? नहीं, जिस पक्ष के आप वकील हैं उस पक्ष की असत्य हक़ीकत को भी जान बूझ कर सच ठहराने

और दूसरे पक्ष की सत्य हकीकत को असत्य ठहराने में वे क्या कम प्रयत्न करते हैं ? और दूसरे पक्ष के मनुष्य को चाहे जैसी कुयुक्तियों के जाल में फँसा उसके सच्चे सत्य को छुपाकर बनावटी लेख और उसके साथ ही खोटे साक्षीदार तैयार कर शक्ति भर कोशिश से अपने पक्ष के असत्य को सत्य बनाने में अंत तक प्रयत्न करते हैं अर्थात् यहां भी असत्य का साम्राज्य चलता है। (Ibid 147) इस कथन में ज़रा भी अतिशयोक्ति नहीं है। मुक़द्दमेबाज़ी में जिसे हठात् क़दम रखना पड़ता है वह इसके मर्म को सहज में समझ सकते हैं। लेखक का जाती अनुभव बिल्कुल ही इसी ढङ्ग का है। सचमुच वकील–बैरिस्टरों के सुधार के साथ ही न्यायालयों में सत्य का साम्राज्य व्याप्त हो जावे और फिर जितने अनाचार इस समय हो रहे हैं वह न होवें!

आज यहां अवे का अवा ही असत्य के चुंगल में फंसा हुआ है। गृहत्यागी साधुजन और विद्वान् पंडित भी इसके वशीभूत हो रहे हैं। अपनी भूल को इंकार करना, दूसरे को न कुछ समझना, कीर्तिवान् की कीर्ति असह्य होना, उन पर दोषारोपण करना, यही इनका बड़प्पन है। अथवा यूं कहिए अपने घमन्ड में हटाग्रही होकर क्रोध, मान, माया, लोभ को यह अपनाते नहीं हिचकते हैं। इस प्रकार असत्य का राज्य इनमें भी मिलता है। रहे वणिक और शिल्पी कारीगर सो वह भी इस से अछूते नहीं बचे हैं। कारीगरी आजकल कपटाचार हो रहा है। ऊपर की शान कुछ और–और भीतर कुछ और–फिर भी विश्वास दिलाने वाली बातों का पुल बंधा होता है। परिणामतः बची खुची कारीगरी भी नष्ट हो रही है। अब ज़रा वणिकों की कथा भी सुन लीजिए। कहा गया है कि:—

"ये शाहे.पूपनाम धारि वणिजः पश्याम तेषां कृति ।
भाषन्ते मधुरां गिरं स्वहृदये धृत्वापि हालाहलम् ॥
दत्वा पूगफलादिकं रुचिकरं विश्वासयन्त्यगृतो ।
हीनं दीनजनाय वस्तु ददते गृह्णन्ति युक्त्याधिकम् ॥
न्यूनान्न्यूनतरं वदन्ति दशधाशप्त्वापि मूल्यत्रय-
न्नूनं स्यान्नहि वास्तवं तदपि हा किञ्चिद्विशेषो भवेत् ॥
एकं वस्तु च दर्शयन्ति ददते चान्यत्ततो मिश्रितं ।
भ्रान्ते सङ्कलनादि लेखनविधौ विज्ञापयन्त्यन्यथा ॥
अस्त्येषां किलकापि हस्तलघुता प्राप्ये तुलायां तथा ।
हीनं विक्रयणे क्रयेऽधिकतरं प्रस्थं भवेत्पादतः ॥
काव्यालापन पद्धतिर्वशकरी सम्मोहनी रञ्जनी ।
पश्यन्तोपि यतः प्रतारितजना जानन्ति नो वञ्चनाद् ॥"

भावार्थ-"जो अपने नाम के पीछे साहूकार की निशानी का 'शाह' (साहू) ऐसा नाम धारण करते हैं और बड़ा व्यापार करते हैं उनका चाल चलन अपन तपासें, वे क्या करते हैं ? जो कुछ दूसरे मनुष्य से लाभ पाने की आशा हो तो उसके साथ अधिक मीठे मीठे बोलते हैं । हृदय में चाहे हलाहल विषभरा हो तोभी वे वचनों में हृदय का अंश मात्र भी प्रकट नहीं होने देते । मधुर और शीतल बोलते हैं । कितने ही तो इस वाणी के मिठास से ही खुश हो जाते हैं और विश्वास से बँध जाते हैं । कदाचित इस से न बंधे तो रुचिकर पदार्थों से उनका सत्कार कर ऊँचे नीचे सम्बन्ध निकाल चाहे जिस तरह विश्वास में डालते हैं । दूसरा मनुष्य इन पर विश्वास रखता है इसलिये ये वह चाहे बिल्कुल गरीब हो-तोभी उसे कम

वस्तु देने और उस से अधिक वस्तु लेने की प्रवृत्ति प्रारम्भ करते हैं। ऐसी वंचकवृत्ति में सत्य किस स्थान पर रह सकता है ? जब उस व्यापारी के पास ग्राहक माल लेने आते हैं और वस्तु का भाव पूँछते हैं तब एक ही वस्तु के कम से कम दस बारह वक्त भाव कहे जाते हैं। थोड़ा २ मूल्य घटाकर बीच में लड़के, बाप, धर्म या परमेश्वर की सोगन्ध खाकर दसवीं वक्त जो भाव कहा है वह भी सत्य नहीं रहता ! दसवीं या बारहवीं के वक्त के भाव में भी थोड़ा बहुत अधिक अवश्य रहता है। इतने सौगन्ध डालकर कहता है जिस से यह सच्चा भाव होगा ऐसा ग्राहक समझ माल लेना मंजूर करता है तो नमूनानुसार माल भाग्य से ही मिलता है। या तो बिल्कुल दूसरा ही दिया जाता है या उस में दृष्टि चुका ख़राब वस्तु को मिश्रित करदेने में आता है। और अन्त में हिसाब करने में भी अधिक गिनाता है। तथा उस में से थोड़ी छूट देकर ग्राहक को राज़ी कर लेता है। इस कला में भी सत्य कहाँ रह सकता है ? अहो ! इन लोगों की हाथ चालाकी ! उसी तरह तौल और नाप भी भिन्न २ प्रकार के होते हैं। कोई भी लोग कोई चीज़ उनके पास बेचने लाते हैं तो वह चीज़ जो एक सेर हो तो उसे तोलने की, ये लोग ऐसी खूबी रखते हैं कि तौल और नाप के फेरफार बिना केवल हाथ चालाकी से सेर का पौनसेर तो सहज में बना देते हैं। वही चीज़ जो पीछे ग्राहक को देना हो तो उसी खूबी से सेर को सवासेर बना देते हैं। फिर उनके आलाप सालाप की पद्धति भी ऐसी मोह उपजानेवाली होती है जिसे देखते २ ठगा गए या लुटा गए लोग ऐसा नहीं समझते कि हम ठगागए हैं या हमारा माल अधिक लुटा गया है, किन्तु वे मीठी २ और शीतल वाणी से

खुश हो वारम्वार विश्वास रख अज्ञानता से ठगे जाते हैं और व्यापारी लोग उन्हें ठग अन्त में खुश करदेते हैं।" Ibid 150) सारांश यह कि आजकल वणिक वृत्ति में से भी सत्य उड़गया है। वणिक वणिक न होकर ठग रह गए हैं। इनकी दुकानें असत्य के अड्डे बनगए हैं। विचारे शामल भट्ट ने वनिए और व्यापारी की व्याख्या करते कहा है कि:-

वणिक तेहनों नाम जेह झूठ नव बोले।
वणिक तेहनो नाम तोल ओछु नवतोले॥

× × ×

वचन पालेते राय, बाकी तो रांडी गांडो।
वचन पालेते शाह, बा.नी गुण हाणो गांडो॥'

परन्तु आज तो 'शाह' नामधारी भूंठ बोलते हैं-कम तोलते हैं और वचन भी तोड़ते हैं! इतना सब कुछ करते हुए भी उनका असत्य उन्हें ले डूबता है। वह कभी भी सन्तोष से जीवन व्यतीत कर नहीं पाते। अपने बाप दादों की भांति सम्पत्ति और सुखसमृद्धिशाली हो नहीं पाते! पाप का परिणाम सब को ले डुबो रहा है। भारत दिनों दिन दुःखी और दरिद्र बन रहा है। असत्य और मायाचारी उसका कुछ मर ही निकाल कर छोड़ेगी! परन्तु असत्यवादी भारतवासी क्या सुखी बन सकेंगे? नहीं, हरगिज़ नहीं! गृहस्थ के सनातनमार्ग अहिंसा, सत्यादि का पालन किए बिना वे कैसे सुखी हो सकते हैं? सांसारिक गार्हिक सुख के दर्शन यदि वे करना चाहते हैं तो उनके लिए आवश्यक है कि वे अपने पूज्य पुरुषों और आचार्यों के वचनों को शिरोधार्य करें। अहिंसा और सत्य का अभ्यास अपने दैनिक चारित्र में करें। और इस

अमली प्रयोग से उसे दिगन्तव्यापी बना देवें। विदेशों को भी उनके पूर्वजों के सुभाषित वाक्यों का महत्व दर्शा देवें। संसार में कोई भी ऐसा धर्म नहीं है जिसने 'साधारणतया अहिंसा और सत्य का पालन करना मनुष्य जाति के लिए हितकर न बतलाया हो। सांसारिक मान्यता और प्रभुता इन्हीं दो सिद्धान्तों के अपनाने—अहिंसा और सत्य के रङ्ग में रङ्ग जाने पर प्राप्त होती है। फिर वह दिन दूर न होगा कि सब ओर से सुख और शांति की शीतल धाराएँ बह निकलें; क्योंकिः—

"गुणनिवास विश्वास वास, दारिददुख खंडन।
देव अराधन योग, मुक्तिमारग, मुखमन्डन॥
सुयशकेलि--आराम, धाम सज्जन मनरंजन।
नाग बाघ वशकरन, नीर-पावक--भय भंजन॥
महिमा निधान सम्पतिसदन, मङ्गल मीत पुनीत मग।
सुखरासि बनारसिदासभन, सत्य बचन जयवन्त जग॥"

—•—

(१२)

अचौर्य-दिग्दर्शन

'गिर पड़ा भूला रक्खा त्यों, बिना दिया पर का धन सार।
लेना नहीं, न देना पर को, है अचौर्य, इसके अतिचार॥
माल चौर्य का लेना, चोरी ढंग बतलाना, छल करना।
माल मेल में, नाप तोल में, भंग राजविधि का करना॥
इस व्रत को पालन करने से वारिषेण जग में भाया।
नहीं पालने से दुख बादल, खूब तापसी पर छाया॥

जो मनुष्य इस व्रत को पाले, नहीं जगत में क्यों भावे ।
क्यों नहीं उसकी शोभा छावे, क्यों न जगत सब जस गावे ॥

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार हिन्दी

जो वस्तु अपनी नहीं है, जिस पर अपना अधिकार नीति से नहीं पहुंच सकता है फिर वह चाहे जङ्गम हो या स्थावर, जीवित हो या अजीवित, रास्ते में पड़ी हो या किसी के स्थान पर रक्खी हो, उसकी प्राप्ति के लिए मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को रोकना ही अचौर्यव्रत है। रास्ते में बिना मालिक की वस्तु को अथवा किसी के घर से आंख बचाकर पराई चीज़ को लेने में ही चौर्य-कर्म नहीं ठहरता; बल्कि उसके लेने को मन में वाञ्छा करना और फिर तद्रूप उसकी मन्त्रणा-सलाह करना भी चोरी ही में दाखिल है। यह मानी हुई बात है कि कोई भी कार्य मन के चलित हुए बिना, उसमें तद्रूप इच्छाशक्ति के उत्पन्न हुए बिना हो नहीं सकता। और इच्छा की प्राप्ति को वचन द्वारा भावना भाना उस कर्म के प्रति एक कदम और बढ़ाना है एवं अपनी भावना शक्ति से चहुंओर तद्रूप वातावरण उत्पन्न करना है। इस दृष्टि से सचमुच चोरी करने से चोरी के लिए मन वचन से भावना भाना एक तरह से गुरुतर पाप है। ऐसे लोग मात्र अपने कुत्सित भावों द्वारा ही चोरी के पातक के भागी और उसके दुःखपूर्ण परिणाम के भोक्ता हो जाते हैं। इसलिए मन, वचन, काय के योग को चौर्य कर्म के करने से रोकने का नाम ही अचौर्य व्रत है। इस के विपरीत जैन आचार्यों ने चौर्य कर्म की व्याख्या इस प्रकार की है कि:—

"अदत्तादानं स्तेयम् ॥ १५ ॥ ७ ॥" (तत्वार्थ सूत्र)

अर्थात्-प्रमत्त योग के वशीभूत हो कर बिना दी हुई किसी भी वस्तु को ग्रहण करना चोरी है। प्रमत्त योग से यही भाव है कि मन, वचन, काय की प्रवृत्ति बिना ही अकस्मात् चौर्य-रूप कोई क्रिया किसी समय होजाय तो वह चोरी नहीं कहलायी जासकती। चोरी वही होगी जिस क्रिया में मन, वचन, काय की चञ्चलता द्वारा व्यक्ति की आत्मा में कलुषिता उत्पन्न हो और उस की आत्मा अपने स्वभाव से बहुत कुछ विचलित हो जावे। इस तरह से चौर्य कर्म स्वयं चोर की आत्मा के किञ्चित घात का कारण है और उसकी आत्मा को भी दारुण दुःख का कारण है जिसकी वस्तु वह अपहरण करता है। संसार में मनुष्य के बाह्य प्राण धन-सम्पत्ति आदि हैं उनको अपहरण करना मानो-उसके प्राणों को अपहरण करना है। इसलिये जब यह चौर्यकर्म चोर और 'साहु' दोनों की आत्माओं की कुगति का कारण है तो इसका अभ्यास प्राणों का संकट आने पर भी नहीं करना श्रेष्ठ है। यही बात आचार्य कहते हैं, यथा:—

> 'येऽप्यहिंसादयो धर्मास्तेऽपि नश्यन्ति चौर्यतः।
> मत्वेति न त्रिधा ग्राह्यं परद्रव्यं विचक्षणैः॥ ७७६॥
> अर्थाः बहिश्चराः प्राणाः प्राणिनां येन सर्वथाः।
> परद्रव्यं ततः सन्तः पश्यन्ति सदृशं मृदा॥ ७७८॥

(अमितगति आचार्य)

अर्थात्-चोरी करने से अहिंसा आदिक धर्म भी नष्ट हो जाते हैं, ऐसा जान कर मन, वचन, काय से चतुर पुरुषों को दूसरों के द्रव्य को नहीं चुराना चाहिये। प्राणियों के बाह्य प्राण धन हैं, इसीलिए दूसरे का द्रव्य सर्वथा मिट्टी के समान है, ऐसा सन्त पुरुष देखते हैं। औरभी कहा है:—

"चोर व्यपदेशकर स्थूलस्तेय तो मृतस्वधनात्।
परमुदकादेश्चाखिल भोग्यान्न हरेद्दीत्त न परस्वं ॥ ४६ ॥"

(सागार धर्मामृत)

अर्थात्–"जिसने स्थूल चोरी का त्याग किया है अर्थात् यह चोर है, यह धर्मपातकी है, यह हिंसक है इत्यादि नाम धराने वाली चोरी को स्थूल चोरी कहते हैं अथवा किसी की दीवाल फोड़ कर वा और किसी तरह बिना दिया हुआ दूसरे का धन लेना भी स्थूल चोरी है। ऐसी स्थूल चोरी का जिस ने त्याग कर दिया है ऐसे अचौर्याणुव्रती श्रावक को जिस के पुत्र पौत्रादि कोई सन्तान नहीं है, जो बिना सन्तान छोड़े ही मर गया है, ऐसे मरे हुए भाई भतीजे आदि कुटुम्बी पुरुष के धन को छोड़कर तथा जल घास मिट्टी आदि पदार्थ जो कि सार्व-जनिक हैं; जिनको वहां के लोग अथवा दूसरी जगह से आये हुए लोग भी अपनी इच्छानुसार काम में लाते हैं, जिन्हें काम में लाने के लिए राजा व उसके स्वामी ने सामान्य आज्ञा दे रक्खी है, ऐसे पदार्थ को छोड़ कर बाकी सब दूसरे का बिना दिया हुआ चेतन-अचेतनरूप द्रव्य न तो स्वयं ग्रहण करना चाहिये और न उठाकर किसी दूसरे को देना चाहिये।"

(पृ० २७६)

वास्तव में जिस चीज के लेने पर कोई हमको पकड़ न सकता हो और जिसमें हमारी आत्मा को आकुलता न होती हो, जैसे हाथ धोने के लिये मट्टी, नहाने को पानी, पत्ती, फल, फूल आदि, तो उसको ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु पड़ी या भूली हुई या ज़मीन में गड़ी हुई चीज़ को अवश्य नहीं लेना चाहिये। क्योंकि जिसकी वह वस्तु है वह व्यक्ति उसको जान बूझ कर वहां गिरा अथवा भूल नहीं गया है, वह

उसकी असावधानी या धोखे से वहां गिर व रह गई है। इसलिए उस वस्तु की याद आते ही वह व्यक्ति उसकी तालाश में आवेगा और फिर उसको नहीं पावेगा तो दुःखी होगा तथापि ग्रहण करने वाले की आत्मा में भी माया और लोभ कषाय का प्रादुर्भाव हो जायगा जिससे दोनों का अनर्थ होगा। देखने में आया है कि लोभ के वशीभूत होकर भूली हुई वस्तु लोगों ने लुका दी है और पूछने पर भी नहीं बताया परन्तु जब उस वस्तु को उन्होंने प्रकट व्यवहार में इस्तेमाल किया है, तब पहचाने जाने पर उनको बड़ी लज्जा, परेशानी और दुःख का सामना करना पड़ा है। इस तरह जरा से लोभ कषाय के लिए हिंसा, झूठ, चोरी तीनों पापों का भार सिर ढोना पड़ता है। इसलिये बचपन से ही बच्चों को चोरी की आदत नहीं पड़ने देनी चाहिये। चाहे कितनी ज़रासी चोरी क्यों न हो उसकी भी उपेक्षा नहीं करना चाहिये। पाठशालाओं की प्रारम्भिक पुस्तकों में उस चोर की कहानी प्रसिद्ध है; जो बचपन में अपनी माँ की ख़ामोशी के कारण बड़े होनेपर एक पक्का चोर बन गया। यदि उसकी मां बचपन से ही उस को छोटी २ चोरी न करने देती तो वह कभी पक्का चोर न हो पाता। अतएव अचौर्य व्रत का महत्व प्रत्येक को बचपन से ही हृदयङ्गम कर लेना हितकर है।

जैनाचार्यों ने इसके पालन में पांच बातें सहायक बताई हैं: अर्थात्-(१) शून्यागार (२) विमोचितावास (३) परोपरोधाकरण (४) भैक्ष्य शुद्धि और (५) सद्धर्म विसंवाद। यदि कोई अणुव्रती परदेश में जावे तो उसको किसी भी शून्य घर में (शून्यागार) में नहीं ठहरना चाहिये। शून्यघर में ठहरने से चौर्य कर्म के लांछन लगने का भय है और संभव है कि वहां

कोई मूल्यवान् पदार्थ पड़े हों तो उनको देखकर परिणामों में विकलता उत्पन्न हो जाय। तिस पर यदि ऐसे शून्य-निर्जन स्थान में कोई राज्यकीय प्रबन्धक पुलिस आदि देखले तो वह फौरन ऐसे मनुष्य को अपनी निगरानी में ले ले। इसी लिए जैनाचार्य ने शून्यागार और विमोचितावास-उजड़े हुए स्थान में नहीं ठहरने को चौर्य कर्म के निर्दोष पालन के लिए आवश्यक बतलाया है। इसी तरह उस स्थान में भी नहीं ठहरना चाहिये जहां कोई मना करे। प्रत्युत ऐसे सर्व साधारण स्थान धर्मशाला आदि में ठहरना चाहिए जहां कोई प्रतिरोध न हो। साथ ही भोजन शुद्धि और परस्पर साधर्मी भाइयों से झगड़ा न करने का ध्यान रक्खे, क्योंकि यदि खान-पान की व्यवस्था अनियमित और अशुद्धता पूर्वक रक्खी जावेगी तो स्वास्थ्य के खराब होने का पूरा भय रहेगा। और फिर कहीं साधर्मी भाइयों से झगड़ा कर लिया तो इस आपत्तिकाल में उसका सहायक कौन होगा? ऐसी अवस्था में इस व्रत को निर्दोष पालन के लिए यह पांचों बातें परम सहायक हैं। जैनाचार्य ने पहिले ही वैज्ञानिक ढङ्ग पर इनका विवेचन कर दिया है। प्रत्येक व्रत का पालन व्रती सुगमता पूर्वक कर सके, उस के लौकिक कार्यों में कोई बाधा न आवे, इस बात का पूरा ध्यान व्रत-निरूपण में जैनाचार्य ने रक्खा है। यह विशेषता अन्य धर्म शास्त्रों में शायद ही कहीं दिखाई पड़ती है। अस्तु अणुव्रती को इस व्रत पालन में उक्त पांचों बातों का भी ध्यान रखना आवश्यक है।

इसके साथ ही आचार्यों ने अचौर्यव्रत के निर्दोष पालन के लिए पांच अतीचारों को बचाते रहने का उपदेश दिया है। वे पांच अतीचार इस प्रकार हैं:-

१ स्तेन प्रयोग—अर्थात् "चोरी के लिए प्रेरणा करनी। जिसको मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से स्थूल चोरी का त्याग है, उसके लिए तो चोर से चोरी कराना व्रत का भँग कराना ही होगा, परन्तु यहां अतीचार इस लिए कहा है कि जैसे किसी के पास खाने को नहीं है व ग़रीब है और उससे कहना कि जो वस्तु तुम लाओगे हम ले लेंगे व वेचदेंगे-इसमें एक देश भंग होने से अतीचार है।

(सागारधर्मामृत)

२ तदाहृतादान-चोरी का लाया हुआ पदार्थ लेना। चोरी का पदार्थ गुप्त रीति से ले लेना वह तो चोरी ही है, परन्तु व्यापारार्थ कुछ अल्पमूल्य में लेना सो तदाहृतादान अतीचार है।

३ विरुद्धराज्यातिक्रम-विरुद्ध विनष्टं विग्रहीतं वा राज्यं छत्रभंगः तत्र अतिक्रमः उचित न्यायात् अन्येन प्रकारेण अर्थस्य दानं ग्रहणम्। (सा॰) अर्थात्—कहीं राज्यभ्रष्ट हो गया है व छत्र भंग होगया है वहां जाकर के अमर्यादा से व्यापार करना याने उचित न्याय को छोड़ कर द्रव्यादि का देना लेना सो विरुद्ध राज्यातिक्रम अतीचार है। कोई २ ऐसा अर्थ भी करते हैं कि राजा की आज्ञा के विरुद्ध महसूल कमती देना।

४ हीनाधिकमानोन्मान–प्रमाद से व्यापार में कमती बांटो से तौल कर देना व बढ़ती बाटों से लेना सो अतीचार है।

५ प्रतिरूपक व्यवहार–खरी में खोटी चीज़ मिला कर व्यापार बुद्धि से खरी कहकर बेचना सो चोरी का अतीचार है। जैसे दूध में पानी, घी में तेल, सोने में तांबा आदि मिला कर दूध, घी, सोना कह कर बेचना सो अतीचार है। इसी कार्य में यदि लोभ की अति आवश्यकता होगी तो साक्षात्

चोरी हो हो जायगी अथवा खोटे रुपये बनाकर उन से लेन देन करना, जैसा स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका में कहा है:-

"ताम्रेण घटिता रूप्येण च सुवर्णेन च घटितास्ताम्ररूप्याभाव घटिता द्रम्माः ता हिरण्यम् उच्यते तत्सदृशाः केनचित् लोक वंचनार्थं घटिता द्रम्माः प्रतिरूपकाः उच्यन्ते तैः प्रतिरूपकैः असत्यनाणकैः व्यवहारः क्रयविक्रयः, प्रतिरूपक व्यवहारः ॥"

"तांबे चांदी के बने हुए दिरम को हिरण्य कहते हैं। किसी ने लोगों को ठगने के लिए उसी के समान दूसरे रुपये बना लिए यानी झूठे रुपए बना कर लेनदेन करना सो प्रतिरूपक व्यवहार है। अतः तीसरे अचौर्य अणुव्रतधारी को उचित है कि ऊपर लिखे हुए पांचों अतीचारों यानी दोषों से बचे। क्योंकि निर्दोष व्रत पालने से वह इस लोक में विश्वास व व्यापार को बढ़ायेगा, यश को पायेगा और ऐसा पाप नहीं बँधेगा जिससे अशुभगति का बंध हो और परलोक में दुःख उठावे।" (गृहस्थधर्म पृष्ठ १०६-१०७)

किन्तु आज दोषरूप में यह चोरीकर्म चाहुंओर जारी ही है। भारत में व्यापारियों और वैश्यों की क्या दशा हो रही है, यह हम पूर्व परिच्छेद में देख आए हैं।

सचमुच व्यापारियों की दुकानें कपटाचार और गुप्तरीति से चौर्यकर्म प्रचार की संस्थायें बन रही हैं। चोर-डाकू तो कानून द्वारा अपने किये की सज़ा पा लेते हैं, परन्तु यह सभ्य पुरुष बिना दण्ड पाये ही अपनी दाल गलाए जा रहे हैं। यही नहीं सभ्यता और निष्पक्षता की डींग मारने वाले बड़े २ राष्ट्र भी इस कर्म का खुल्लम खुल्ला अभ्यास कर रहे हैं। बलवान् राष्ट्र के लोग किसी दूसरे देश में जाकर उसकी वस्तुओं को

चाल कपट से ले लेने में आज भी तत्पर हैं। ऐसे लोगों को प्रजा दण्ड नहीं दे सकती। किन्तु प्रकृति इन्हें अछूता नहीं आने देती है। आपसी कलह में यह भी दुःखी रहते हैं। सारांशतः इस तरह प्रारम्भिक जीवन-कर्तव्यों-सत्यभाषण और सच्चे आचरण को तिलाञ्जलि देने से मानवों पर दुःख के पहाड़ पड़ रहे हैं; किन्तु तोभी चेत नहीं है। स्वयं जैनी जो चारित्र मार्ग में अपने को वढ़ा चढ़ा मानते हैं और सचमुच विधर्मियों से वे हैं भी वढ़े चढ़े परन्तु इन व्रतों को पालन करने से कोसों दूर हैं। वे स्वयं दिखावे और लोक मर्यादा में अपनी आत्मा को ठग रहे हैं और अन्यों को कुमार्ग दर्शा रहे हैं। कुत्सित विचार और दुराचार कभी भी सौख्य के कारण नहीं हो सकते। हिंसा, असत्य, चोरी आदि दुष्कर्म कभी भी आत्मा के कल्याणकर्ता नहीं बन सकते। उन्नत सुख समृद्धशाली जीवन व्यतीत करने के लिए अहिंसामई सरल सत्य आचरण करने की आवश्यकता है। यही सत्य धर्म का मन्तव्य है। जिस प्रकार चौर्यकर्म जैनधर्म में वुरा वताया गया है, और उसका विशद विवेचन जैन शास्त्रों में किया गया है। वैसे यद्यपि नहीं परन्तु मोटे रूप में अन्यमत प्रवर्तकों ने भी उसकी गणना दुष्कर्म में की है। हिन्दुओं का ऋग्वेद निम्न प्रकार चौर्यकर्म को वुरा वतलाता है:—

भाव यही है कि 'वह व्यक्ति जो किसी के भोजन, भाजन, पशुधन, घोड़ों अथवा निजी शरीरों को तकलीफ़ देने की वाञ्छा करता है वही दुराचारी, चोर अथवा डाकू अपने पाप से अपना और अपनी सन्तान का नाश लाता है। दूसरे शब्दों में पराई चीज को लोभ कषायवश लेना वुरा है।'* इसी वेद में

* Rg. VII 104. 10

और भी कहा है कि 'जो सड़क के किनारे छुपता है वहां हमारे निकट छली डांकू है। उसे सड़क से दूर खेद कर कर दो।' महाभारत के शान्ति पर्व में डाकू के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'उसका सम्बन्ध न मनुष्यों से है, न देवताओं से है, न गन्धर्वों से है और न पित्रों से है। वह इनके लिये क्या है? वह किसी के लिये भी कुछ नहीं है। यह श्रुतियों का कथन है।' (२७३। २१) वस्तुतः पराये धन का अपहरण करने वाला लोक की दृष्टि में कुछ भी नहीं रहता है। इस प्रकार का संचित धन फलता-फूलता भी नहीं है तीन प्रकार के धनों में चोरी का धन निःकृष्ट प्रकार का है।† इसीलिए मनुस्मृति में नौकर पेशाओं को सचाई से अपना कर्तव्य पालने की हिदायत है और व्यापारियों के प्रति कहा गया है कि "एक प्रकार की वस्तु में अन्य प्रकार की मिली हुई वस्तु, तथ्य हीन वस्तु, वजन या नाप में कम वस्तु और वह वस्तु जो ढकी हुई है या दूर पड़ी हुई है, नहीं बेचना चाहिये।" (८। २०३)। तथापि याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा गया है कि "वह जो नापों की नकल अथवा उन्हें कमती बढ़ती करता है या पृथ्वी के सम्बन्ध में जाली दानपत्र बनाता है या प्रचलित तौल नाप और सिक्के घड़ता है और उन्हें व्यवहार में लाता है उसे उत्कृष्ट प्रकार के आर्थिक दण्ड से दण्डित करना चाहिये।" इसी ग्रन्थ के २५२-२५३ (अ० २ के) श्लोकों में राज्य द्वारा निर्धारित मूल्य से अधिक में बेचने को दण्डनीय लिखा है। सारांश यह कि हिन्दू शास्त्र भी चोरी और उसके अतीचारों को बुरा तज्जन्य बतलाते हैं। हमारे हिन्दू भाइयों को ध्यान देना आवश्यक है।

मुसलमानों के यहां भी चौर्यकर्म घृणित दृष्टि से देखा

---

† Vishnu puran LVII. 9-11

गया है। कुरानशरीफ में चोर के हाथ काट डालने की आज्ञा है (अ० ५); इसी से अन्दाज़ा जा सकता है कि इस्लाम में चौर्यकर्म कितना भीषण पाप समझा गया है। कुरान शरीफ के ७ वें अध्याय में राहज़नी करने की मनाई है। व्यापारियों के प्रति कहा गया है कि 'नाप भरकर दो, उनमें से मत होओ जो कम देते हैं; तौलो नो ठीक तोल से; और लोगों को उनकी चीजों में ठगो मत और लाइसेन्स के कारनामों द्वारा पृथ्वी पर कोई अनर्थ मत करो।" "शाप हो उन पर जो नाप को कम करते हैं, उनपर जो दूसरों से लेते वक्त पूरा लेते हैं और देते वक्त कम देते हैं।' क्यामत के दिन व्यापारी झूँठों की तरह उठाए जायेंगे, उन्हीं को छोड़कर जो अन्याय से परे रहेंगे, झूँठी सौगन्ध नहीं खायेंगे, वल्कि पदार्थों के दाम ठीक वतायेंगे।" ‡ इस तरह इस्लामधर्म में भी अचौर्यव्रत को श्रेष्ठ वतलाया है; वल्कि चौर्यकर्म करनेवाले को हज़रत मुहम्मद मुसलमान ही नहीं स्वीकार करते हैं। पारसियों के धर्म में भी अचौर्य को प्रशंसनीय कर्मों में गिनाया गया है। उनके दिनकर्द नामक ग्रन्थ में चोरी की व्याख्या की है कि "कि चोरी यह है: जो कोई उस सम्पत्ति के विषय में जो उसकी नहीं है यह कहता है 'हाय यह मेरी होती'।" * दूसरे शब्दों में लोभ कषाय के वश दूसरे की वस्तु को चाहना अथवा लेना ही चोरी है। इस चोरी को उसी ग्रन्थ में वड़ा अपराध वतलाया गया है। † इसीलिए उनके 'सद्दर' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि "यह आवश्यक है कि चोरी से और पर पुरुषों से जबर्दस्ती कोई वस्तु छीनने से पूर्ण परहेज़ किया जाय।" तथापि

‡ The Ethics of Koran p 61

* दिनकर्द १२.३ † दिनकर्द ६.६२६

'अन्दर्ज़-ई-अतर्पत-ई-मरसपन्द' नामक ग्रन्थों में भी चोरी करने की मनाई है। और भी कहा है कि "चोर से कोई चीज़ मतलो और न उसको कोई चीज़ दो, बल्कि उसे ठीक रास्ते पर लाओ।" छल कपट द्वारा धन सम्पत्ति कमाना भी बुरा बतलाया गया है। 'मैनुक-ई-ख़ृत' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि "जिसने अपराध करके धन कामया है और उस से खुश होता है, तो वह खुशी उसके लिए दुःखसे भी अधमतर है।" सोने में तांबा मिलाकर या अन्यथा सिक्के ढालकर चलाना उतना ही गुरुतर पाप बताया गया है जितना कि बुरे धर्म के प्रचार में होता है। (देखो DK. I 51 Ibid p. 98) तथापि 'अर्द-विराफ़' नामक ग्रंथ में कहा गया है कि "दूसरे जन्म में एक मनुष्य मिट्टी और राख एक बोरे और गैलन से नापने के लिए बाध्य किया गया और उनके खाने को भी, क्यों कि जब वह इस संसार में था तब उसने कोई ठीक नाप की बोरी, अथवा गैलन, अथवा बांट, अथवा गज़ नहीं रक्खा था, आसव में पानी और अनाज में मिट्टी मिलाकर लोगों को ऊँचे दाम में बेचा था; तथा भले मानसों से छल से कुछ छीना था।" (Av. 173, 195 Ibid p. 92) इस तरह पारसी धर्म में भी अचौर्यव्रत का पालन मुख्य ठहराया गया है।

ईसाइयों की बाइबिल में भी अचौर्यव्रत का पालन करना बतलाया गया है। बाइबिल की दस आज्ञाओं में 'तू चोरी नहीं करेगा' भी एक आज्ञा है। इसी मत को लक्ष्य कर एक ईसाई कवि लिखते हैं:—

'अपने पड़ोसी की बिना मरज़ी मैं उसकी वस्तु कैसे हरलूं? हाथ सच्ची मिहनत करने के लिए बने हैं, न कि लूटने और

चोरी करने के लिए। ऐसे छल छिद्रों द्वारा लाभ की आशा करना, यह कर्म आत्मा को मूर्खता भरा धोखा देना है। जो कुछ चोरी में मिलता है वह शोक, लज्जा और दुःख के रूप में शीघ्र ही बदल जाता है। सारांशतः ईसाई-धर्म भी चोरी को बुरा बतलाता है। म० बुद्ध ने भी पांच व्रतों में एक अचौर्यव्रत रक्खा था। बौद्धों के 'तेविज्ज-सुत्त (२.२) में चूल-शीलम' का विवरण लिखते हुए लिखा गया है कि "उस वस्तु की जो उसकी नहीं है उसकी चोरी का त्याग करते हुए वह उस वस्तु के लेने का परहेज करता है जो उसको नहीं दी जायगी। वह वही लेता है जो उसको दी जाती है—उसी में वह संतोषित है। और वह ईमानदारी से और हृदय की पवित्रता के साथ जीवन व्यतीत करता है।" (S.B.E. vol. xI p. 189) उनके 'सुत्तनिपात' में भी स्पष्ट लिखा है कि सावक को वह वस्तु नहीं लेना चाहिये. जो उसको दी गई है। यह जानकर यह वस्तु दूसरे की है तो दूसरे को भी नहीं लेने देना चाहिए और न दूसरे की परायी वस्तु लेते हुए सराहना करनी चाहिये। चोरी का हर हालत में त्याग करना चाहिए। (S.B.E. vol. x p.65) सिक्खों के यहां भी चोरी करने की मनाई है। उनकी एक कथा में कहा गया है कि "एक चोर राजा के महल में चोरी करने गया। नीचे की मन्ज़िल ढूँढ कर वह उपर की मंजिलों पर चढ़ गया। सोने चांदी का ढेर बांध करऔर लेने की अभिलाषा से वह बढ़ा। लोभ से अन्धा हुआ उसने नमक से भरा एक वर्तन उठा लिया। जब उसने नमक को चक्खा तो उसकी नियत वदल गई। और वह राजा का तिनका भी नहीं लेगया; क्योंकि उसने सोचा जो अपने नमक का सच्चा नहीं है, वह सबसे बड़ा पापी है।"

(See U. I. vol. III p. 163) इस से स्पष्ट है कि चौर्यकर्म को सिक्खों ने भी बुरा समझा है। वस्तुतः संसार में जिसके ज़रा भी बुद्धि होगी वह इस चौर्य-कर्म की सराहना कभी नहीं कर सकता। यही कारण है कि संसार के किसी भी प्रख्यात् धर्म में इस की प्रशंसा नहीं की गई है।। सब ही इसके त्याग का उपदेश देते हैं। परन्तु दुःख है कि तीर्थङ्करों और आचार्यों के सत्य और हितकर उपदेश का प्रभाव मिथ्यात्व में ग्रसित लोक पर नहीं पड़ रहा है। इस में किसी का वश ही क्या है! जिनके विवेक नेत्र खुले हैं, वे सत्यमार्ग को देखते ही हैं। इस लिए अपना कर्तव्य किए चलना श्रेष्ठ है।

यहां पर यह विचारणीय है कि जब छल-छिद्र द्वारा लोभ कषाय के वशीभूत होकर धन का कमाना चौर्यकर्म के ही समान किञ्चित कहा गया है, तो सट्टा करना, बदनी बदना और जुआ खेलना भी पाप गिने जायेंगे। इनका अभ्यासी कभी भी अचौर्य व्रत का पालन नहीं कर सकेगा। तीव्र लोभ के वशीभूत होकर एक जुआरी अथवा सट्टेबाज़ अपने प्रतिपक्षी से धन वसूल करके एक दम धनी बनने की तीव्र आकाङ्क्षा से ग्रसित अशुभकर्म का संचय करता रहता है; जिसके कारण अन्ततः उसको दुःख ही उठाना पड़ता है। आज भारत में व्यापार के नाम पर घोरतम जुआ प्रगट रूप में सट्टे के नाम से होता है। यह एक अन्य तरह का सभ्य कपटजाल पर की सम्पत्ति हरने का है। इसमें बहुधा दलाल लोग ही बनते नज़र आए हैं; बिचारे सट्टेबाज़ तो अन्त में रोते ही मिलते हैं। इनके कारण हजारों घर आज भारत में बरबाद हो रहे हैं। लोक में यह आदत इतनी घृणा की दृष्टि से देखी जाने लगी है

कि गली-मुहल्लों में लोग सट्टेबाज़ की हँसी व नक़ल करने वाले गीत गाते सुनाई पड़ते हैं। परन्तु इन 'साहु' सट्टेबाज़ों को तनिक भी ग़ैरत नहीं। मानों लज्जा इनसे डरकर ही भाग गई है! जुआ की तरह जीतते रहने पर भी इन की नियत भरती नहीं और हारते रहने पर भी तबियत हठती नहीं। तीव्र लोभ-तृष्णा ही ठहरी! परन्तु यह एक श्रद्धानी व्यक्ति के लिए शोभनीय नहीं है। उसे इस प्रकट जुये का फौरन त्याग कर देना चाहिए। जिस प्रकार जुआ आत्मपतन और दुख का कारण है, उसी तरह इसको भी समझना चाहिए। चोरी से घृणा है तो इससे भी घृणा होना आवश्यक है।

जुआरी लोग कभी भी धर्ममय जीवन व्यतीत नहीं कर सकते। वह कभी अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्यादि व्रतों का पालन नहीं कर सकते। दुनियां में जितनी बुराई हैं वह इस जुआ के बदौलत सहज में आजाती हैं, जिसके कारण जुवारी को संसार में ख्वार और दुखी होना पड़ता है। ग्रन्थकार कहते हैं किः—

"निः शेष व्यसनाश्रयं सुचरित्त-द्वारार्गलो निश्चलो।
योग्यायोग्य विवेक दृष्टितिमिरं सद्धर्म विध्वंसकम्॥
चित्त व्याकुलता करं शमहरं दुष्टाशय प्रेरकं।
त्याज्यं दुर्गुण पात्र मूलमफलं द्यूतं हिता काङ्क्षिभिः॥"

भावार्थ- "जुआ का व्यसन सब व्यसनों में उच्च है। यह चारित्र्य – सद्वर्तन के द्वार बन्द करने में शृँखला (सांकल) का काम देता है। योग्यायोग्य वस्तुको भिन्न करनेवाली विवेक दृष्टि के बन्द करने में अन्धकार बन जाता है। सद्धर्म का नाश करता है। चित्त को हमेशा आकुल व्याकुल रखता है। सुख

और शान्ति का सर्वदा उच्छेद करता है। विचारों में मलिनता और बुद्धि में दुष्टता उत्पन्न करता है असत्य, चोरी आदि दुर्गुणों को निमंत्रण देकर बुलाता है। कारण कि कितने ही दुर्गुण तो इसके साथ ही रहते हैं। इससे बंधे हुए हैं। जिस व्यसन में फायदा तो एक भी नहीं, और गैर फायदों का पार ही नहीं ऐसे जुआ नामक व्यसन का अपना हित चाहनेवाले कभी सेवन न करें। किन्तु दुःख है कि जुए की अनेक रीतियां इस बुद्धि और तर्क के ज़माने में निकली हैं फिर चाहे उन पर व्यौपार का या खेल का ढोल चढ़ाया जावे तो भी प्रायः उपरोक्त जुआ एक तरह का व्यसन ही है और उसका निषेध करना ही उचित है। जुआरी हमेशा कपटी, व्यभिचारी और असत्य-वादी होते ही हैं। सुभाषितकार कहते हैं कि 'काके शौचं द्यूतकारे च सत्यं, सर्पे क्षान्तिः स्त्रीषु कामोपशान्तिः' अर्थात् कउवे में शुचिता, जुआरियों में सत्यवादित्व, सर्प में क्षमा और स्त्री में काम की शान्ति कदापि नहीं होती। कहावत भी है कि 'हारा जुआरी दूना रमे'। क्यों? फिर से जीत प्राप्त कर पैसे पैदा करने के लिये, हारा हुआ मनुष्य इस तरह फिर से खेलने – धन प्राप्त करने के लिये–अनेक प्रयास करता है। वह घर द्वार बेचता है, स्त्री को सताकर उसके वस्त्राभूषण बेचता है, कर्ज़ करता है *, और अंत में कुछ भी हाथ नहीं लगता तो चोरी भी करता है इस तरह एक जुए से अनेक दुर्गुण स्वयम् पैदा हो जाते हैं और जुआरी को सर्वथा भ्रष्ट कर डालते हैं।

---

* सट्टेबाज़ भी यह सब कुछ अनर्थ करते हैं और अन्त में दरिद्री हो पछेताता है।

दुर्गुणों की परम्परा किस तरह जागृत होती है उसका एक दृष्टान्त है।·विलायती एक धनवान् युवती स्त्री सचमुच में सुशील और पतिव्रता थी। एक समय उसने एक लोटरी में अपनी क़िस्मत आजमाने की इच्छा कर ५ पौंड की कीमत का लोटरी का टिकट लिया। इनाम बांटने के दिन वह घर पर बहुत आतुर होकर बैठी कि आज मुझे इनाम प्राप्त होने का तार आवेगा। इस आशा से उत्सुक हो रही थी। परन्तु उसे इनाम न मिला। पांच पौंड खोने के बाद उसे पश्चाताप हुआ। परन्तु खोये हुए ५ पौंड फिर से प्राप्त करने के लिए उसने १० पौंड को दो टिकटें लीं और इन में भी इनाम न मिला। एक-दम १५ पौंड खोये। इन १५ पौंड के प्राप्त करने के लिए उसने ५० पौंड की १० टिकटें खरीदीं और वह रकम उसने अपनी एक सखी के पास से उधार ली। दुर्भाग्य से यह दस टिकिटें भी व्यर्थ गए और कुछ नहीं मिला। इस स्त्री का पति धनवान् था और वह अपनी स्त्री को प्रत्येक माह कुछ न कुछ हाथ खर्ची के लिए भी देता था। उस रकम में से कुछ न कुछ बचा कर उसने ५० पौंड इकट्ठे किए। यह रक़म कर्ज़ा अदा करने के लिए इकट्ठी की थी, परन्तु उसे एक समय फिर अपना नसीब आज़माने की इच्छा हुई और उसने उन ५० पौंड की लोटरी की टिकिट ली। फिर भी उसे कुछ नहीं मिला और जिसके पास से रक़म उधार ली थी उसकी तरफ़ से बार २ तङ्गी होने लगी। पति को अपनी यह बात कहना उसे ठीक न जंचा। क्योंकि इस से शायद उनको क्रोध होजाय! और कोई साधन पैसा प्राप्त करने का नहीं था। इसलिए उसने एक बुरा कार्य करने की हिम्मत की; घर से एक हीरे की अंगूठी उसने चुराली और उसे बेच अपनी सखी का कर्ज़ा चुकाया। घर

में से अंगूठी के खोजाने की ख़बर जब उसके पति को हुई तब उसे अपने नौकर चाकरों पर सन्देह हुआ। उसने नौकरों को समझाया और धमकाया, परन्तु वे सच्चे थे। उन्होंने अंगूठी ली, ऐसा मंजूर नहीं किया। इसलिए उसने सब नौकर छोड़ दिये और उनकी जगह नए नौकर लगाए। पति ने अपनी स्त्री से कहा वह अंगूठी तू पहनकर गई होगी और तूने ही उसे कहीं खोदी है, अगर ऐसा हुआ हो तो कहदे। मैं तुझे उपालम्भ नहीं दूंगा। परन्तु इस से इन बिचारे नौकरों के पेट पर लात न पड़ेगी।' वह स्त्री झूठ बोली-'नहीं मैं पहिन कर नहीं गई और जो मैं खो आई होती तो मैं मेरे प्यारे पति से मेरी गफ़लत क्यों छुपाती?' जुआ, चोरी और असत्य ये तीन दोष तो उसके साथ लग गए। कितने ही दिन पश्चात् एक नई अंगूठी ख़रीदने के लिए उस गृहस्थ ने एक जौहरी को कई अंगूठियों के नमूने लेकर अपने घर बुलाया। उन नमूनों में वह गुमाई हुई अंगूठी उसने देखी। वह चमका और उसने पूछा: 'यह अंगूठी तुम्हारे पास कहां से आई?' 'साहेब, यह अंगूठी आपके पड़ोसी मिसेज़ फिलिप ने कुछ महीने पहिले मुझे बेची है।' मिसेज़फिलिप बुलाई और उसने अपनी सखी को समस्त बातें कहकर अपनी साहूकारी सिद्ध की। उसी दिन उसने अपनी झूठ बोलने वाली, चोर और जुवारी स्त्री का त्याग किया। उस स्त्री का चोरों में नाम हो जाने से उस के दूसरे गुण भी अवगुण में गिने जाने लगे और उसे अनाथाश्रम में ही आश्रय लेना सूझा। वह भी किसी अनाथ की कोई वस्तु खो जाती तो इस स्त्री ने ही ली होगी ऐसा उस पर सन्देह किया जाता और किसी २ समय मार भी खाती

पड़ती। इसी हालत में उसने अपने दुःखी दिन पूरे किए।"

(कर्त्तव्य कौमुदी भाग २ पृष्ठ ९९-१०१)

वास्तव में जुआ से जीवन नष्ट हो जाता है। मनुष्य मनुष्यता से गिर जाता है। समाज में हेय दृष्टि से देखा जाने लगता है। उसे विविध विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। उसके प्यारे सम्बन्धी भी उसे पास खड़ा नहीं होने देते। श्रेष्ठ विद्या और प्रज्ञा बुद्धि भी इसके अभ्यास से नष्ट होजाती है। उद्योग, धन सम्पत्ति, मान मर्य्यादा और कुल का यश और प्रतिष्ठा सब कुछ जाता रहता है। पांडवों से प्रख्यात् राजाओं को इसकी बदौलत वन वन भटकना फिरा ! भरी सभा में सती द्रोपदी का चीर इसी द्यूत की कृपा से खींचा गया। महाराज नल को इसी व्यसन के कारण राज्यच्युत हो अपनी स्त्री के साथ पावों जङ्गलों में फिरना पड़ा। सारांश यह कि इस व्यसन के सेवन से सिवाय अपकीर्ति और नाश के कुछ हाथ नहीं लगता है। इसलिए विवेकवान् पुरुषों को इस का सेवन करना उचित नहीं है। जैनाचार्य द्यूत को सर्व अनर्थों का करनेवाला वतलाते हैं; यथाः—

'सर्वानर्थ प्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः।
दूरात्परि हर्तव्य चौर्यासत्या स्पदं द्यूतम् ॥

(सा० ध० टीका श्लोक)'

हिन्दुओं की मनुस्मृति में भी बुद्धिमान् के लिए द्यूत हास्य का और वैर बढ़ाने का कारण वतलाया है। कहा है किः—

'द्यूतमेतत्पुराकल्पे दृष्ट वैरकरं महत।
तस्माद्द्यूतन सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥'

(मनु० ९ अ० २२७)

ऋग्वेद में भी कहा है कि "पांसों से मत खेलो; नहीं, अपने खेतों को जोवो।" (१०। ३४। १३)। महाभारत में कहा गया है कि "प्राचीनकाल से यह देखा गया है कि जुआ से लड़ाइयां होती हैं; इसलिए जो विद्वान् हैं वे हास्य में इस का सेवन नहीं करते। (उद्योग० ३७। १६)"। इस्लाम और ईसाई धर्म में भी इसको बुरा बतलाया गया है। पारसियों के यहां भी जुआ खेलना अधर्ममय कहा गया है। ❀ बौद्धों के यहां भी जुआ को परस्त्री सेवन के साथ बुरा बतलाया है। यथा:–

"वह मनुष्य जो स्त्रियों में, सुरापान में, और जुआ खेलने में व्यस्त है वह अपनी सब कमाई खो बैठता है।" †

अतएव विवेकबुद्धि के लिए जुआ खेलने का त्याग चोरी की तरह करना ही श्रेष्ठ है। चोरी की तरह यह भी पाप का कारण एक तरह से प्रकट चोरी ही है। इस के अभ्यास से मनुष्य में सहज ही अन्य आवश्यक दुर्गुण आ जाते हैं। अतएव जुए और चोरी के त्याग में उसका कल्याण है। क्योंकि:-

'ताको मिलै देवपद शिवपद, ज्यौं विद्याधन लहै विनीत।
तामें आय रहै शुभ सम्पति; ज्यौं कलहंस कमलसीं मीत॥
ताहिविलोक दुरै दुःख दारिद, ज्यौं रवि आगम रैन विदीत।
जो अदत्त धन तजत बनारसि, पुण्यवन्त सो पुरुष पुनीत॥
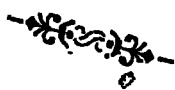
❀ Useful Instructions vol. III p. 444

† Sutta Nipata S.B.E. vol. X p. 18

(१२)

ब्रह्मचर्य-व्रत-विवरण !

"अप भीरु हो परदारा से, नहीं गमन जो करता है।
तथा और को इस कुकर्म में, कभी प्रवृत्त न करता है॥
ब्रह्मचर्य व्रत है यह सुन्दर, पांच इसी के हैं अतीचार।
इन्हें भली विध अपने जी में, मित्रो लीजे खूब विचार॥
भण्ड-वचन कहना, निशिवासर, अतितृष्णा स्त्री में रखना।
व्यभिचारिणी स्त्रियों में जाना, औ अनंगक्रीड़ा करना॥
औरों की शादी करवाना, इन्हें छोड़ कर व्रत पाला।
वणिक्सुता नीली ने नीके, कोतवाल ने नहिं पाला॥"

रत्नकरण्ड श्रावकाचार हिन्दी।

ब्रह्मचर्य की महिमा अगाध है। निश्चय रूप में यही एक मुक्ति का साधन है। परमात्मरूप को प्राप्त करने का ही उपाय है। उसका शब्दार्थ ही इस कथन की पुष्टि में उपस्थित है। ब्रह्मचर्य का अर्थ ब्रह्म में चर्या करना होता है। दूसरे शब्दों में आत्मा के स्वाभाविक रूप परमात्मस्वरूप को प्राप्त करके उसी की आराधना, उसी की उपासना और उसी की रसास्वादना में निमग्न रहना ब्रह्मचर्य है। शरीर और आत्मा के द्वैतभाव को नष्ट करके आत्मस्थिति को प्राप्त करना ही ब्रह्मचर्य है। किन्तु इस कठिनव्रत की उपासना वे ही परमविवेकी मुनिजन कर सकते हैं, जो संसार के ममत्व से नाता तोड़ चुके हैं। वे ही मुनिजन इस का पूर्ण अभ्यास कर सकते हैं; जो भेदविज्ञान को प्राप्त

करके आत्मध्यान में बहुत कुछ उन्नति कर चुके हैं। संसार के मायाजाल में फंसे हुए गृहस्थों के लिए इस उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य का अभ्यास करना असंभव ही है। तो भी अपनी स्थिति के अनुसार इसका थोड़ा बहुत अभ्यास गृहस्थ करता ही है। सामायिक आदि धार्मिक क्रियाओं द्वारा आत्मभाव की उन्नति करने में वह अवसर पाते-अपने हित को विचारते-लीन होता ही है। प्राचीन काल के आत्मवाद के युग में गृहस्थ जनों की सन्तान को इस प्रकार के व्रत का अभ्यास पच्चीस वर्ष तक की अवस्था तक करना ही पड़ता था। बालक-बालिकाओं के समझने काबिल होने पर उनको मुनिजनों के सुपुर्द कर दिया जाता था। वहाँ वे गौणरूप में साधु-क्रियाओं का सा अभ्यास करते हुए ज्ञानोपार्जन करते थे। पच्चीस वर्ष की अवस्था तक विविध प्रकार से दक्ष हो चुकने पर यदि वे चाहते थे तो गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होते थे। इस उम्र तक वे पूर्ण रीति से ब्रह्मचर्य का साधन करते थे। अपने आत्म-ज्ञान एवं लौकिक ज्ञान को प्राप्त करते थे और उसमें स्थित होना-उसे प्रयोग में लाना-सीखते थे। किन्तु अब ज़माना बदल गया है। आत्मवाद विलुप्त होगया है; यद्यपि पुनः उसके अंकुर प्रस्फुटित होने लगे हैं। संभवतः ब्रह्मचर्य का महत्व पुनः संसार में व्याप्त हो जावे! वरन् आजकल तो मनुष्य को प्रारंभिक विद्यार्थी अवस्था में पराश्रित होना-पैसे की पराधीनता का पाठ पढ़ना सिखाया जाता है। उन्हें अपने रूप का कुछ भी ध्यान नहीं कराया जाता। परिणामतः वे ब्रह्मचर्य के महत्त्व को कुछ भी नहीं समझते। उसका पालन गृहस्थ के व्यवहारिक ब्रह्मचर्य इतना भी नहीं करते! व्यभिचार और अनंगक्रीड़ा में प्रवृत हो जाते हैं। आजकल के शिक्षकगण ही बहुधा इस प्रकार के

अनर्थ की शिक्षा उनको देते हैं। यहां तक यह अप्राकृतिक कुवासना भारतीय विद्याशालाओं में व अन्य स्थानों में घर कर गई है कि सामयिक पत्र संसार में भी इसकी चर्चा होने लगी है। इन लोगों का एक 'पालट-पन्थ' ही नियत हो गया है। किन्तु इस अनर्थ का दुष्परिणाम कितना कटुक हो रहा है, यह हमारे सामाजिक जीवन की हीनता, कम उमर और अस्वास्थ्यवर्द्धक दरिद्रता की भरमार से भलीभांति प्रकट है। वस्तुतः ब्रह्मचर्य की अवहेलना करके सुखी-समृद्धिशाली जीवन व्यतीत करना कठिन है। यही कारण है कि पूर्वाचार्यों ने बालक-बालिकाओं को पहले ही ऋषियों के सुपुर्द करने की प्रथा निरज दी थी। आजकल भी उसी प्रणाली का किञ्चित अनुकरण किया जाने लगा है; परन्तु वहां भी योग्य ब्रह्मचारी गुरुजनों का अभाव खटक रहा है। ख़ैर, विद्यार्थी अवस्था में पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन का मौक़ा तो नष्ट होगया है; परन्तु देखना शेष है कि क्या गृहस्थजन व्यवहारिक--एकदेश ब्रह्मचर्य का भी अभ्यास करते हैं या नहीं? इसके जानने के पहले यह देख लेना ठीक है कि व्यवहारिक ब्रह्मचर्य क्या है? व्यवहार में आचार्यों ने अपनी पत्नी में नियमित ढंग से विषयवासना को केन्द्रीभूत करलेना ही ब्रह्मचर्य बतलाया है। इसकी विपरीत क्रिया को अब्रह्म बताया है, यथाः—

"मैथुनमब्रह्म १६ ॥ ७ ॥" (तत्वार्थसूत्र)

अर्थात्–"अब्रह्मचर्य वही है जहां प्रमत्तयोग से परस्पर विषय भोग किया जाय।" दूसरे शब्दों में जहां कोई नियमित योजना जिसके लिए न हो। मन, वचन, काय की तीव्र आकांक्षा के वशीभूत होकर पशु संसार को भांति वासना पूर्ति की जाय, यह अब्रह्मपना है, मनुष्य के लिए सर्वथा अनुचित

हैं। प्राणी में कार्माण प्रकृति के संयोग के कारण से एक प्राकृतिक लालसा जोड़ेरूप में रहने की है। अब यदि इस लालसा की पूर्ति का नियमित ढँग न हो तो प्रतिदिन अनेकों जोड़े बनें और अनेकों बिगड़ें और मानवसमाज की मर्यादा नियमित न रह सके। इस ही आवश्यका को देख कर पूर्वाचार्यों ने-समाज व्यवस्था के नियोजक महापुरुषों ने-पवित्र विवाह संस्कारकी सृष्टि कर रक्खी है। विवाह का अर्थ यह ही है कि मनुष्य नियमित ढंग से संतोष के साथ अपनी कामवासना की तृप्ति मात्र मनुष्य संतान को चालू रखने के लिए करे। यदि अपनी विवाहिता स्त्री का सेवन भी वह तीव्र-योग से केवल वासना तृप्ति के लिए करे तो वह क्रिया भी उसको ब्रह्मचर्य से हटाने वाली होगी। इस तरह व्यवहार ब्रह्मचर्य के अर्थ यही हैं कि मनुष्य अपनी विवाहिता स्त्री या पति में संतोष कर के शेष स्त्री और पुरुषों को भगनी या भाई के समान समझे, जैनाचार्य इसकी व्याख्या यही करते हैं, यथाः—

'मातृ स्वसृ सुता तुल्या निरीक्ष्य परयोषितः।
स्वकलत्रेण यतस्तोषश्चतुर्थं तदणुव्रतम्॥ ७७८॥
यार्गला स्वर्ग मार्गस्य सखीनां श्वभ्रसद्मनि।
कृष्णाहि दृष्टि वद्द्रोही दुःस्पर्शाग्नि शिखेव या॥ ७७९॥
(अमितगति)

अर्थ—"परस्त्रियों को माता, बहन व पुत्री के समान देख के अपनी स्त्री से ही सन्तोषित रहना सो चौथा ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। यह पर स्त्री स्वर्ग के मार्ग में आड़ है, नर्क महल में लेजाने को सखी है, काले सांप की दृष्टि के समान बुरा करने वाली है तथा नहीं छूनेयोग्य अग्नि की शिखा है। पुरुष को

अपनी विवाहिता स्त्री में और स्त्री को अपने विवाहिता पति में सन्तोष रखना चाहिये।" यही बात सागारधर्मामृत में और भी विशेषता के साथ कही गई है। वहां लिखा है कि:—

"सोऽस्ति स्वदार सन्तोषी याऽन्य स्त्री प्रकटस्त्रियो

न गच्छत्यंहसो भीत्या नान्यैर्गमयति त्रिधा ॥ ५२ ॥ ४ ॥"

अर्थ—"परिगृहीत अथवा अपरिगृहीत दूसरे की स्त्री को अन्य स्त्री कहते हैं। जो स्त्री अपने स्वामी के साथ रहती हो उसे परिगृहीत कहते हैं और जो स्वतन्त्र हो अथवा जिसका पति परदेश गया हो ऐसी कुलांगना अनाथ स्त्री को अपरिगृहीता कहते हैं। कन्या की गिनती भी अन्य स्त्री में है, क्यों कि उसका पति होनेवाला है अथवा माता पिता आदि की परतंत्रता में रहती है, इसलिये वह सनाथ अन्य स्त्री गिनी जाती है। वेश्या को प्रकट स्त्री कहते हैं। जो पुरुष केवल पाप के भय से मन वचन काय से कृत कारित से अथवा अनुमोदना से भी अन्य स्त्री और वेश्याओं का सेवन नहीं करता है। और न परस्त्री लंपट पुरुषों को सेवन कराने की प्रेरणा करता है, वह गृहस्थ स्वदारा संतोषी है।" (पृष्ठ २८६)

काम-वासना व्यक्ति में पौद्गलिक संसर्ग के कारण उत्पन्न होती है। यह आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है। परन्तु सांसारिक व्यक्ति में यह कमोवेश रूप में अवश्य मिलता ही है। इसलिए जो इसका पूर्ण निरोध नहीं कर सकते उनको अपनी धर्मपत्नी में अथवा पति में ही संतोषित होकर इसका प्रतीकार करना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह जानलेना भी आवश्यक है कि विषयभोग एक हिंसामय क्रिया है। वात्सायन कामशास्त्र में लिखा है कि 'कोमल मध्यम और अधिक शक्ति-

वाले रक्त से उत्पन्न हुए अनेक सूक्ष्मजीव योनि में एक प्रकार की खुजली उत्पन्न करते हैं।' यथाः—

"रक्तजाः कृमयः सूक्ष्मा मृदु मध्यादि शक्तयः।
जन्मवर्त्मसु कंडूतिं जनयन्ति तथा विधां॥"

यही कोड़ों की खुजलाहट कामवासना की इच्छा उत्पन्न करती है, और जहां परस्पर संयोगसे यह कीड़े मरजाए वहां वह इच्छा मिट जाती है। इस तरह कामसेवन एक हिंसामय पाप ही है। इसका सेवन बहुत संभाल कर केवल सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से ऋतु के उपरान्त फलमय दिवसों में ही करना चाहिये। तिस पर जो महाशय पराई स्त्री का सेवन करते हैं, वह इस हिंसा को और अधिक करते हैं, क्योंकि उनके राग-द्वेष की तीव्रता बहुत अधिक होती है। परस्त्री सेवन से अधिक हिंसा के अशुभबन्ध के साथ भी कुछ सुख भी नहीं मिलता, यही बात शास्त्रकार कहते हैं:—

समरसरस रंगोद्गमृते च काचित्क्रिया न निर्वृतये।
सकुतः स्यादनवस्थित चित्ततया गच्छतः परकलत्रं॥ ५४॥

अर्थ—"समागम समय में परस्पर विलक्षण प्रेम होते हुए स्त्री पुरुषों के अन्तःकरण में परस्पर समागम की उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है। उस विलक्षण प्रेम से उत्पन्न होनेवाली उत्कट इच्छा के बिना आलिंगन चुंबन आदि कोई भी क्रिया सुख देनेवाली नहीं होती, तब फिर 'मुझे कोई अपना या पराया मनुष्य देख न ले' इस प्रकार के शङ्कारूपी रोग से जिसका अन्तःकरण चंचल हो रहा है ऐसे परस्त्री सेवन करने वाले पुरुष के वह अपूर्व प्रेम और वह उत्कट इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है? अर्थात् कभी नहीं और न उसके बिना

उसे सुख मिल सकता है।" (पृष्ठ २६१) इस अवस्था में वृथा ही परस्त्री द्वारा पापोपार्जन करना उचित नहीं है। इस के द्वारा वृथा संकटों को मोल लेना ठीक नहीं है। नियमित रीति से इच्छा पूर्ण न होने से परस्त्री-लंपट पुरुष का चित्त उद्विग्न रहता है, जिस से उसका शरीर क्षीण हो जाता है और शुद्ध कुल में अनेक कलंक लगते हैं। उसकी प्रतिष्ठा जाती रहती है। और चाहुं ओर वैर वढ़ जाता है। उसके दुराचार के कारण उसके प्राण संकट में हो जाते हैं और वाज़ दफे उसे उन से हाथ धोना ही पड़ता है। मृत्यु होने पर भी इसका पीछा नहीं छूटता, पाप का फल इसे अन्यभवों में दुर्गतियों में पड़कर भुगतना पड़ता है। ग़र्ज़ यह कि दुराचारी पुरुष को कहीं भी सुख नहीं मिलता है। इसका परिणाम कटु होता है; यही शास्त्रकार दिखलाते हैं:—

"हानष्टः सहलंकया जितवलः सीतारतो रावणो।
द्रोपद्या हरणेन दुःखमधिकं प्राप्तश्च पद्मोत्तरः॥
भ्रातृ स्त्रीनिरतो मृतो मणिरथो हत्वानिजं भ्रातर।
मन्यत्री रमणोद्यता हतनया ध्वस्ता महान्तो नर्के॥"

भावार्थ—"राक्षस कुल का अग्रसर रावण कि जो एक महान् वलवान राजा था, परन्तु वह रामचन्द्र जी की पत्नी सती सीता पर मोहित हो गया और विषयान्ध वन अविचार में पग धरने लगा तो थोड़े ही समय में वह राम और लक्ष्मण जी के हाथ से लङ्का नगरी के साथ अपने प्राण खोकर दुर्गति में चला गया। द्रौपदी का हरण करने से धातुकीखण्ड का पद्मोत्तर राजा कृष्ण वलदेव के हाथ से अति दुःख पाया। युग वाहु की स्त्री मदनरेखा पर मोहित हुए मणिरथ राजा ने विष-

थान्ध बन अपने भाई युगबाहु को मार डाला और मदनरेखा को लेने जाता था कि रास्ते में आप खुद ही मर गया और मनुष्य जन्म खो दिया। ऐसे तो शास्त्रों में अनेकों दृष्टान्त हैं। जो नीति और सदाचार को एक ओर रख परस्त्री के प्रेम में और उनके साथ भोग भोगने में लिपटे उन में से कौन २ से मनुष्य पूर्ण नाश को नहीं पाये ? इस तरह रावण पद्मोत्तर मणिरथ आदि ऐसे बड़े राजा पराई स्त्री की अभिलाषा में नष्ट हो गए तो सामान्य मनुष्य इह लोक और परलोक की समस्त कमाई गुमा कर अधोगति में चले जायँ, तो इसमें क्या आश्चर्य है ? इसलिये स्वप्न में भी पराई स्त्री की वांछा न रखना ही योग्य है। स्त्रियों को भी पर पुरुष की इच्छा न रखना ही हित का मार्ग है।"* सती सीता ने शरीर में सुन्दर, ऐश्वर्य, धन आज्ञा आदि में बढ़े चढ़े रावण का त्याग कर के अपने को जगत में पूज्य बना लिया है। सती मनोरमा ने सुन्दर सेठ की परवा न करके अपने कुष्ठी पति में ही अनुराग रक्खा था, कि आज उनका नाम सबकी ही जिव्हा पर है, सेठ सुदर्शन ने प्राण जाते भी अपने शीलधर्म को नहीं गँवाया था, आज उनके गुण गान सब कोई कर रहा है। इसलिये ब्रह्मचर्य का पालन करना ही हितकर है।

पर स्त्री सेवन की तरह वेश्या सेवन भी पाप और निंदा एवं दुःख और शोक का घर ही है। स्वदार संतोषी गृहस्थ को इनके निकट स्वप्न में भी नहीं जाना श्रेयस्कर है। कुल, जाति, धन, मान और स्वास्थ्य ही नहीं बल्कि प्राणों का भी नाश इस वेश्या सेवन से होता है। उपदंश, प्रमेह सदृश भया-

---

*कर्तव्य कौमुदी पृष्ट १३६ भाग दो।

नेक रोगों का अस्तित्व इसी वेश्या व्यसन के कारण देखने को मिलता है। विश्वास और प्रतीति वेश्यागामी पुरुषों की सब ओर से उठ जाती है। धर्म-कर्म उनका नाश होजाता है, जिस से उनके माता-पिता और स्त्री उनको अपने पास नहीं आने देतीं। अन्ततः वह घर से विमुख होकर वेश्या के ही आश्रित रहते हैं; परन्तु वहां भी उनका मान तब तक ही रहता है जब तक उन के पास धन रहता है; क्योंकि वेश्याओं का प्रेम धन ही से रहता है। अपने शील धर्म को वेचकर वह उदर पूर्ति करतीं हैं। इसलिए उनके निकट धन ही का मान है-फिर चाहे पुरुष भंगी, चमार कोई भी क्यों न हो! जहां धन नष्ट हुआ वहां उनका प्रेम भी ख़तम हुआ। फिर उस निर्धन यार की ओर वह निगाह भी नहीं करतीं, जिसके कारण ऐसे पुरुषों को उनकी सेवा में ही जीवन बिताना पड़ता है। इसी लिए शास्त्रकार इनकी कुटिलता दिखाकर इनके त्याग का ही उपदेश देते हैं; तथा:—

'यूनो वंचयितुं सदा प्रयतते या स्वार्थ मग्ना सती।
मायापाश निपातनेन कुरुते मुग्धान् धीनान्स्वयम्॥
हृत्वैषां सकलं धनं पुनरियं नष्टे धने द्वेषितान्।
संसर्गः सुखनाश कोस्ति नियतस्तस्याहि वारस्त्रियाः॥'

भावार्थ—"जो वेश्यायें तरुणों को किसी तरह मोह फांस में फंसाने, उन से धन प्राप्त करने या उन्हें ठगने के स्वार्थी व्यापार की चिन्ता में ही रातदिन लीन रहती हैं, जो विषय लम्पट मुग्ध पुरुषों को कटाक्षवाण से बांधकर अथवा माया और कपट के पंजे में फँसाकर अपने तावेदार या गुलाम बना लेती हैं और मुग्ध पुरुष भी विषयांध हो मूर्ख बनकर अपनी

सर्व सम्पत्ति और अपनी स्त्री के अलङ्कार तक भी उसके सुपुर्द कर देते हैं, वह भी सब सम्पत्ति अपने कब्ज़ा में लेकर अन्त में निर्धन हुए अपने उस यार को धक्के देकर बाहर निकाल देती है। और फिर जिन्हें एक वार भी उस प्रेम दृष्टि से नहीं देखती-जिनपर स्वार्थ न रहने से घृणा की दृष्टि से देखती है, ऐसी स्वार्थसाधक वेश्याओं का संसर्ग करना भी मनुष्यों को अनुचित है। इसलिए सुख का नाश करनेवाला जो उसका संसर्ग है उस से प्रत्येक मनुष्य को अलग रहना चाहिए।" (कर्तव्यकौमुदी भाग २ पृष्ट १३१)। परस्त्री सेवन और वेश्या सेवन का त्याग करके जो व्यक्ति स्वदार सन्तोष व्रत का पालन करता है, वह इस जन्म में गार्हस्थिक सुख भोगता है और परजन्म में स्वर्गसुख पाता है।

गृहस्थ के लिए इस ब्रह्मचर्य व्रत के पालन में निम्न बातें जैनाचार्यों ने सहायक बताई हैं:-(१) स्त्रीराग कथा श्रवण त्याग (२) तन्मनोहरांगनिरीक्षण त्याग (३) पूर्वरतानुस्मरण त्याग (४) वृष्येष्टरस त्याग और (५) स्वशरीरसंस्कार त्याग। वस्तुतः यदि ब्रह्मचर्याणुव्रती स्त्रीसम्बन्धी कथाओं में, विलासिता और वासनावर्धक उपन्यासों में एवं स्त्रियों के रूप लावण्य, नखसिख निरीक्षण में अपने मन को चञ्चल बनालेंगे तो उसके लिये ब्रह्मचर्यव्रत का पालना मुश्किल हो जायगा। इसी तरह यदि उत्तेजक तामसी वासनावर्धक पदार्थों को खाया जायगा और पहिले भोगे हुए भोगों के स्मरण में ही दिल को जलाया जायगा तोभी ब्रह्मचर्य का साधन कठिन साध्य हो जायगा। साथ ही यदि कहीं अपने शरीर को खूब सजाने में समय नष्ट किया गया तोभी चित्त की स्थिरता नष्ट हो जायगी और स्वभावतः इन्द्रियों में चंचलता आ जायगी।

इसलिए इन बातों का त्याग करके नैतिकचारित्र को उत्तम बनानेवाली अच्छी पुस्तकों को पढ़ना श्रेष्ठ है। और अपने समय को इस तरह नियमित रखना आवश्यक है कि अनायास ही नेत्र स्त्रियों के रूप लावण्य में न जा उलझें अथवा चित्त विषय भोगों को याद में तलमला न उठे। आजकल हिन्दी साहित्य में रद्दी वासनावर्धक उपन्यासों की इतनी भरमार होती जारही है कि मनुष्य ब्रह्मचर्य के महत्व को बिल्कुल ही भूलते जा रहे हैं। इस प्रकार के रद्दी साहित्य से स्वयं हिन्दी साहित्य कलङ्कित हो रहा है और फिर हिन्दी प्रेमियों का धन, दिमाग़ और शरीर ही नहीं बल्कि परभव भी ख़राब हो रहा है। अतएव जिन्हें अपना एवं अपने भाइयों की भलाई का ख़याल है उन्हें ऐसी पुस्तकें न रखना चाहिए और न पढ़ना व पढ़ने देना चाहिए। साथ ही शुद्ध सादा सात्विक भोजन और शुद्ध स्वदेशी वस्त्रों को धारण करना चाहिए। इस ही में शरीर की, धर्म की, धन की, देश की और स्वयं आत्मा की भलाई है। आजकल सभ्यता की झूठी शान में विलासिता और वासना का बाज़ार गरम हो रहा है। यह ब्रह्मचर्यव्रत के लिए पूर्ण बाधक है। इसलिए एक सच्चे नागरिक को इस व्रत का अभ्यास करने के लिए उक्त पांचों बातों का पालन करना आवश्यक है।

साथ ही इस व्रत का निर्दोष पालन करने के लिए पांच अतीचारों का त्याग करना भी आवश्यक बतलाया गया है। वे अतीचार इस प्रकार हैं:—

"परविवाह करणेत्वरिका परिग्रहीता परिग्रहीता गमनानङ्गक्रीड़ा कामतीव्राभिनिवेशाः।"

(उमास्वामी महाराज)

१. 'परविवाह करणं स्वपुत्र पुत्र्यादीन् वर्जयित्वा अन्येषां गोत्रिणां मित्र स्वजनपरजनानां विवाह करणं।' (स्था०) अर्थ—अपने पुत्र पुत्री आदि (घर के भीतर के लड़के लड़की) के सिवाय अन्य गोत्रवाले मित्र रिश्तेदार आदिकों के विवाहों का करना परविवाहकरण अतीचार है। स्वदारसंतोषव्रती पर-पुरुषों को काम सेवन न कराने की प्रतिज्ञा ले लेता है, इसलिए वह अन्यों के विवाह नहीं करा सकता। परन्तु यह भाव करके कि हम काम सेवन के लिए थोड़े ही विवाह कराते हैं उनके व्रत भङ्ग तो होता नहीं, परन्तु दूषण अवश्य आ जाता है।

२. इत्वरिकापरिग्रहीतागमन—अन्य की परणी हुई स्त्री जो व्यभिचारिणी हो उस से सम्बन्ध रखना यानी लेनदेन, बोलना बैठना आदि व्यवहार रखना। परस्त्री व वेश्यादि के जघन्य, स्तन व दांत आदि अंगों का देखना, प्रेम पूर्वक बातचीत करना हाव, भौंके कटाक्ष वगैरह करना उसको गमन कहते हैं।

३ इत्वरिका अपरिग्रहीता गमन—बिना परणी हुई स्त्री जैसे कन्या, दासी, वेश्या आदि से सम्बन्ध रखना।

४. अनङ्गक्रीड़ा—अपनी स्त्री ही के साथ व अन्य किसी पुरुष व नपुंसक को स्त्री के समान मानके काम सेवन के अङ्गों को छोड़कर अन्य अंगों से काम चेष्टा करना।

५. कामतीव्राभिनिवेश—काम को तीव्रता रखना अर्थात् अपनी स्त्री के साथ भी अत्यन्त तृष्णा में होकर काम सेवन करना—तृप्तता न पाना। वास्तव में जब स्त्री रजस्वला हो उसके पीछे ही पुत्रोत्पत्ति की इच्छा से गर्भाधानादि क्रिया करना चाहिए। शेष दिनों में सन्तोषित रहना चाहिए।

"ब्रह्मचर्यव्रत शरीर की रक्षा व आत्मिक उन्नति का साधक है क्योंकि शरीर में वीर्य्य अपूर्व रत्न है। इस की यथा सम्भव रक्षा करनी अत्यन्त आवश्यक है। स्त्री सेवन के भाव करने ही से वीर्यरूपी रत्न मलीन हो जाता है।" * और वीर्य के मलिन होने से मनुष्य की बुद्धि का तेज नष्ट हो जाता है. जिस से शरीर निस्तेज और अकर्मन्य बन जाता है। इसलिए अपने कर्तव्य साधन के लिए ब्रह्मचर्य के अभ्यास द्वारा शरीर को हृष्टपुष्ट रखना आवश्यक है। यदि शरीर पुष्ट और बलशाली नहीं होगा तो हम न लौकिक उद्योग कर सकेंगे और न परमार्थ के धर्ममय कार्यों में भाग ले सकेंगे। इस कारण शरीर को बल-पराक्रमयुक्त रखना लाज़मी है। यह तब ही हो सकता है जब नियमित ढङ्ग से काम सेवन किया जाय। इस के लिए ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना अनिवार्य है। इस प्रकार समस्त सांसारिक एवं पारमार्थिक कार्यों की सुचारु पूर्ति के लिए ब्रह्मचर्य की आवश्यकता को देखकर ही साधारणतः प्रत्येक धर्म प्रवर्तक ने स्वदार सन्तोषव्रत को स्वीकार किया है। परन्तु यहां भी उन में इस व्रत का वह पूर्ण विवेचन उपलब्ध नहीं है, जो जैनशास्त्रों में है, जैसा कि इन पृष्ठों में किञ्चित् दर्शाया गया है। इसके विशद विवरण के लिए जैनशास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए। हिन्दूशास्त्रों मे भी इसका महत्व प्रकट है। ऐसे स्त्रियों के लिए ऋग्वेद में नर्क का वास बतलाया गया है जिनका चारित्र ठीक नहीं है और जो सच्ची, सदाचारिणी नहीं हैं। (२। २६) सीताजी को अग्निकुण्ड में इसी व्रत के कारण घुसना पड़ा था। उस

* गृहस्थधर्म पृष्ठ १०७-१०८.

समय लोगों में इस व्रत की विशेष मान्यता थी कि उन्होंने अपनी राजमाता की परीक्षा लेना आवश्यक समझा। सीता जी अपने व्रत में दृढ़ थीं। अग्नि भी उनके लिये सलिल धारा हो गई। (रामायण ६।११६।२५-२६) यही नहीं देवगण भी उनके व्रत की साक्षी देने आए थे। (६।११८।१५-१८) उनके व्रत की दृढ़ता इसी से प्रकट है कि वह हनुमान जी के शरीर पर बैठकर नहीं आई थीं क्योंकि वह राजी से किसी भी पर पुरुष का शरीर छूना तक नहीं चाहती थीं (३७।६२-६३)। स्त्रियां ही इस व्रत का पालन करती हों सो नहीं; लक्ष्मण सदृश महानुभाव भी थे, जिन्होंने कभी भी आंख उठाकर अपनी भावज की तरफ देखा भी नहीं। लक्ष्मण जी कहते हैं:

"नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥४।६।२५-२३॥

भावार्थ—"मैं सीताजी के केयूर (कड़ों) को जानता नहीं हूं और न मैं उनके कुण्डलों को जानता हूं. परन्तु हां, उनके नूपुरों को मैं अच्छी तरह जानता हूं कि रोज़ पादवन्दना करते मेरी दृष्टि उन पर पड़ती थी।" अहा! ब्रह्मचर्यव्रत का कितना उत्कृष्ट दृश्य है। आज भारत में ऐसे लाल कहां हैं जो अपनी भावजों के प्रति ऐसा उत्कृष्ट पवित्र और पूज्यभाव रखते हैं।

महाभारत में कहा गया है कि 'स्त्रीजाति में दोनों प्रकार की व्यक्तियां हैं। अर्थात् वह जो शीलवान् हैं और वह भी जो पापाचारिणी हैं। वह जो शीलवान हैं वही धन्य हैं। वे संसार की माता हैं। वेही पृथ्वी को जल-थल सहित साधे हुई हैं। (अनु० ७८।२३-४) रामायण में रामचन्द्रजी के विषय में कहा गया है कि उन्होंने कभी पर स्त्री की ओर दृष्टि नहीं फेरी।

(३।६।५-६ व २।७२।४=) मनका विचलित होना ही रामायण में धर्मघातक बतलाया है हनूमानजी रावणके अन्तस्थल में सोती हुई रानियों को देखकर कहते हैं कि 'पराए रूप की विवाही स्त्री को, सोते हुए देखने पर भी धर्म की हानि होती है।' (३.V 11.38) इसलिए हिन्दू शास्त्रमें विषय सेवन आठ प्रकार का बतलाया है: (१) स्त्रीका विचार करना (२) उसके बावत बातचीत करना (३) किसी स्त्री से संभोग करना (४) कुदृष्टि से किसी स्त्री के प्रति देखना (५) गुप्त रूपसे उससे वार्तालाप करना (६) संभोग के लिए निश्चय करना (७) ऐसा करने के लिए गाढ़ प्रयत्न करना और (८) सचमुच वैसा करना। इनका मन, वचन, कायसे त्याग करना लिखा है। ('D kshi V I 31-38)

इस तरह हिन्दूधर्म में इस ब्रह्मचर्य के पालन का विधान है।

मुसलमानों के कुरानशरीफ में भी स्वदारा सन्तोषव्रत को आवश्यक बतलाया गया है। स्त्री सेवन के पहिले कुछ धर्म कमा लेना मुख्य बतलाया है। कहा है: "तुम्हारी स्त्रियां तुम्हारे खेत है, जाओ, तुम अपने खेतों में जैसे तुम चाहो, परन्तु पहिले अपनी आत्मा की भलाई के लिए कुछ कार्य कर लो।" वह स्त्री बहिश्त की अधिकारिणी लिखी है जो अपने पति को खुश रखती है।

व्यभिचार को बुरा बताया गया है; यथा: "व्यभिचार से सम्बन्ध बिलकुल मत रक्खो, क्योंकि यह एक खराब वस्तु है और कुमार्ग है।" Xv i The Ethics of Koran p. 84 पुरुषों को अपनी विवाहिता स्त्रियों के साथ भी पवित्रता से रहना चाहिये; अधिक वासना लिप्सो और व्यभिचारिणी स्त्रियों से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये। अविवाहितों के

लिये ब्रह्मचर्यमय जीवन बिताने की आज्ञा है। स्त्रियों के अङ्गो-पाङ्ग पर दृष्टि डालने की मनाई है। कुरानशरीफ कहता है कि 'मोमिनों से कहो वे अपनी आँखों को रोकें और संयम का अभ्यास करें। इस क्रिया से वे अधिक पवित्र होंगे। सांसारिक वस्तुओं में सर्व मूल्यवान वस्तु सुशील स्त्री बताई गई है। स्त्रियों के लिये भी नेत्रों को नीचे रखने और सदाचार को पालन करने का उपदेश दिया है। गहनों और आभूषणों. को प्रकट दिखाने की मनाई है,-केवल बाहिरी जो हैं उनकी रियायत है। तथा छातियों पर परदा डाले रहने की हिदायत है। केवल निकट सम्बन्धियों के समक्ष शृङ्गारित हो आना लिखा है। यदि किसी अन्य की स्त्री से कोई वस्तु लेनी हो तो पर्दे में से लेने का विधान है। इस से दोनों के हृदय पवित्र रहेंगे। इस प्रकार इस्लाम धर्म में भी ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना आवश्यक बतलाया है। The Sayings of Muhammad 79 में व्यभिचारी को मुसलमान ही नहीं बताया है इसलिये मुसलमानों के लिये ब्रह्मचर्य का अभ्यास करना परमावश्यक है।

पारसियों के धर्म में भी इस व्रत का दिग्दर्शन प्राप्त है। विवाह द्वारा व्यक्ति आपसमें सम्बन्धित होते हैं और संतोष पूर्वक जीवन बिताते हैं, यह बात उनके 'दिनकर्द' में कही गई है। और कहा गया है कि दम्पति को एक दूसरे के प्रति धर्ममय व्यवहार करना चाहिये। केवल इसी तरह गार्हस्थिक जीवन सुखमय हो सकेगा। अपनी स्त्री पर प्रेम करना तथा उन्हें आवश्यक शिक्षा देना लाजमी बतलाया है, परन्तु उन पर अत्याधिक मोहित होने की मनाई लिखी है स्त्रियों के लिए मन, वचन, काय से पति की भक्ति और आज्ञाकारिणी होना

आवश्यक बतलाया है पुरुषों के लिए भी कहा गया है कि "पराई स्त्रियों के विचारों को बुरी राहमें मत लगाओ, क्योंकि ऐसा करने से तुम्हारी आत्मा अधिक पापपूर्ण बनेगी। वेश्या या व्यभिचारिणी से सम्बन्ध करना भी बुरा बतलाया है। इस तरह पारसीधर्म में भी ब्रह्मचर्यव्रत पालन करने का विधान है।

ईसाइयों केयहां भी यह मान्य है। बाइबिल की दस आज्ञाओं में एक आज्ञा 'तू व्यभिचार नहीं करेगा।' भी कही गई है। (Bible Exodus 20)

यही बात अन्तिम आज्ञा में इस प्रकार कही गई है कि 'तू अपने पड़ोसी की स्त्री की वाञ्छा नहीं करेगा'। (Ibid) खास कर स्त्रियों को लक्ष्य करके कहा गया है कि:—

'पत्नियो, तुम अपने पतियों की शरण में उसी तरह जाओ जिसतरह परमात्मा की शरण में।' इसी लिए सुशील पत्नी पति का मुकट बतलाई गई है'। (Bible Ephesians 5)

इन्द्रिय निग्रह करना सुगम नहीं है। इसीलिए कहा गया है कि 'हमारी इन्द्रियां और हमारी वासनाएं हर समय हमारे विरुद्ध षडयन्त्र रचती रहती हैं; हम किसी ज़िद्दोजहद के बिना ही जीत लिए जाते हैं। इस लिए हमें इतना कमज़ोर या बेवकूफ न होना चाहिये कि अपनी इन्द्रियों पर विश्वास करें। अन्ततः यही प्रार्थनाकी गई है कि:—

"संयममय इन्द्रियनिग्रह द्वारा विषय वासना पर विजय प्राप्त करने में सहायता कीजिये।" इस प्रकार ईसाइयों के यहां भी सदाचारमय जीवन बिताने के लिए ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना आवश्यक बतलाया है।

बौद्धों के यहां भी सर्वप्रकार के कुशील से बचने का आदेश

है। उनका तीसरा व्रत यही है कि 'सर्व प्रकार के असदाचार से विलग रहो'। इसी लिए पत्नी पति के प्रति पूर्ण प्रेममय व्यवहार करना आवश्यक बतलाया है। गृहकार्य सुन्दर रीति से करते हुए उसके लिए पूर्ण शीलवान् रहने का विधान है। पुरुषों के लिए स्त्री एक दुर्गति का कारण बतलायी है और कहा है कि जो शीलधर्म के प्रतिकूल अयतथ वर्तन करता है, उसका नाश यहां और पर जन्म में होता है।

इस लिए बुद्ध कहते हैं कि 'मनुष्य में विषयवासना की वाञ्छा अति तीव्र है। इससे हमेशा भयभीत रहना चाहिए। इसलिए उत्तम संयम का व्रत लेना उत्कृष्ट है। जो इन्द्रियां नियमित रीति से निरोधित नहीं रक्खी जातीं और इन्द्रिय-पदार्थ भी समुचित सीमा में नहीं रक्खे जाते, तो वासना और तृष्णामय विचार उत्पन्न होते हैं, क्योंकि इन्द्रियाँ और इन के पदार्थ ठीक २ जीते नहीं गए हैं।'

अन्ततः बुद्ध का बारम्बार शीलमय जीवन व्यतीत करने का आग्रह है। 'सुत्तनिपात' में कहा है कि विद्वान पुरुष को अशील मय जीवन कोयलों के धधकते अङ्गारों की तरह नहीं अपनाना चाहिये और परस्त्री सेवन नहीं करना चाहिये।

इस प्रकार बौद्ध धर्म में भी स्वदार संतोष व्रत-अथवा ब्रह्मचर्य का पालन करना मुख्य बतलाया गया है।

यद्यपि संसार के प्रत्येक धर्म ने गृहस्थ के लिये अपनी पत्नि में ही संतोष करके सदाचार से रहने का विधान कर रक्खा है, परन्तु आज संसार पर दृष्टि डालने से हमें सर्वत्र असदाचार की मुख्यता ही दृष्टिगत होती है। मनुष्य प्रकृति इतनी कमज़ोर और लचर हो गई है कि मनुष्य के प्रारंभिक कर्तव्य का पालन करने में भी असमर्थ हो रही है। सभ्यता के बढ़े चढ़े समझे जाने

वाले विदेशों में भी कुशील की मात्रा कम नहीं है। उसी तरह आज भारत भी इसी कुशील-पिशाच का उपासक बना हुआ है। पुरातन प्रथा थी कि बालकों का बुद्धिविकास अथवा ज्ञानोन्नति के प्रयत्न पहिले किए जाय। फिर जब बालक बालिका पूर्ण ज्ञानवान और युवा न हो जावें तब कहीं उनके विवाह आदि का विचार किया जाता था। बहुधा वर कन्या स्वयं अपना सम्बन्ध विचार कर बना लेते थे। परन्तु आज कल ठीक इससे उलटी गङ्गा बह रही है। बालक-बालिका पालने में से ज़मीन पर भी नहीं आने पाते कि उनके विवाह की चर्चा होने लगती है। चर्चा ही नहीं कहीं २ तो विवाह ही कर दिये जाते हैं। इस अनर्थ का ही यह परिणाम है कि एक २ वर्ष की अबोध नन्हीं २ बालिकायें भी आज इस भारत में विधवा के पवित्र और साधु जीवन के नाम से पुकारी जाती हैं। अहिंसा और धर्मवीरता का अभिमान करने वाली भी जैनजाति में तीन २ वर्ष की कन्यायें विधवा बनाकर बैठाल दी गई हैं। उनको गृहों में र खछोड़ा गया है। कहिए क्या इसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत का पालन होता है? इस कुप्रथा से आज उलटा व्यभिचार का पोषण हो रहा है। इस नन्हीं उमर की विधवायें घर की रङ्गरलियों में रहती हुई जब युवावस्था में पहुंचती हैं तो उन को अपनी इन्द्रियों पर निग्रह प्राप्त करना कठिन हो जाता है। तिस पर धनी लोगों की अत्यधिक वासना-लिप्सा के कारण-मरते समय तक बारम्बार विवाह करते जाने के कारण तथा छोटी २ जातियों की कृपा से बहुत से साधारण स्थिति के हृष्ट पुष्ट युवक कुंवारे ही रह जाते हैं। कन्याओं की कमी उनकी समुचित स्वास्थ्य रक्षा न करने से भी होती है। इस से कुंवारों की संख्या विशेषकर सब जगह मिलती है। बस इधर

यह कुंवारे युवा अपनी पाशविक-इच्छाओं को शमन करने को तुले ही रहते हैं और इधर विचारी विधवायें कामाग्नि में धधका ही करती हैं। अवसर पाते ही इनका सम्बन्ध हो जाता है और व्यभिचार का बाज़ार गर्म होता है। इतने पर ही गनीमत नहीं—कुशील तक ही नौबत नहीं रहती। हिंसा झूठ-चोरी का भी पाप पोट इन के सिर बंधती है। किसकी कृपा से? लाडले माता - पिता की अज्ञानता से — सामाजिक संगठन के झूठे दिखावे के ढोंग से। गुड़ खाकर पूआ का नेम करने से! इस कुशील सेवन से जब यह विधवायें गर्भवती होती हैं तो समाज के भय से इनको गर्भपात करने के लिये मजबूर किया जाता है। यदि गर्भपतन नहीं होता तो नवजात शिशु का जन्मते ही मौत के घाट उतारा जाता है। अथवा कतिपय निर्दय पुरुष तो ऐसी विधवाओं को सिसक २ कर जीवन बिताने के लिये कहीं बाहर एकान्त में अकेला छोड़ चले आते हैं। फिर वे जीवन भर दुःख उठाया करती हैं। साथ ही बहुतेरी विधवायें जो घर के लोगों के व्यवहार से तंग आ जाती हैं तो वे नौकर आदि नीच पुरुषों के साथ भाग जाती हैं और कुल में कलङ्क का टीका लग जाता है। उनके संरक्षकगण इसमें उनका दोष दिखायेंगे, किन्तु सचमुच इस में उनका दोष कुछ भी नहीं है। दोष तो उनके माता पिता का है जो उन्हों ने छोटी सी उमर में उनके विवाह अयोग्य, रोगी अथवा वृद्ध पुरुष के साथ कर दिये। इस तरह का हिंसा और कुशील कर्म स्वयं समाज की कृपा से चालू है। यदि वह ब्रह्मचर्य का महत्त्व करके युवा होने पर योग्य वर कन्या का विवाह करे तो यह अनर्थ हो ही नहीं पावें। फिर भी विधवाओं द्वारा भ्रूणहत्यादि रूपी हिंसा भी यदि पंच गण चाहें तो रुक सकती है। विध-

चायें जब पेट डाल देती हैं तब तो बराबर समाज में प्रतिष्ठित बनी रहती हैं, किन्तु यदि कहीं बच्चा जन दिया तो हमेशा के लिये जड़ से उड़ा दी जाती हैं। इसलिये इस सामाजिक भय के कारण ही विधवायें पञ्चेन्द्री सैनी की हिंसा करती हैं। पंचगण उन के लिये कोई रिआयती दण्ड मुकर्रिर कर दें; आजन्म काले पानी के स्थान में कुछ वर्षों का कठिन कारावास नियत करदें और फिर उनको हेयदृष्टि से देखना छोड़ दें तो हिंसा काण्ड रुक जावे।

समाज में विधवाओं द्वारा ही कुशीलसेवन होता हो, यही बात नहीं है। पुरुषवर्ग तो अपनी रण्डीबाज़ी और परवनिता सेवन के लिए आजकल प्रख्यात हो रहे हैं। यह आजकल के सभ्यजीवन का एक अंग सा समझा जाने लगा है। वेश्या-सत्संग से धर्म-कर्म-हीन पुरुष तनिक भी सामाजिक-दृष्टि में हेय नहीं होता, परन्तु मनुष्यों को मनुष्य समझने वाला और अपने ही साधर्मी व सवर्णी भाइयों के साथ भोजन और विवाह संबंध करनेवाला व्यक्ति समाज की दृष्टि में अखरने लगता है। यह कितना बढ़िया न्याय है! कितना अच्छा धर्म पालन का विधान है! किन्तु जहां सब चोर ही चोर हों तो वहां चोरी ही मर्यादा है! यही दशा यहां हो रही है। रंडीबाज़ी आदि कर्म बुरे नहीं समझे जाते। प्रत्युत वह रण्डियां जो खुले आम कुशील और हिंसा-झूठ चोरी का प्रचार करती हैं बड़ी आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं। प्रत्येक मांगलीक कार्य में अगाड़ी रक्खी जाती हैं। उस समय मानो अपनी विधवा बहिनों को कुशील का उपदेश ही यह समाजके सरपंच दिलाते हैं। विधवायें रण्डियों के आदर और स्वतंत्र विचरण को देख कर अपनी पराश्रित दीन हीन दशा को बुरी समझती हैं और

उन जैसा बनने में ही अपना कल्याण समझने लगते हों, तो कोई आश्चर्य नहीं ! यहां नहीं अपनी बहू-बेटियों को भी उनका नाच दिखाकर उन जैसी निर्लज्जता का पाठ पढ़ाया जाता है। फिर यह शुभ पाठ कहीं हमारे कुल में से उठ न जाये मानो इस भय से ही छोटे २ बच्चों को महफिलों में अगाड़ी बैठा कर और रुपया दिलवाकर उसको हृदयङ्गम करा दिया जाता है कि वह फिर भुलाये नहीं भूलता। परिणाम इसका यह होता है कि हमारी बहू-बेटियां और लड़के भी व्यभिचार की दलदल में फंसते नहीं हिचकते। जब पतिदेव को वेश्या में अनुरक्त देखा जाता है तो अज्ञान अशिक्षित भोली पत्नियां भी पर पुरुषरत होते लज्जा नहीं करतीं। तिसपर अनमेल विवाह के कारण भी दाम्पत्य प्रेम का नाश होता है और व्यभिचार का संचार होता है। अनमेल विवाह का कारण बहुधा जातियों का संकुचित विवाह क्षेत्र होता है। इस-लिए इन अनर्थों के रोकने के लिए और जातीय स्वास्थ्य को बढ़ाने के लिए पुरातन आर्षमार्ग का अनुसरण करना लाज़मी है। विवाह क्षेत्र अपने २ वर्ण में बढ़ा लेना आवश्यक है और ब्रह्मचर्यव्रत के महत्व को समझ कर पहिले बालक-बालिकाओं को ज्ञानदान देना आवश्यक है। जब पढ़ लिख कर वे पूर्ण ज्ञानवान बन जावें और युवा अवस्था के निकट पहुंच जावें तब उनकी शादी योग्य घरों के साथ करना श्रेष्ठ है। दाम्पत्यप्रेम के बढ़ाव के लिये उत्तम तो यह है कि वर-कन्या को परस्पर सखा-सम्बन्धियों को संगति में रखकर विवाह के पहिले एक दूसरे के स्वभाव का परिचय प्राप्त करने का अव-सर दे दिया जाया करे। तथापि वृद्ध और अनमेल विवाह कभी न किये जाया करें। वृद्ध पुरुषों को अपने आत्मकल्याण के लिए

ब्रह्मचर्य व्रत के अभ्यास करने का मार्ग ग्रहण करना उत्तम है। इस अवस्था में उन्हें समाज के उपकार कार्यों में भाग लेना शोभनीय है। साथ ही वेश्यासेवन और वेश्यानृत्यादि घृणित दुराचार पोषक प्रथाओं का अन्त कर देने से समाज का वातावरण स्वच्छ होजायगा और विधवाओं की सृष्टि भी अधिक नहीं होगी। इस लिए समाजहित के नाते अपनी ही भलाई के लिए ब्रह्मचर्यव्रत-स्वदार संतोषव्रत-का नियम प्रत्येक प्राणी को करना लाज़मी है। इसके पालन से जीवन सुखमय व्यतीत होंगे इसमें कोई संशय नहीं है। और जो बहुत से मनुष्य अकाल काल कवलित होते हैं वह दीर्घकाल तक जीवित रहेंगे। समाज में प्रचलित सर्व अनर्थ उठ जावें। दूसरे को न देख कर हमें स्वयं इसका नियम लेना उचित है और परम महिमा और सुख को प्राप्त होना श्रेयस्कर है। क्यों कि इसके पालन से—

'अग्नि नीर सम होय, माल सम होय भुजंगम।
नाहर मृग सम होय, कुटिल गज होय तुरंगम॥
विष पियूस सम होय, शिखर पाषान खण्डयिनु।
विघन उलट आनन्द, होय रिपु पलट होय हितु॥
लीलातलाब सम उदधिजल गृहसमान अटवी विकट।
इह विधि अनेक दुख होहिं सुख, शीलवंत नरके निकट॥"

—:—

(१३)

"अपरिग्रह-व्रत-व्याख्या ।
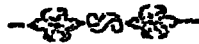
"आवश्यक धनधान्यादि का, अपने मन में कर परिमाण ।
उससे आगे नहीं चाहना, सो है व्रत इच्छा परिमाण ॥
अतिवाहन, अति संग्रह, विस्मय, लोभ लादना अतिशय भार ।
इन व्रत के बोले जाते हैं, मित्रों ये पांचों अतिचार ॥"

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार हिन्दी ।

संसार में रुलता हुआ प्राणी तृष्णा के वशीभूत हो अनेकों कष्ट उठाता है। इच्छा-डायन के हाथ का कठपुतला बनकर वह नाना दुर्गतियों में दुःख उठाता हुआ चक्कर लगाता है। इस का खासा दिग्दर्शन हम प्रारम्भ में ही कर आए हैं। इस अतितृष्णा के दारुण परिणाम को ही मानों देखकर आचार्य ने अपरिग्रहव्रत का साधन मुमुक्षु जनों के लिए बताया है। परिग्रहबाह्य और अभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का बतलाया गया है। धन, सम्पत्ति, गृह, वाहन, घोड़ा, सवारी आदि जितनी सांसारिक भोग और उपभोग की सामिग्री है, वह सब बाह्य परिग्रह है। और क्रोध, मान, माया, लोभ, अति तृष्णा, अति वांछा आदि मानसिक विकार हैं वह आभ्यन्तर परिग्रह हैं। यह दोनों प्रकार का परिग्रह आत्मा को अहितकर है। संसार के भोगोपभोग की वस्तुयें अन्ततः आत्मा के संसार-परिभ्रमण को बढ़ानेवाली हैं; उसी तरह क्रोध, मान, तृष्णा आदि आभ्यन्तरिक परिग्रह भी सांसारिक दुर्गतियोंका कारण हैं। इसी,

लिए जो मुमुक्षु जन हैं-जिनका संसारविच्छेद निकट है-वे दोनों का पूर्ण त्याग करके दिगम्बर-प्राकृतिक-भेष में अपनी आत्मनिधि में ही परमानन्द को प्राप्त होते हैं। परन्तु जिनका ममत्व अभी संसार से शमन नहीं हुआ है-जो अभी भी संसार में ही रहना पसन्द कर रहे हैं किन्तु अपनी आत्मा को दुःखों के विकट पहाड़ों से बचाना चाहते हैं वह इन दोनों परिग्रहों का यथाशक्ति त्याग करते हैं।

सांसारिक प्रलोभन इतने मनमोहक और चित्ताकर्षक होते हैं कि मनुष्य सहसा अपने को उन से अलग नहीं कर सकता। जिन भोगों को उसने करोड़ों बार भोगा है उन्हीं की लालसा में मुँह बाए बैठा रहता है। जिन वाञ्छाओं की तृप्ति वह हज़ारों दफ़े कर चुका है उन्हीं वाञ्छाओं की आकांक्षा वह पुनः करता है। जिस अतुलधन का वह अनेकों बार मालिक बन चुका है उसको इकठ्ठा करने में वह दिन रात कुछ भी नहीं देखता है। पागल कुत्ते की तरह वह सांसारिक वासना-ओं और लालसाओं की ओर तृष्णाभरे नेत्रों से दौड़ता है परन्तु कभी भी तृप्त नहीं होता। कभी भी उसकी वाञ्छा और वासना शमन नहीं होती। भभकती अग्नि पर ज्यों जितना घी डाला जाय उतनी ही वह अधिक धधकती है, त्योंहीं मनुष्य में यह सांसारिक तृष्णा की धधकतीज्वाला है। भोग और उप भोग का सामिग्री रूपी घी इसको कितना हीं अर्पण किया जाय परन्तु यह शान्त नहीं हो सकती। हर तरफ, हर ओर और हरसू से मनुष्य हृदय में नई नई उमंगे-नई नई इच्छाएं उत्पन्न होती ही चली जाती हैं। मनुष्य महाशय सतृष्णाकण्ठ से मदमस्त कह ही तो बैठते हैं कि:—

"हजारों हसरतें ऐसी कि हर हसरत पै दम निकले।
बहुत निकले मेरे अरमां लेकिन फिर भी कम निकले॥"

इस तरह मनुष्य की सांसारिक वस्तुओं की तृष्णा एक तरह का वड़वानल है। उस में चाहे कुछ भरते चले जाइए कभी भरेगी ही नहीं। उल्टे और कुछ अधिक पाने की हाय हाय करते नज़र आयगी। इसका बांध कभी टूटेगा नहीं। मनुष्य महाशय इस तृष्णा अग्नि में बेसुध जलते नहीं हिचकता। अनेकों महाशय इस की लप ज्वाला में जीवन नष्ट करके चले जाते हैं। समुद्र में गिरी हुई राई जिस तरह मिलगई हो उस तरह यह मनुष्यभव प्राप्त हुआ है। किन्तु दुःख है कि यह भी वृथा अकारथ ही बहुधा गँवा दिया जाता है। इसी बात को लक्ष्य करके कि गृहस्थ जन अपने जीवन का वास्तविक उपयोग कर सकें, दृथाई महापुरुषों ने एक नियमित बांधही हमारी तृष्णा पर लगादी है। उन्होंने कहा है कि:—

"मूर्च्छा परिग्रहः॥ १७॥ ७॥" (तत्वार्थसूत्र जी)

अर्थात्—मूर्छा ही परिग्रह है। संसार के चेतन और अचेतन पदार्थों में प्रमत्त योग के वशीभूत हो निमग्न हो जाना ही परिग्रह है। सांसारिक पदार्थ ही आभ्यन्तरिक ममत्व के कारण हैं, इसलिए वे ही परिग्रह हैं। उन में ही मग्न हो जाना—उन्हीं के ध्यान की धूनी रमाना परिग्रह में ग्रस्त होना है। सांसारिक भोगोपभोग की सामिग्री कुछ भी न हो, पर उसकी वाञ्छा ही अधिक हो तो वहां भी अति परिग्रह है। इस परिग्रह को नियमित रखना ही अपरिग्रह अथवा परिग्रह परिमाणव्रत है। यही बात रत्नकरण्डश्रावकाचार में कही गई है:—

"धनधान्यादि ग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निस्पृहता।
परिमित परिग्रहः स्यादिच्छा परिमाण नामापि ॥ ६१ ॥"

अर्थ—"धन धान्यादि ग्रन्थों का प्रमाण करके उस से अधिक में अपनी इच्छा को रोकना उसको परिमित परिग्रह अथवा इच्छा परिमाण नाम पांचवां अणुव्रत कहते हैं।" इस का पालन करना साधु जनों ने आत्महित के लिये आवश्यक बताया है।

यह परिग्रह शास्त्रों में दश प्रकार का बताया गया है:—

"१ क्षेत्र—धान्योत्पत्तिस्थानं-धान्य के पैदा होने की जगह।

"२ वास्तु—गृहहट्टऽपवरादिकं-घर, दुकान, कोठी, व धान्य भरने की जगह।

"३ हिरण्यं—रूप्य ताम्रादि घटित द्रव्य व्यवहार प्रवर्तित-चांदी, तांबे, सोने, आदि के बने हुए सिक्के जिनका व्यवहार होता है।

"४ सुवर्ण—कनक-सोना।

"५ धन—गो महिषीगजवाजि वड़वोऽष्ट्राऽजादिकं-गाय, भैंस, हाथी, घोड़े, ऊँट बकरे आदि।

"६ धान्य—अष्टादशभेदं-अनाज १८ प्रकार है:-(१) गोधूम [गेहूं] (२) शालि [चांवल], (३) यव, (४) सर्षप [सरसों], (५) माष [उरद], (६) मुद्ग [मूंग] (७) श्यामाक, (८) कंगु (९) तिल, (१०) कोद्रव, (११) राजमाषा, (१२) कीनाश, (१३) वाल, (१४) मथवैणव, (१५) माढ़कीच, (१६) सिंबा, (१७) कुलथ, (१८) चण-कादि सुबीज धान।

"७ दासी—अोसेविकार्य।

"८ दास—पुरुष सेवक।

"हजारों हसरतें ऐसी कि हर हसरत पै दम निकले।
बहुत निकले मेरे अरमां लेकिन फिर भी कम निकले॥"

इस तरह मनुष्य की सांसारिक वस्तुओं की तृष्णा एक तरह का वड़वानल है। उस में चाहे कुछ भरते चले आइए कभी भरेगा ही नहीं। उल्टे और कुछ अधिक पाने की हाय हाय करते नज़र आयगी। इसका बांध कभी टूटेगा नहीं। मनुष्य महाशय इस तृष्णा अग्नि में बेसुध जलते नहीं हिचकता। अनेकों महाशय इस की तप्त ज्वाला में जीवन नष्ट करके चले जाते हैं। समुद्र में गिरी हुई राई जिस तरह मिलगई हो उस तरह यह मनुष्यभव प्राप्त हुआ है। किन्तु दुःख है कि यह भी वृथा अकारथ ही बहुधा गँवा दिया जाता है। इसी बात को लक्ष करके कि गृहस्थ जन अपने जीवन का वास्तविक उपयोग कर सकें, इसीलिये महापुरुषों ने एक नियमित बांधही हमारी तृष्णा पर लगादी है। उन्होंने कहा है कि:—

"मूर्च्छा परिग्रहः॥ १७॥ ७॥" (तत्वार्थसूत्र जी)

अर्थात्—मूर्छा ही परिग्रह है। संसार के चेतन और अचेतन पदार्थों में प्रमत्त योग के वशीभूत हो निमग्न हो जाना ही परिग्रह है। सांसारिक पदार्थ ही आभ्यन्तरिक ममत्व के कारण हैं, इसलिए वे ही परिग्रह हैं। उन में ही मग्न हो जाना—उन्हीं के ध्यान की धूनी रमाना परिग्रह में ग्रस्त होना है। सांसारिक भोगोपभोग की सामिग्री कुछ भी न हो, पर उसकी वाञ्छा ही अधिक हो तो वहां भी अति परिग्रह है। इस परिग्रह को नियमित रखना ही अपरिग्रह अथवा परिग्रह परिमाणव्रत है। यही बात रत्नकरण्डश्रावकाचार में कही गई है:—

"धनधान्यादि ग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निस्पृहता ।
परिमित परिग्रहः स्यादिच्छा परिमाण नामापि ॥ ६१ ॥"

अर्थ—"धन धान्यादि ग्रन्थों का प्रमाण करके उस से अधिक में अपनी इच्छा को रोकना उसको परिमित परिग्रह अथवा इच्छा परिमाण नाम पांचवां अणुव्रत कहते हैं।" इस का पालन करना साधु जनों ने आत्महित के लिये आवश्यक बताया है।

यह परिग्रह शास्त्रों में दश प्रकार का बताया गया है:—

"१ क्षेत्र—धान्योत्पत्तिस्थानं-धान्य के पैदा होने की जगह।

"२ वास्तु—गृहहट्टऽपवरादिकं-घर, दुकान, कोठी, व धान्य भरने की जगह।

"३ हिरण्यं—रूप्य ताम्रादि घटित द्रव्य व्यवहार प्रवर्तित-चांदी, तांबे, सोने, आदि के बने हुए सिक्के जिनका व्यवहार होता है।

"४ सुवर्ण—कनक-सोना।

"५ धन—गो महिषीगजवाजि वडवोऽष्ट्राऽजादिकं-गाय, भैंस, हाथी, घोड़े, ऊँट बकरे आदि।

"६ धान्य—अष्टादशभेदं-अनाज १८ प्रकार है: (१) गोधूम [गेहूं] (२) शालि [चांवल], (३) यव, (४) सर्षप [सरसों], (५) माष [उरद], (६) मुद्ग [मूंग] (७) श्यामाक, (८) कंगु (९) तिल, (१०) कोद्रव, (११) राजमाषा, (१२) कीनाश, (१३) वल्ल, (१४) मकुष्ठ, (१५) माढ़कीच, (१६) सिबा, (१७) कुलथ, (१८) चणकादि सुबीज धान।

"७ दासी—स्त्री सेविकाएं।

"८ दास—पुरुष सेवक।

"६ भांड—गृहस्थी में वर्तने योग्य वर्तन।

"१० कुप्य—वस्त्र नाना प्रकार के।

गृहस्थी को योग्य है कि इन १० प्रकार के परिग्रहों का जन्म भर के लिये प्रमाण कर लेवे। छोटा व बड़ा, राजा व रंक; अपनी २ हैसियत व आवश्यक्ता के अनुसार प्रमाण करे कि अपने पास किसी भी काल इतनी वस्तुओं से अधिक न रक्खूंगा। जैसे प्रमाण करना कि ५ खेत इतने बीघे के व इतना मकान व इतना रुपया व इतना सोना रत्न व इतनी गाय, भैंस घोड़े आदि व इतना अनाज घर में रखने योग्य (जैसे एक एक मास के खर्च से अधिक नहीं) व इतनी दासी व दास व इतनी गिन्ती के व इतने तोल के वर्तन व इतने पहनने के कपड़े। एक कुटुम्बी जब कई मनुष्यों के साथ रहता है और उसी का पूरा अधिकार है तब वह कुटुम्ब भर की वस्तुओं का आप प्रमाण करता है; फिर उस से अधिक कुटुम्ब में नहीं आने देता। यदि कुटुम्ब में भाई व पुत्र ऐसे हैं कि जो अपनी इच्छा के अनुसार प्रवर्तते नहीं हैं और शामिल रहते हैं तो उनसे सलाह करके प्रमाण करे। यदि परस्पर सम्मति न हो सके तब अपनी इच्छानुसार प्रमाण करे। और यह विचार ले कि जब इतना धन आदि परिग्रह हो जायगा तब यह भाई पुत्र और अधिक बढ़ाने की इच्छा करेंगे तो मैं अपने सम्बन्धी खास परिग्रह को जुदा कर लूंगा और शेष से ममत्व त्याग दूंगा। अथवा यों भी प्रमाण कर सकता है कि मैं अपने खास काम में इतनी २ परिग्रह को ही रोकूंगा ऐसा प्रमाण करने से शेष उसका ममत्व भी न रहेगा और न वह उनका प्रबन्ध कर अपने काम में ले सकता है। ऐसी हालत में संतोष वृत्ति

रखने को अपने हक़को परिग्रह को जुदो ही कर लेनी मुनासिब है।

यह व्रत अधिक तृष्णा व लोभ के त्याग के लिये किया जाता है। ताकि ऐसा न हो कि तृष्णा के पीछे धन के बढ़ाने में ही अपना जन्म बिता देवे और संतोष करके कभी पारमार्थिक सुख के भोग का विशेष उद्यम न करे। इस व्रत का यह मतलब भी नहीं है कि किसी जीव को निरुद्यमी किया जावे। यहां यह प्रयोजन है कि जहां तक उसकी इच्छा रुके वहां तक प्रमाण कर ले, आगे को तृष्णा न करे। बिना संतोष के जीव को साता नहीं आती। जो केवल अप्रमाण धन बढ़ाते ही जाते हैं और कभी संतोष नहीं करते उनको जीवन भर में सुख नहीं होता; वरन् वे अन्तकाल मरण के समय अत्यन्त तृष्णा से मर पशु व नरक गति के भागी होते हैं। उन्हें संकट की मृत्यु मरना पड़ती है, न कि शान्ति की। * महमूद गज़नवी की यही दशा हुई थी। करोड़ों प्राणियों के दिल को दुखा कर–उनकी सम्पत्ति को हर कर और हज़ारों के प्राणों को नाश करके उसने कितने ही भंडार गज़नी में इस लूट के धन से भरे। मरते मरते वक्त तक उसको धन की लालसा से छुट्टी न मिली, परन्तु मृत्युशय्या पर उसको भी पछताना पड़ा। रोकर अपने कृत पापों का बखान करना पड़ा। तब भी तृष्णा की हविस ने न छोड़ा और मरते वक्त भी एक नज़र अपने लूट के धन पर उसने डाल ही ली! किन्तु खेद वह उसको साथ न ले जा सका, वृथा ही तृष्णा से अशान्ति में प्राणों को गंवाया। इसलिए परिग्रह का परिमाण करना हितकर है। अगाड़ी इस व्रत का

---

*गृहस्थधर्म पृष्ट ११०-११२

निर्दोष पालन करने के लिए आचार्यों ने निम्न के पांच अती-चारों से विलग रहना भी आवश्यक बतलाया है:-

क्षेत्र वास्तुहिरण्य सुवर्ण धन धान्यदासी दास कुप्य प्रमाणातिक्रमा:"

भावार्थः-"इन १० प्रकार के परिग्रह में दोदो का एक जोड़ करके परस्पर एकके प्रमाण को घटाकर दूसरा बढ़ा लेना सो अतीचार है। जैसे क्षेत्रथा १० बीघा और मकान थे ४. अब जरूरत देखकर १ बीघा क्षेत्र कम करके मकान को बढ़ाले व क्षेत्रकी पैदावार ज्यादा जान के एक मकान तुड़वा के क्षेत्र में जमीन मिलादे। अथवा रुपया१0000 रक्खा, सोना १०० तोला रक्खाऔर तब सोनेका भाव घटता देखकर रुपयोंसे सोना खरी-द कर बढ़ा लेवे व सोनेका भाव बढ़ा जानकर सोना बेचकर रुपये बढ़ाले अथवा गायभैंसादि में कमी करके बदले में धान्य विशेष जमा करले कि फिर मँहगा हो जायगा अथवा धान्यके स्थान में एक व दो गाय भैंस बढ़ाले व गायका बच्चा हुआ उसको न गिने व कुप्यभांड में कपड़ों को बेचकर बर्तन बढ़ालेना व बर्तनों की संख्या कम कर कपड़ों की संख्या बढ़ा लेना-इसतरह यह पांच अतीचार हैं।" (गृहस्थधर्म पृ० ११४)

अतएव व्रती गृहस्थके लिए आवश्यक है कि अपने परि-णामों की उज्ज्वलता के लिए इस व्रतको निर्दोष पालन करता हुआ अपनी आत्मोन्नति में पद पद बढ़ता जावे। आत्मोन्नति के द्वारा ही उसे उस सुख की प्राप्ति होगी जिसकी लालसा में वह भटक रहा है। परिग्रह परिमाण व्रत इस उन्नति में पूर्ण सहायक है, यही नहीं श्री अमितगति आचार्य तो कहते हैं कि:—

संतोषाश्लिष्ट चित्तस्य यत्सुखं शाश्वतं शुभम्।
पुनस्तृष्णागृहीतस्य तस्यलेशोऽपि विद्यते ॥ ७८६ ॥
यावत्परिग्रहं गृह्णाति तावद्धिंसोप जायते।
विज्ञायेति विधातव्यं सङ्गः परिमितो बुधैः ॥ ७६० ॥

अर्थात्-संतोष से भीगे हुए चित्तको जो शुभ और अविनाशी सुख प्राप्त होता है उसका लेशमात्र भी सुख तृष्णा से जकड़े हुए जीवको कहां से होसक्ता है? जब तक परिग्रह को रक्खेगा तबतक हिंसा उत्पन्न होगी ऐसा जानकर बुद्धिवानों को परिग्रह का परिमाण करना योग्य है।

अन्य धर्मों में भी यद्यपि उक्त विशेषता के साथ नहीं परन्तु साधारण रीति में परिग्रह परिमाणव्रतको स्वीकार किया गया है। हिन्दू धर्म में भी इसका महत्व स्वीकृत है। महाभारत में कहा गया है कि "पृथ्वीतल पर जितना धान और गेहूं और सोना और पशु और स्त्रियें हैं, वह सबके सब एक मनुष्य के लिये भी काफी नहीं हैं। यह विचार करके व्यक्ति को संतोष धारण करना चाहिए।" (Drona 63.11) पंचतंत्रमें भी लिखा है कि 'एक व्यक्ति को अपनी स्त्री, अपने भोजन और अपनी सम्पत्ति में पूर्णतः संतोषित होना चाहिए। हां, तपश्चरण और ज्ञानोपार्जन में वह चाहे जितना प्रयत्न शील होओ तो हानि नहीं है।' प्रो० मगनलाल एम० बूच अपनी "The Principles of Hindu Ethics" नामक पुस्तक में लिखते हैं कि "संसार की विनाशीक सम्पदाओं की इच्छा ही सर्व दुःखोंकी जड़ हैं; इस लिए मनुष्य की लालसा इन सांसारिक वस्तुओं से हटकर आत्मा की शाश्वत निधिमें लगना चाहिए। और इसलिए अपने शरीर

का ममत्व ज्ञानसे शमन करना चाहिये। कमल-पुष्पकी तरह जो पानीसे सदा अलिप्त है, उन व्यक्तियों की आत्माएँ जो विनाशीक और शाश्वत वस्तुओं के भेदको जानते हैं, कभी भी मोह से चलायमान नहीं होतीं। जो मनुष्य ममत्वसे प्रभावित होता है और मनोगत इच्छा के आधीन होता है उसकी तृष्णा संसार सम्पदा के लिये बढ़ती है। सचमच यह तृष्णा पाप-पूर्ण है और सब क्लेशों की कारण मानी गई है।' (Vana 2 45--50)" विष्णुपुराण में भी कहागया है कि 'कुल, धन और प्रतिष्ठा सबमें आनन्द और क्लेश दोनों हैं। संसार में कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसको हम बतलासकें कि सच्चा आनन्द है। बस वह केवल आनन्दमय है जो कालविशेष के लिए जिस अवस्थामें है उसमें संतोषित है।' ‡ हितोपदेश में भी लिखा है कि 'वह मनुष्य जो धनका लालची है, जिसकी आत्मा और इन्द्रियां उसके आधीन नहीं हैं वह असंतोषी है। जिसका मन संतोषित नहीं है, उसको सब आपदाएं आकर घेरती हैं। ❀ इसलिए अपने मनको स्वाधीन करके तृष्णा का नियम करना ही श्रेष्ठ है। दूसरे शब्दों में संतोष धारण करना हिंदू धर्म में भी उत्तम बताया गया है।

इस्लाम में भी परिग्रह की तृष्णा को नियमित रखने का उपदेश है। कुरानशरीफ में लिखा है कि "तू जान, कि इस दुनियां का जीवन एक तमाशा है-एक खेल है-या एक नुमाइश है और तुम्हारे लिए एक झूठी शान की धाइस है। और धन सम्पति-और सन्तान को बढ़ाना वैसा ही है जैसा मेंह के बाद पौदों का उग निकलना। कृषक उनको देख कर खुश होता है;

‡ Us ful Instructions vol. I p.223
❀ Ibid 225

व वे मुरझा जाते हैं, और तू, उन्हें बिल्कुल पीला देखता है; तब वे ठंठ (Stubble) होजाते हैं।" (L : II) 'लेकिन तू इस वर्तमान के जीवन को पसन्द करता है, यद्यपि आने वाला जीवन उत्तम और अधिक स्थिर रहने वाला है।" दूसरे शब्दों में सांसारिक वस्तुओं में अधिक मोह नहीं करना चाहिए—आत्मोन्नति के मार्ग में लगना चाहिए, यही इनका भाव है जो इस मार्ग में नहीं लगा है उसको पश्चाताप करना पड़ता है। वह कहता है; "सचमुच मैंने अपने परमात्मा के स्मरण से भी अधिक सांसारिक वस्तुओं के स्नेह से प्रेम किया है, जब तक कि सूर्य अन्धकार के पर्दे से ढका हुआ था।" XXXVIII. Ibid 43 अर्थात् जब तक आत्मा अज्ञान में ग्रसित होती है तब तक वह सांसारिक वस्तुओं से प्रेम करती है। जहां ज्ञान-नेत्र उसके खुले कि वह 'अपने परमात्मा' से प्रेम करने लगता है। आत्मिक गुण संतोष, संयम आदि उसमें सहज में उत्पन्न हो जाते हैं। शेख शादी भी गुलिस्तां में यही फरमाते हैं कि 'हे संतोष! मुझे सुखी बना; क्योंकि तुझ से बढ़ कर कोई सम्पत्ति नहीं है।' इस तरह इच्छाओं का परिमित रखने का विधान इस्लाम धर्म में भी है।

ईसाइयों के यहां भी परिग्रह परिमाण को आवश्यक बतलाया गया है। सतृष्ण हो सांसारिक वस्तुओं के पीछे पड़ना बुरा बतलाया गया है। एक सच्चे उपासक की प्रार्थनामें कहा गया है कि:—

"अन्धे और मत्त संसारी ही इस जीवन की झूठी क्षिनश्वर और नष्ट होती हुई खुशी में फूल जाते हैं, परन्तु मेरे लिए विहिश्त और पृथ्वी पर सिवा तेरे कोई संतोषित

नहीं कर सका।" * दूसरे शब्दों में इसका भाव यही है कि सांसारिक वस्तुएँ हमारे लिए सुख का कारण नहीं हैं। सुख तो परमात्मशरण में प्राप्त होने में ही है। इस लिए संसार की संपदा के पीछे सतृष्ण हो भागना भी वृथा है। ऐसे लोगों के लिए शोक प्रदर्शित किया गया है, यथाः—

'उनके प्रति शोक है जो विनाशीक के पीछे दौड़ते हैं, क्योंकि उन चीज़ों के साथ ही वह भी नष्ट हो जावेंगे।" (St. Augustine) इसी लिए प्रत्येक ईसाई को सांसारिक तृष्णासे बचने के लिए प्रार्थना करना आवश्यक बताई है। * क्योंकि संसार के भोग-पदार्थों में निमग्न होने से आत्मा का अहित होता है। आत्मा मुक्ति के मार्ग से परे हटती है। इस को ही लक्ष्य करके कहा गया है कि 'जहां मुक्ति की हानि है वहां वस्तुतः कोई लाभ नहीं हो सका।' धनवान को हेय दृष्टि से ही देखा गया है और जो धर्म की ही तृष्णा में रहते हैं वे धन्य बतलाये गये हैं। भाव यही है कि धर्म की तृष्णा उस तृष्णा से श्रेष्ठ है जो सांसारिक चीज़ों के लिए होती है। इसी लिए ईसाई कवि कहता है कि 'थोड़े में ही जो अमीर है वही ठीक है। प्रकृति स्वयं मितव्ययी है और उसको आवश्यकताएँ कम हैं। अस्तु जो थोड़ी आवश्यकताएँ रखते हैं वे सच्चे भाव उत्पन्न करते हैं परन्तु बुद्धि हीन हो नित नई वाञ्छाएं उत्पन्न करता है।'

इस तरह ईसाइयों के लिए भी सांसारिक पदार्थों में विशेष ममत्व न रख कर उनका नियमित उपभोग करने का ही विधान है।

---

* The Catholic Piety p. 177, 354

पारसियों के यहां भी परिग्रह-परिमाण को मुख्य कहा गया है। संतोषी की विशेष महिमा गाई गई है। सरल और संतोषमय जीवन में ही सुख और आनन्द बताया गया है। और उन वस्तुओं के लिए जो न मिल सकी हों, शोक करने की मनाई है। तृष्णा के नाश के लिए संतोष को ग्रहण करना बताया गया है। उन के 'मैन्यो-इ-खर्द' नामक ग्रन्थ में उसीको धनवान बतलाया है जो अपनी अवस्था में संतोषित है और अधिक वाञ्छा नहीं करता और ग़रीब उस अमीर को बतलाया है जो प्राप्त धनसे संतोषित नहीं है, बल्कि हर किसी वस्तु को पाने की तृष्णा रखता है। इसलिए पारसियों की दृष्टि में भी तृष्णा को नियमित करना उचित है।

बौद्धों के यहां भी इसका निरोध करना आवश्यक बतलाया है। बुद्ध कहते हैं कि 'वाञ्छाओं से शोक की उत्पत्ति होती है और इच्छाओं से भय जन्मता है। जो इच्छा और वाञ्छाओं से परे है वह शोक और भयको जानता ही नहीं।' (Ibid vol. III p. 372) इसी लिए यह विषयवासना की तृष्णा को दुख का घर बतलाते हैं। कहते हैं कि "सांसारिक विषयभोग की तृष्णा ऐसी प्रबल है जो मनुष्य के जीवन में स्वार्थ के रूप में बारम्बार प्रकट होती है। इस प्रकार से वे संसार चक्र में मारे २ फिरते हैं और अपने किए हुए कर्मों के दुःखरूपी नर्क से नहीं निकल सकते। उनके सुख निःसार हैं और उनके दुःख निवृत्ति के उपाय निरर्थक हैं।" (भ० बुद्धदेव पृष्ठ ४१)। इस दुःखपाश से छूटने के लिए सांसारिक सम्पत्तिकी तृष्णा को नियमित रखना आवश्यक बतलाया है। सांसारिक सम्पत्ति विवेकी पुरुष की हानि नहीं कर सकती-उसी

बुद्धि हीन को वह दुःख का कारण है जो उसकी प्राप्ति में अलिप्त नेत्रों से मोहित होता है।

बुद्ध कहते हैं कि "संसार के विषय में उच्च विचारों को छोड़ो और धर्म को ग्रहण करो। सुगन्धितपुष्प और आभूषण धर्म के सौन्दर्य से नहीं तोले जासकते।" मानवों की तृष्णा का मुकाबला वह किसी घर में लगीहुई आग से करते हैं और इस तृष्णारूपी आग को उस आग से अधिकभयावह बतलाते हैं। (Ibid 263) इसलिए उसको नष्ट करना ही श्रेष्ठ है। जो एक दम नष्ट नहीं कर सकते उन्हें उसे नियमितरूप से अपने आधीन रखना उचित है।

चीन का प्राचीनधर्म 'ताउइज़्म' (Taoism) भी बतलाता है कि 'इच्छा को बेलगाम छोड़ने से बढ़कर कोई पाप नहीं है। असन्तोष से बढ़कर कोई दुःख नहीं है। लाभ के लालच से बढ़कर कोई क्लेश नहीं है।"

एक आधुनिक तत्ववेत्ता भी कहते हैं कि:—

'सन्तोष वह कर्तव्य है जिसकी पूर्ति हमें खुद अपने लिए करनी है; इस के बिना हम सुखी रह ही नहीं सकते हैं। एक अन्य विद्वान् कहते हैं कि "सन्तोष के अर्थ यह नहीं हैं कि इच्छाओं को नष्ट किया जाय, प्रत्युत उन इच्छाओं को मनुष्य के वास्तविक उद्देश्यों के प्रति केन्द्रीभूत करने के शिलारूप हैं। यह एक केमियायी प्रयोग है कि जिसके बल आभ्यन्तरिक अशुद्ध सोना सच्चे सोने रूप में परिवर्तित किया जाता है।" सचमुच इच्छानिरोध अथवा परिग्रह परिमाण का यही भाव है। उसके अभ्यास से मनुष्य आत्मोन्नति में विशेष आगे बढ़ जाता है। यूनान के प्रख्यात् तत्ववेत्ता सुकरात यही बतलाते हैं। वह कहते हैं कि जितनी वाञ्छाएं

कम हैं उतने ही हम परमात्मा के निकट हैं। ऐसे परमात्मा से मिलाप करानेवाले व्रत का अभ्यास कौन नहीं करेगा? वह ही नहीं करेगा जो पाप से भय नहीं करता है; क्योंकि परिग्रह को पोट बांधने से अनेक अनर्थ होते हैं; यथाः—

"अन्तर मलिन होय निज जीवन, विनसै धर्मसरोवर मूल।
किलसै दयानीति नलिनीवन, धरै लोभ सागर तमशूल॥
टूटै पाद मरजाद मिटै सब, सुजन हँस नहिं पावहिं कूल।
बढ़त पूर पूरै दुःख संकट, यह परिग्रह सरितासम तूल॥"

—❖—

(१४)

उपसंहार.

"संयोगतो दुःखमनेकभेदं,
यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो,
यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम्॥"
—अमितगतिआचार्य

इतने पृष्ठों के पढ़लेने के उपरान्त पाठक इस बात को स्वीकार करने में तनिकभी हिचकिचाहट नहीं करेंगे कि स्वयं अपने कृतकर्मों के कारण यह जीव इस संसार में शरीररूपी कैदखाने में बन्द हो अनेक कष्ट सहन कर रहा है। अपने सुख दुःखका कर्ता भोक्ता वह खुद है। न कोई उसको कुछ देता है और न लेता है न उसके दुःखसुख में भागी होना है। वह स्वय

भ्रमबुद्धि में पड़ा हुआ पर वस्तुओं को अपनाता है! संसार के क्षणिक पदार्थों में जी लगाता है। शहद में लपेटी हुई तलवार की तरह इन सांसारिक भोगोपभोग के पदार्थों को एकलख्त चख तो जाता है, परन्तु उनके कटु परिणाम के समय पछताता है; भयभीत होता है। उस समय इसे कहीं भी साहाय्य नहीं सूझता है। सचमुच इस जीव की रक्षा सिवाय इसके और कोई करही कैसे सक्ता है? यही खुद राव है-यही खुद रङ्क है। यही खुद सुख है-यही खुद दुख है! म० बुद्ध इसी अर्हंत भाव की तानमें गाते हैं कि:—

'आत्मा ही आत्मा का स्वामी है-प्रभू है; और कौन प्रभू हो सकता है? आत्माको स्वाधीन करने से उस स्वामी पर विजय मिलती है, जिसको पाना अति कठिन है, वास्तव में बात भी यहीहै। संसारमें आत्माही स्वयं स्वाधीन सत्ता है। वह अपने ही कृत्यों द्वारा ऊँच और नीच होती है। कुरान में भी कहा गया है कि "सचमुच, परमात्मा मनुष्यों के प्रति गल्ती किसी कार्य में नही करता, परन्तु मनुष्य खुद गलती करता है।" (x) "मनुष्य जो बुराई करते हैं वह भी अपने लिए और भलाई करते हैं वह भी अपने लिए।" पारसी-धर्म के संस्थापक जरदस्त का भी यही मत है कि "मनुष्य भलाई और बुराई को अपनाने में स्वतंत्र है। कोई ऐसी आव-श्यकता नहीं है जो कोई पहिले से उनका मार्ग नियत करदे।" आत्मा ही शाश्वत सत्ता है। महाभारत में भी कहागया है कि "काठ की मशीन की तरह मनुष्य किसी के हाथ का काठ पुतला नहीं है।" (उद्योग० १५६) इसी लिए बाइबिल में कहागया है कि:—

'परमात्मा का साम्राज्य तुम्हारे ही अन्तरात्मा में है।

इसलिए तुम शांति प्राप्त करने के प्रयत्न करो। परन्तु इस यथार्थ सत्य का नियमित वैज्ञानिक विवेचन जैनाचार्यों की ही सदकृतियों में देखने को मिलता है। इस व्याख्या में कोई अतिशयोक्ति अथवा पक्षपात नहीं है। प्रत्युत सत्य का आख्यान है। कोई भी सत्यखोजी इस की यथार्थता जैन शास्त्रों का अध्ययन करके प्राप्त कर सकता है। इन आर्ष शास्त्रों में न पूर्वापर विरोध है, न पक्षपात है और न द्वेष है, केवल वस्तु स्वरूप का निरूपण है। इसलिए संसार दुःख से छूटने के लिये यथार्थ 'सत्यमार्ग' का पूर्ण दिग्दर्शन वहीं से प्राप्त करना चाहिए। जैनशास्त्रों में यह मोक्ष-मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग् चारित्ररूप बतलाया गया है। यथार्थ में आत्मा के यथार्थरूप का श्रद्धान उसका पूर्ण ज्ञान और अनुभव ही क्रमशः सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। परन्तु पर्यायार्थिक दृष्टि से जैनधर्म में वर्णित तत्वों का श्रद्धान और ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान है। और जैनशास्त्रों में वर्णित नियमों और व्रतों का पालन करना सम्यक् चारित्र है। इस तरह मूल में आत्मा ही स्वयं मोक्षमार्ग है। और अपना आप गुरू है। श्री पूज्यपाद स्वामी यही कहते हैं:-

'स्वस्मिन्सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः ।
स्वयं हित प्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥ ३४ ॥'

भावार्थ-क्योंकि आत्मा को ही परमोच्चपद को प्राप्त करने की स्वयं निजी आन्तरिक इच्छा है, और वह स्वयं ही उसके रूप को समझे हुए है तथापि उसकी प्राप्ति के लिए वह स्वयं ही उद्यमशील होती है। इस लिए आत्मा स्वयं अपने आपही अपना गुरु है। परन्तु अगाड़ी आप संसार प्रलोभनों की परिस्थिति को जानकर ही मानों कह रहे हैं कि:-

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति ।

निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ ३५ ॥

भावार्थ-जो आत्माएँ अभी तक वस्तुस्वरूप को-तत्व को-जानने के योग्य नहीं हुई हैं वे वस्तु स्वरूप तत्व की जानकार नहीं हो सकतीं। वस्तुस्वरूप का जानकार इससे अनभिज्ञ नहीं रह सकता। बाह्यगुरु आत्मा का हित उसी प्रकार कर सकते हैं जिस प्रकार धर्म द्रव्य! इस तरह मूल में तो आत्मा अपने ही पुरुषार्थ से 'सत्य-मार्ग' में उन्नति कर सकता है; परन्तु विशेष उन्नत पद पर पहुँचने के लिये बाह्य गुरु भी सहायक हैं। ऐसे ही सच्चे गुरु के दर्शन हम इस पुस्तक के प्रारंभ में कर आए हैं। वैसे ही रागद्वेष रहित सर्वहितैषी निर्ग्रंथ ऋषीश्वर गुरु की चरणसेवा करके संसार सागर में भटकती आत्माएँ सच्चे सुख के सत्यमार्ग को पालेती हैं; जिस प्रकार उन परम वन्दनीय गुरु महाराज के अनुग्रह से हम यहां उस का किञ्चित दर्शन प्राप्त करने में सफल प्रयास हुए हैं। अस्तु जब यथार्थ तत्व का देखने में हम सामर्थ्यवान् होते हैं तब हम सच्चे सुख की ओर बढ़ने लगते हैं। यहाँ आचार्य फिर हमें बतलाते हैं कि:—

'गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरांतरं ।
जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरंतरम् ॥ ३३ ॥'

भावार्थ-वह आत्मा जिसने किसी गुरु की शिक्षा द्वारा, अथवा पदार्थों के स्वभाव पर गंभीर विचार द्वारा या प्रत्यक्ष आन्तरिक आत्मदर्शन द्वारा आत्मा और अनात्मा के भेद को जान लिया है, वह महान आत्मा मोक्षसुख के अनुभव को निरन्तर जानता है। फिर वह कभी भी सांसारिक प्रलोभनों

में फँसने की ग़लती नहीं करता है; क्योंकि वह जानता और मानता है कि :—

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥ ३० ॥

भावार्थ—वारंबार अज्ञान और भ्रम के वशीभूत हो मैंने इन पौद्गलिक शरीरों को धारण और उपभोग कर के छोड़ दिया है; तो भला अब मैं उनकी वाञ्छा क्या करूं। जब मैं सच्ची विवेक बुद्धि को पा चुका हूँ; क्योंकि उच्छिष्ट को ग्रहण करना कोई पसन्द नहीं करता। इस लिए सच्चे सुख की वाञ्छा रखने वालों को 'सत्यमार्ग' के प्रारंभिक नियमों और व्रतों का अभ्यास करना चाहिये; जैसे कि इस पुस्तक में बताए गए हैं। आचार्य भी कहते हैं :—

'वरं व्रतैः पदं दैवं ना व्रतैर्वत नारकं ।
छाया तपस्थयोर्भेदः प्रति पालयतोर्महान् ॥ ३ ॥'

भावार्थः—व्रतों का पालन करने से स्वर्ग-सुख प्राप्त होता है इसलिए उनका पालन करना उचित है। अव्रती जीवन से आत्मा का वास नर्कों में होता है जो दुखपूर्ण है। इसलिये अव्रती अवस्था को त्यागना चाहिए। जब दो पुरुष किसी की प्रतीक्षा में खड़े हों, पर एक धूप में और एक छाया में, तो उनमें जितना अन्तर है उतना ही व्रती और अव्रती की अवस्था में है। परन्तु आत्मा में जब परमपद—शिवधाम को प्राप्त करने की शक्ति मोजूद है तब कौन बुद्धिमान सत्यमार्ग की प्रारंभिक पादुका में ही पड़ा रहकर स्वर्ग सुख से ही तृप्त होगा? क्योंकि स्वर्ग सुख भी तो क्षणिक ही है। इसलिए जो व्रती सच्चे मुमुक्षु हैं वह अपनी आत्म अवस्था को प्राप्त करने ही में सदु-

दूर्ग्रह रखते हैं और सच्चे चरित्र का परम शान्तिमय रस पान करते हैं। वह जानते हैं आत्मा स्वयं स्वतंत्र है-एक है-स्वाधीन है- निर्ममत्व है- आप में आप लीन है-आप ही अपना गुरु है। अपने स्वभाव में लीन होना उसका सच्चा चरित्र है। श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य जी यही दर्शाते हैं:—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।

मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥७॥

भावार्थ-"निश्चय से चारित्र धर्म है। जो समभाव है सोई धर्म या चारित्र कहा गया है वह समता आत्मा का भाव है जिसमें मोह और रागद्वेष न हो।" इस ही सम्यक चारित्र को नित्य पालन करने का उपदेश श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य जी अपने 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' में इस प्रकार देते हैं:—

"विगलितदर्शन मोहैः समंजसज्ञान विदितः।

नित्यमपि निः प्रकम्पैः सम्यक्चारित्र मालम्ब्यकम्॥३७॥"

भावार्थ-"दर्शन मोह को दूर करके व यथार्थ ज्ञान से तत्वार्थों को समझ कर निश्चल होकर नित्य ही सम्यक्चारित्र को पालना चाहिए।" इस ही सम्यक्चारित्र के महत्व को लक्ष कर एक अन्य जैनाचार्य भी कहते हैं कि:-

"सर्वं निराकृत्य विकल्प जालं,

संसार कांतार निपातहेतुं।

विविक्तमात्मा नमवेक्ष्यमाणो,

निलीयसे त्वं परमात्मतत्वे॥"

भावार्थ-'संसार वन में भटकने के कारण सब विकल्प जालों को दूर कर सब से अलग अपनी आत्मा को देखता

हुआ तू परमात्मतत्व में लीन होजा।' म० बुद्ध भी फिर कहते हैं कि "सत्य को ही त्राणदाता समझो। अपने आप के अतिरिक्त किसी को शरण का आसरा मत देखो। (महा परिनिब्बाण सुत्त(S. B. E. XI p. 38) इस तरह हमें स्वयं अपनी रक्षा के लिये प्रयत्नशील होना आवश्यक है। इस परिच्छेद के प्रारम्भ में दिए हुए श्लोक में आचार्य ने यही कहा है कि यह जानते हुए कि यह आत्मा शरीर के संयोग में पड़ी हुई जब विविध प्रकार के दुःख उठाती है तब उनके लिए यह आवश्यक है कि जो अपनी आत्माओं की मुक्ति के अभिलाषी हैं कि चाहे मनसे, वचन से या काय से इस सम्बन्ध का विच्छेद करें।' इसके साथ ही हम यह भी देख चुके हैं कि ससार मोह में पड़ा हुआ प्राणी एक दम इस भ्रमजाल से नहीं निकल सका है। उसके लिए क्रम २ कर अपनी आत्मोन्नति करनी होती है। पर पदार्थों से मोह को हटाना पड़ता है। इस के लिए उसे परमात्म भक्ति में संयम और शौच का यथाशक्ति अभ्यास करना पड़ता है और पांच अणुव्रतों का पालन करते हुए वह सत्य के राजमार्ग पर पहुंच जाता है, जिस पर चल कर वह सत्यधाम मोक्षपुरी में एक दिन अवश्य प्राप्त हो जाता है। गृहस्थ के लिए यही आत्मोन्नति का 'सत्यमार्ग' है। सर्व धर्मों में भी इसका आदर यद्यपि किया गया है, परन्तु वैज्ञानिक और नियमित ढंग के अभाव में उनके अनुयायियों में इसके प्रति घोर भ्रम फैल रहा है। इस लिए सत्यखोजी को सब धर्मों द्वारा तुलनात्मक दृष्टि से प्रतिपादित "सत्यमार्ग" की प्राप्ति इस पुस्तक से करना चाहिए।

वास्तव में पूर्व-प्रकार बताए हुए ढंग से जीवन व्यतीत करने से आत्मा पापपंकज से निकल कर पुण्य की पवित्र

सलिल धारा में स्नान करती है और शुभभावों की उन्नति करके सदाचार में बढ़ जाती है। फिर उन नियमों-पूर्ण व्रतों-को पालन करने के लिए वे उत्सुक हो जाती हैं, जो एक परमोत्कृष्ट पवित्र जीवन बिताने के लिए जैन शास्त्रों में बताए गए हैं और फिर वे सांसारिक वस्तु से ममत्व को हटाता जाता है। जैनाचार्य स्पष्ट कहते हैं:—

"यथा यथा समायति संवित्तौ तत्वमुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ॥ ३७ ॥'

अर्थात्-'प्रभावान आत्मा की प्राप्ति में जितनी २ अधिक उन्नति की जाती है उतना २ इन सांसारिक वस्तुओं से भी मोह हटता जाता है जो सुगमता से मिल सकता हैं।' और फिर:-

''यथा यथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि ।
तथा तथा समायाति तत्वमुत्तमम् ॥ ३८ ॥

भावार्थ-जब ज्यों ज्यों सुगमता से मिलने वाली और सांसारिक सुख को प्रदान करने वाली वस्तुएँ अप्रिय होती जाती हैं त्यों त्यों आत्मतत्व का रसास्वादन बढ़ता जाता है। इस तरह सत्यमार्ग पर चलने से प्राणी को सुख ही सुख मिलता जाता है। और फिर उपरोक्त-प्रकार सदाचारमय जीवन बनाने से व्यक्ति किस प्रकार एक शांतिमय-न्यायपरायण नागरिक बनता है, यह जैनियों के उदाहरण से प्रगट है। यह बेशक है कि अधिकांश जैनियों के दैनिक जीवन उपरोक्त प्रकार के विशुद्ध नहीं हैं, परन्तु तो भी वे अन्यों की अपेक्षा विशेष-सदाचारमय हैः यह सरकारी गणनाङ्क से स्पष्ट प्रगट है। नैतिक चारित्र के अभाव में बम्बई प्रान्त से प्रति जाति

में कितने व्यक्ति कारावास के दण्ड से दण्डित हुए, यह निम्न के कोष्ठक से ज़ाहिर है:—

धर्म	जन संख्या सन् १८८१	सन् १८८१ में कुल कैदी	कैदियों के हिसाब से औसत।
हिन्दू	१४६५७१७६	६७१४	१५०६
मुसलमान	३५०१६१०	५७६४	६०४
ईसाई ...	१५८७६५	३३२	४७७
पार्सी	७३६४५	२६	२५४६
यहूदी	६६३६	२०	४८१
जैन	२४०४३६	३६	६१६५

इससे स्पष्ट प्रगट है कि जैनियों का ही चरित्र सर्व श्रेष्ठ रहा। और सन् १६०१ व १६२१ में यह उत्तरोत्तर वृद्धि करता गया है, यह भी प्रगट है। सारांश यह कि गृहस्थ के लिए बताए हुए नियमों का पालन करने से मनुष्य का दैनिक जीवन सुख और शांतिमय बनता है और परमार्थ की ओर उसके पग बढ़ते चलते हैं। परमात्मज्योति से उसकी आत्मा प्रकाश-मान् होती जाती है। वस्तुतः व्रत-नियम हैं भी ऐसे ही उत्तम पदार्थ! संयम और शौच का अभ्यास मनुष्य की आभ्यन्तरिक शुचिता बढ़ानेवाला है। और जब अभ्यन्तर पवित्र होता है तो बाह्य जीवन स्वमेव ही तद्रूप हो जाता है। यह हम इस प्रकार से प्रारम्भ में देख चुके हैं। म० गांधी के सार्वजनिक जीवन से इसका महत्व प्रकट है। वे लिखते हैं कि:—

'प्रति सप्ताह जिस मन और वचन संबंधी संयममय नियम का मैं अभ्यास करता हूं उसका अन्दाजा पाठकों को

सहज नहीं हो सका। वह मेरे लिए एक पाठ है। इससे मैं अपनी आत्मा में झांकी लगाने और अपनी कमज़ोरियों को जानने में समर्थ होता हूं। अक्सर मेरा मान कभी भड़क जाता है या मेरा क्रोध कभी क्रूर प्रतीकार करता है। यह नियम यद्यपि एक कठिन अभ्यास है परन्तु एक सुन्दर क्रिया इस वाहियात उपज (मान क्रोधादि) को हटाने की है।'

यह महात्मा जी का प्रत्यक्ष अनुभव है। वस्तुतः जो शांति और आनन्द संयम एवं त्यागमय जीवन बिताने में मिलता है, वह भोग-विलासमय जीवन में कभी नसीब नहीं हो सका। रूसके काउन्ट लिउ टालस्टाय एक अच्छे राजकुमार थे। भोग व उपभोग की सामग्री में ही उनका जीवन व्यतीत हुआ था; परन्तु उनको उस अवस्था में सुख और शान्ति का लाभ हुआ ही नहीं। अन्ततः उन्हों ने धन-सम्पत्ति-ऐश्वर्य्य सबको लात मारदी! एकदम झोपड़ी में रहने लगे-गृहस्थजीवन में ही अपूर्व त्याग का जीवन व्यतीत करने लगे। उस झोपड़ी में उनके पास इतना भी सामान नहीं होता था कि साधारण स्थिति के मनुष्य की भांति वह जीवन बितावे। आजको भोजन सामिग्री है, तो कलको रामजाने! परन्तु इस स्थिति में उन्हें शांति और आनन्द मिलता। इस कठिनाई में भी वे तनिक विचलित नहीं होते। यद्यपि शाही महलों में निवास करने वाली उनकी पत्नी को यह जीवन असह्य था। परिणामतः वह शाही महलों में ही जाकर रहने लगी, परन्तु काउन्ट यहो त्यागमय और संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करते रहे। काउन्ट की अवस्था से इस एकाकी कम ऐश्वर्यमय जीवन व्यतीत करने में उनका अपूर्व प्रकाश हुआ। त्याग और संयम के बल उनका नाम दुनियां के कोने २ में व्याप्त होगया। स्वयं

उनकी आत्मा उच्चता को प्राप्त हो गई। पौद्गलिक ऐश्वर्य को त्यागकर आत्मिक-दैवी ऐश्वर्य उनको प्राप्त हुआ। भारतमें ऐसे अनेकों ऋषि होगए हैं। असंख्यातों वर्ष पहिले हुए मुनिगणों को वंदना आजभी हम केवल इस संयम और त्याग गुणके कारण करते हैं। इस लिए अपनी आत्मोन्नति एवं लौकिक दोनों तरह की उन्नति के लिए हमें इस पुस्तक में बताए हुए सत्यमार्ग का अनुसरण करना उचित है एवं त्याग-वृत्ति-का भाव बढ़ाकर दानादि गुणोंका अभ्यास करना आवश्यक है। उसके उपरान्त यदि हमारी आत्मा विशेष उन्नति करना चाहे जो अवश्य चाहेगी, तो गृहस्थ धर्म, सागार धर्मामृत, मूलाचार प्रभृति ग्रंथों का अध्ययन करके राजमार्ग पर अग्रसर होना हितकर है।

इस प्रकार के जीवन व्यतीत करने से यद्यपि व्यक्तिगत आत्मिक और लौकिक उन्नति होती है, परन्तु साथ ही इसके प्रचार से जातीय जीवन भी श्रेष्ठ होता है। उतने जुर्म-उतने अपराध तब नहीं हो सकते जो अब इस अनियमित दशा में हो रहे हैं। और जब जुर्म और अपराध घट जावें तब राष्ट्र के वह बहुत से वृथा खर्च नष्ट हो जावें जो उसके प्रति होते हैं। परिणामतः बची हुई रकम राष्ट्रोपयोगी अन्य उन्नति के कार्यों में लगाई जावे, जिस से राष्ट्र की उन्नति विशेष होवे। भारत सरकार का जो दण्डविधान है वह इस सत्यमार्ग पर चलने से निरर्थक हो जाता है। अणुव्रती गृहस्थ उन अपराधों को कर ही नहीं सकता है, जिनका विधान भारतीय पिनलकोड में है। इस ही बात को रायबहादुर मि० ए० बी० लट्ठे एम० ए० निम्न प्रकार सिद्ध करते हैं * :—

* An Introduction to Jainism p. 65

अध्याय	धारा (दफा) का भाव	धारायें	धारा(दफा) के समान व्रतआदि
१.	Preamble	१	अनुवीचीभाषण-आगमको प्रमाण मानने की आज्ञा।
२.	परिभाषायें	६–५२	पाप और व्रतों की परिभाषायें
३.	दण्ड	५३–७५	त्याग-व्रत-संयम
४.	साधारण छूट	७६–१०६	वहां कोई भी पाप नहीं है जहां प्रमत्त योग नहीं है।
५.	Abetment	१०७–१२०	पंचाणुव्रत और अतीचार
६.	राज्य के विरुद्ध अपराध	१२१–१३०	विरुद्ध राज्यातिक्रम त्याग
७.	जल और थल की सेना के विरुद्ध किए गए अपराध।	१३१–१४०	" "
८.	सर्व साधारण की सुख शांति के प्रति कृत अपराध।	१४१–१६०	अहिंसाणुव्रत और अतीचार

अध्याय	धारा का भाव	धारायें	धारा के समान व्रत आदि
९.	राज्य कर्मचारियों द्वारा कृत अपराध ।	१६१–१७१	सत्याणुव्रत के अतीचार और अचौर्यव्रत मय अतीचार के
१०.	न्यायालय आदि का अपमान	१७२–१९०	देखो ऊपर अध्याय ९
११	असत्य भाषण आदि ।	१९१–२२९	अनृतमिथ्योपदेश और विरुद्ध राज्यातिक्रम-त्याग ।
१२	खोटे सिक्के ढालना आदि ।	२३०–२६३	प्रतिरूपक व्यवहार और विरुद्ध राज्यातिक्रम-त्याग ।
१३	तौल आदि के अपराधी ।	२६४–२६७	हीनाधिक मानोनमान अतीचार त्याग ।
१४	स्वास्थ्य, रक्षा के विरुद्ध किए गए अपराध ।	२६८–२९४	पहिले दो अणुव्रतों के अतीचारों का त्याग ।
१५.	धर्म के प्रति किए गये अपराध ।	२९५–२९८	” ”
१६.	व्यक्ति विशेष के प्रति किए गए अपराध ।	२९९–३७७	अहिंसाणुव्रत अतिचारसहित

अध्याय	धारा का भाव	धारायें	धारा के समान व्रत आदि
१७.	सम्पत्ति के प्रति कृत अपराध।	३७८–४६२	पूर्ण अचौर्यव्रत।
१८.	जाली दस्तावेज़ आदि के सम्बन्ध में।	४६३–४८९	कूटलेख क्रिया और प्रतिरूपक व्यवहार त्याग।
१९.	सेवायें आदि न करने के सम्बन्ध में।	४९०–४९२	सत्याणुव्रत।
२०.	विवाह सम्बन्धी अपराध।	४९३–४९९	परस्त्री-त्याग ब्रह्मचर्य व्रत।
२१.	अपकीर्ति	४९९–५०२	सत्यव्रत और रहोभ्याख्यान त्याग।
२२	Intimidation	५०३–५१०	सत्यव्रत।
२३	अपराध करने के प्रयत्न।	५११	पंचव्रत।

इस प्रकार भारतीय दण्ड विधान से उन लोगों को कुछ भी भय नहीं रह जाता है जो पांच अणुव्रतों का पालन करते हैं। उक्त दफ़ाओं के अतिरिक्त भी कुछ अधिक धाराय अब बन गई हैं, परन्तु वह भी पंचाणुव्रत के अन्तर्गत आ जाती हैं। इस तरह एक व्रती नागरिक के निकट भारतीय दण्डविधान निरर्थक हो जाता है। इस से सहज अनुमान किया जा सकता है कि मनुष्य जीवन इन व्रतों के पालन से कितना उत्कृष्ट और सदाचार पूर्ण हो जाता है। ऐसे ही व्रती नागरिक सच्चे अपने उत्तरदायित्व को समझने वाले नागरिक हो सकते हैं। और इन सच्चे नागरिकों से ही देश का वास्तविक उत्थान और राष्ट्र का असली सङ्गठन हो सकता है। जिस राष्ट्र में पंचाणुव्रतों का पालन सुचारु रीति से होता हो वह राष्ट्र किस आदर्श का होगा, यही दृश्य श्रीमान् कन्नोमल जी के शब्दों में इस प्रकार है। आप लिखते हैं कि:—

"जैसे ये पांच तत्व किसी मनुष्य के चारित्र में परमावश्यक हैं वैसे ही वे किसी राष्ट्र के लिए अनिवार्य हैं। जिस राष्ट्र में ये पांचों बातें हैं वह आदर्श राज्य है। वह किसी नाम से क्यों न पुकारा जाय। इन पांचों तत्वों की दृष्टि से राष्ट्र ऐसा होना चाहिए। अहिंसा—ऐसे राज्य में हिंसा रोकने का पूरा प्रबन्ध होगा। उस के कानून में मनुष्यवध को ही सज़ा न होगी बल्कि प्राणीमात्र की हिंसा दण्डनीय होगी। उस में गोवध ही निषिद्ध न होगा, बल्कि सभी पशुपक्षियों के वध की मुमानियत होगी। उस में शिकार खेलना जुर्म होगा और पशुपक्षियों के वध की मुमानियत होने से मांसाहार एक असम्भव वस्तु होगी। उस में मांस, मदिरा, रक्त, हड्डी आदि वस्तुओं का बेचना मना होगा। सत्य—उस राज्य में

सबव्यवहार सत्य का होगा। उस में वर्तमान् कुटिल राजनीति का अभाव होगा। जो वायदे राजा की ओर से प्रजा के साथ किये गये होंगे उनको सब प्रकार पूरा किया जायगा। उस में गोरे और कालों के लिए दुफ़सलो फैसले न होंगे। न गोरे और कालों का भेद होगा। दोनों के साथ एकसा वर्ताव होगा। दोनों को एक सी नौकरियां मिलेंगीं। न्यायशासन में गोरे काले रङ्ग का कुछ भेद न रहेगा। अस्तेय—इस राज्य में किसी के देश की वस्तुएँ अपने स्वार्थ के लिए बाहर नहीं भेजदी जायँगी। वहां की प्रजा का धन और द्रव्य कुटिल नीति से नहीं हरण किया जायगा। सभ्यता सिखाने और न्याय और शान्ति स्थापन करने के बहाने वहां की प्रजा का सर्वस्व नहीं नष्टभ्रष्ट कर दिया जायगा अथवा छीन लिया जायगा। दूसरे शब्दों में जिसे लूटना Exploitation कहते हैं वह नहीं किया जायगा। राष्ट्र दृष्टि से Exqloitation ही स्तेय है। ब्रह्मचर्य—उस राष्ट्र में वेश्याओं की संस्था न रहेगी। न अश्लील उपन्यास, चित्र और मूर्तियों के रहने का मौक़ा मिलेगा। वर्तमान् सभ्यता की अनेक अश्लील बातों का अभाव हो जायगा। स्त्रियों के सतीत्व का पूर्ण प्रबन्ध होगा। परस्त्रीगामी, व्यभिचारी दुष्ट मनुष्यों को राजदण्ड मिलेगा। कोई विद्यार्थी ब्रह्मचर्यव्रत भङ्ग न कर सकेगा। परिग्रह—प्रजा से बात बात पर कर न लिया जायगा। धर्मोक्त उपायों से प्राप्त धन पर राज्यशासन होगा। फ़िज़ूलखर्ची करने के लिये प्रजा पर तरह तरह के टेक्स न लगाये जायंगे।"

—जैन होस्टल मैगजीन जिल्द ४ पृष्ठ ८४

वास्तव में जो ऐसा एक आदर्श राज्य होगा। वह रामराज्य से किसी तरह भी कम न होगा। परन्तु यह हो कैसे? यही

प्रश्न पाठकगण उपस्थित कर सकते हैं। वस्तुतः मनुष्य प्रकृति कुछ ऐसी विकृत होरही है कि वह असद् पापपूर्ण मार्गों की ओर जल्दी जल्दी लपकती है; परन्तु धर्ममय मार्ग से कोसों दूर भागती है। परमात्मा ऋषभ, भगवान महावीर, म० बुद्ध, मनु, ज़रदस्त, ईसा प्रभृति मानवउद्धारक महान् पुरुषों के सतत स्तुत्य प्रयत्न भी सब विफल गए। यह विकृत मनुष्य प्रकृति फिर उस ही कुत्सित ढङ्ग पर है। किन्तु यह स्वंय सिद्ध है कि पानी स्वभावतः नीचे की ओर ढुलक जाता है, उसे किसी के सहारे की ज़रूरत नहीं होती। यह दशा इस विकृत मनुष्य प्रकृति की है। वह ख्वामख्वाह नीचता की ओर बिना किसी तरह का प्रयत्न किए ही प्रवृतशील हो जाती है और सदाचारमय धर्म मार्ग पर आने के लिए उसी तरह अड़चनें डालती है जिस तरह पानी ऊपर को चढ़ाने में अड़चन करता है। परन्तु सतत प्रयत्नों द्वारा पानी ऊपर को चढ़ा ही दिया जाता है और जबतक वह उच्चता की ओर ढकेलने का प्रयत्न ज़ारी रहता है तब तक बराबर पानी ऊपर की ओर चढ़ता रहता है। यही दशा मनुष्य प्रकृति की है। धर्ममय मार्ग का अनुसरण कर वह आत्मोन्नति की शिखिर पर पहुंचने का तब ही प्रयत्न करती है जब ईश्वरीयज्ञान की अपूर्व आभा से आलोकित विचक्षण बुद्धि उनकी विवेक बुद्धि को जागृत करती रहती है। किन्तु अतीव दुःख है कि निकट के गत समय में इस प्राकृतिक तत्व के विपरीत अधार्मिकता की ही डौंडी सर्वत्र पीटी गई है। यहां तक कि स्वयं धर्मप्रधान आत्मवादी भारत भी इसके रङ्ग में बहुत कुछ रङ्ग गया! धार्मिकता आध्यात्मिकता भारतीयों के लिये हउआ दिखने लगी! वे धार्मिकता और आध्यात्मिकता के अर्थ को ही भूल गये।

संसार छोड़कर स्वार्थी-लम्पटी पुरुषों के दर दर भीख मांगने में ही उसका अस्तित्व समझा जाने लगा ! अन्तर्विकास का लोप हुआ-आत्मवाद को दृष्टि से ओझल किया गया कि भारत दुःख के गर्त में जा गिरा ! आज भी बहुप्रयत्न करने पर भी वह बाहर सुख-शांति के उच्च-लोक में आ नहीं सका है ! जब धर्म के आगार और आत्मवाद के भन्डार भारत की यह दशा है, तब विदेशों के विषय में कहना ही क्या है ? वहां प्रारम्भ से ही धार्मिक-मौलिकता गुप्तवाद में प्रचलित थी। गुप्तवाद के साथ ही उसका अन्त हो गया। फिर जो नवीन सभ्यता का जन्म हुआ वह बिलकुल पार्थिव-भौतिक सिद्धान्तों के बल ! ऐसी अवस्था में प्राचीन और अर्वाचीन सभ्यता में ज़मीन आस्मान का अन्तर है। अर्वाचीन सभ्यता. सभ्यता के पर्दे में स्वार्थ का नग्न ताण्डव-तृष्णा की भया-वनी चीख़-तड़क भड़क से मुग्ध करके धन खींचने वाली वेश्या है। दूसरी (प्राचीन), बाहरी आडम्बर से दूर अपने आपे में पूर्ण-संसार की ओर सहृदयता की दृष्टि फेरने वाली देवी-'श्रद्धा' है माननीय विकास की 'पूर्णता-देवत्व-ऋषित्व परमेश्वरत्व की व्याख्या ! पश्चिमी सभ्यता 'नेशन के नाम से मुट्ठी भर आदमियों के जीने के लिए करोड़ों निरपराध मनुष्यों को पीस कर खाजाने की बुनियाद पर उठी है और भारतीय सभ्यता जातीय संगठन और वर्णाश्रम विभाग के द्वारा संसार को मनुष्यता-अनुमोदित न्याय के मार्ग पर रह कर विकास की बाधाओं को दूर करते हुए देवत्व और पूर्णत्व की ओर लेजानेवाली व्यवस्था पर अवस्थित है। पहली विषय वासना की कलुषित नाली में डालने वाली नीच सुख लालसा की रंगी दृष्टि में फँसाने-वाली-जड़ संसार को अपने सुख का

सर्वस्व सिद्ध करने वाली है; और दूसरी मनुष्य को भोग की तुच्छ इच्छा से बचाकर त्याग के अमृत मंत्रसे गूंजते हुए अमर जीवन की ओर लेचलने वाली--कर्ता को मायाके फन्दों से बचने की शिक्षा देने वाली-संसार के जर्जर शरीर में अमृत शक्ति संचार करने वाली है।" * इसलिए प्राचीन भारतीय सभ्यता के अध्यात्म मार्गमें ही संसार का कल्याण है। उसकी ही उपासनासे हमारी तृप्ति होसक्ती है। हम शाश्वत सुखागार को प्राप्त हो सक्ते हैं। स्वयं पश्चिमीय देशों को उसके कटुकफलों से भयलगरहा है! वे उससे असंतोषित हो किञ्चित अध्यात्मवाद की ओर नेत्रफेर रहे हैं। ऐसे समय में हम भारतीयों को अपने प्राचीन ऋषियों के वाक्यों में श्रद्धालाना हितकर है। उनके बताये सत्यमार्ग का जिसका दिग्दर्शन पूर्वपृष्ठों में कराया गया है, अभ्यास करना लाज़मी है। अपनी आत्मा के सच्चे स्वरूप में विश्वास करके जब शाश्वत सुखकी ओर हम भारतीय दृढ़ बद्धपरिकर होंगे, तभी हमारा कल्याण होगा। हमारा सच्चा आत्मज्ञान और आत्मश्रद्धान हमारा उद्धार करेगा, क्योंकि आचार्य कहते हैं:—

> यत्रैवाहितधीः पुनः श्रद्धा तत्रैव जायते।
> यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥

भावार्थ--"इस मानव की बुद्धि जिधर जमती है उधर उसकी रुचि होजाती है। तथा जिस वस्तु की रुचिहो जाती है उस वस्तु को तरफ चित्त स्वयं लीन होजाता है।" इस लिए आत्मज्ञान और श्रद्धान होना आवश्यक है। फिर जहां रुचि आत्मोन्नति की ओर हुई तो चित्त स्वतः उसमें लीन होजायगा। परिणामतः आत्मा सम्यक्चारित्रका निःशङ्क हो पालन

* मतवाला भाग ३, पृष्ट १०४

करने लगेगी। और 'सोऽहं' के राग में एक दिन अवश्य लीन हो कर परमसुख का अनुभव करेगी और फिर कहेगी:—

'यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्तथा।

अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिती स्थितिः॥"

भावार्थ—"जो परमात्मा है वही मैं हूं तथा जो मैं हूं सो ही परमात्मा है। इसी लिए मैं ही मेरे द्वारा भक्ति किये जाने के योग्य हूं और कोई नहीं, ऐसी वस्तु की स्थिति है।" वस्तुतः आत्मा पूर्ण स्वाधीन है--अपने सुख दुःखका आप खुद जिम्मेदार है: यह हम अच्छी तरह देख चुके हैं। श्री पूज्यपाद स्वामी इष्टोपदेश में यही कहते हैं:-

स्व संवेदन सुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।

अत्यन्त सौख्यवांनात्मा लोकालोक विलोकनः॥

भावार्थ---यह आत्मा अपने ही आपके ज्ञान के द्वारा अपने को भले प्रकार प्रकट होता है। यह शरीर प्रमाण है, अविनाशी है, अतिशय सुखी है व लोक अलोक को देखने वाला है।' श्री देवसेन आचार्य तत्वसार में आत्मा को ही परम सुखपूर्ण प्रकट करते हैं :—

णो कम्म कम्म रहिओ केवल णाण गुण समिद्धा जो।

सोहं सिद्धो सुद्धो णिच्चो एक्को णिरालवो॥ २७॥

अर्थात्—यह आत्मा शरीरादि नोकर्म व पाप पुण्यरूप द्रव्यकर्म से रहित है, केवल ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण है, शुद्ध है, नित्य है, एक है व निरावलम्ब है।" इस तरह आत्मा के शुद्धस्वरूप को जानकर और उसका सच्चा श्रद्धान करके परम सुख प्राप्त करने के लिए अहिंसादि नियममय "सत्यमार्ग" का

अनुसरण करने लगेंगे तबही हम अपनी उन्नति कर सकेंगे। और फिर अपने जीवनों को तद्रूप बनाकर हममें से मनीषी जब 'परम सुख के राजमार्ग पर विचरण करते हुए सारे संसार को आध्यात्मिकता का रसपान करायंगे तो पुनः आत्म-वाद का झण्डा सर्वत्र फहरायगा। तबही प्राणी सत्य के दर्शन करने लगेंगे और फिर पूर्ण सत्य के दर्शन करने के लिए 'आत्म-धर्म' की शरण में आएंगे। वैज्ञानिकता को पाजायंगे। वस्तुस्थिति को पहिचान जायंगे। अस्तु, "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" की नीति को लक्ष्यकर फल प्राप्त करने की कामना को छोड़कर स्वयं सत्यमार्ग पर अनुसरण करना प्रारम्भ कर देना आवश्यक है। स्वाधीनता का रसपान करके आत्म-स्वातंत्र्य का साम्राज्य स्थापित कीजिए कि सर्वत्र पुण्य भावनाएँ फैल जाएँ।

"सुखी रहें सब जीव जगत के कोई कभी न घबरावे।
वैर पाप अभिमान छोड़ जग नित्य नये मङ्गल गावे॥
घर घर चर्चा रहे धर्म की दुष्कृत दुष्कर होजावें।
ज्ञान चरित उन्नतकर अपना मनुज जन्मफल सब पावें॥

शुद्धाशुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	२५	आर अपन	और अपने
५	४	चुमर्ती	चुमते
६	फुटनोट	नविास	निवास
१६	७	लिएमी	लिए
२०	१	पहली लाइन के पहले यह शब्द बढ़ा लेना चाहिए— "बुरापन नहीं है, परन्तु जिनपर घटना घटती है उन्हीं में अच्छा—"	
२१	१	पहली लाइन काट कर निकाल दो।	
२२	१४	hill	hell
२३	२३	खसु	सुख
२७	१३	पर्वक	पूर्वक
"	"	होना है	है
२६	१६	इच्छ	इच्छा
३३	४	महत्त	महत्व
"	१०	हां	सर
३६	२०	जानना	जानता
४२	१२	भावगम्य	भवगम्य
५१	११	Self-Sufcicing	self-sufficing
"	१५	nobtest	noblest
"	फुटनोट	Virtul	virtue

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५६	१२	मुौसलमान	मुसलमान
५७	२६	में	के
५८	२३	परकी कृपा	की कृपा पर
५६	११	पर पर	पर
"	२६	मेंयिद्	में यदि
६३	१०	(Bloah)	(Eleah)
"	१२	Bl	El
६४	२५	Dictionrag	Dictionary
७४	१६	नभजन	भजन
७५	११	रखना	रखता
७७	१७	उपाना तो परम-ब्रह्म रूप में	उपासना तो परब्रह्म रूप अपनी आत्मा में
७८	६	विशुद्धता	विशुद्ध२
"	१२	प्रप्त	प्राप्त
७६	७	पाऊँगा	पाऊँगा
"	१३	द्दिष्टि	दृष्टि
"	फुटनोट	रत्नकाराड	रत्नकरण्ड
८१	१०	कुन्दकुन्दाचार्य	कुमुदचन्द्राचार्य
८४	२२	सुधापीड़ित	क्षुधा पीड़ित
६६	६	विरचन्ता	विचरन्ता
१०२	२३	furthe	further
"	२५	rewote	remote
"	२६	triter	tribes
१०६	२४	यमनियमादिका	यमनियमादिक
१०६	१०	ससतो	सकती

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१११	२५	समन्त	सामन्त
११७	७	अत्मोन्नति	आत्मोन्नति
११६	१२	नहीं है	नहीं रहो
"	१३	देवी को	देव की
"	१७	दोनों	देवों
१२०	१	सप्रकार	इस प्रकार
१२१	"	विञ्चित	किञ्चित्
"	२०	जिन के	जिस के
१२४	७	ज़रा आइए	आइए
१२६	२६	स्वर्ग	स्वर्ग
१२८	२५	जो हम लोग यज्ञ	जो लोग पशु यज्ञ
१३०	२६	यानि	यानी
१३२	२५	शकती	शक्ति
१३४	७	धार्मिक	अधार्मिक
१३६	१२	रागों	रोगों
१३७	७	ख़ादावन्द	ख़ुदा वन्द
१३९	१५	पक्षियों का	पक्षियों को
१४९	२	द्योतक	द्योतक
१५०	२६	करी	कर
१५०	६	हम आशा	"हम आशा
१५१	१८	पूजते	पूछते
"	२२	व निपुण	विवरण
१५६	१८	जिलाया गया	जिलाया गया था
१५९	१०	उपेक्षा को	उपेक्षा कर के
१६९	१३	स्वतन्त्रता	स्वतंत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
"	२२	पवित्र	पवित्रता
१७२	२१	संपममय	संयममय
"	२६	धारण	धारणा
१७३	५	होत	होगी
१७८	४	शाच	शौच
१७६	१२	असाहिं	अहिंसा
"	१८	आचाय कहते हैं कि	आचार्य कहते हैं कि "
१८०	८	पापों	पाप
१८४	१६	उनको	उनका
१८८	१६	तुलसीदास	तुलसी दया
१६०	२२	पहुंचाता है	पहुंचाते हैं
१६२	१६	उत्तमत्ता	उत्तमता के
"	२४	करना	सहन करना
१६३	१६	Shall	shalt
"	२०	पालना	पालन
१६४	१५	St. duko	St. Luke
१६५	६	Proplict	Prophet
२०२	२१	Zoroastria	Zoroastrian
२०३	१८	पर्ण	पूर्ण
२०७	२६	कार्यक	कार्यकी
२१४	१८	भूकवश	भूलवश
२१६	१५	भाडू	झाडू
२२७	२०	प्रथम प्रथम	प्रथम
२२८	१	कहना	कहना है

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	८	शाखा	शाखाओं
,,	१६	मुदु भापण	मृदु भापण
२२६	१६	वंन	वना
२३०	३	करने को	करने में
२३२	५	सम्यग्दर्शन	सम्यग्दर्शन,
,,	१४	स्थान प्रकाश	स्थान पर प्रकाश
२३७	२	परन्तु इस	हां, यह अवश्य है कि इस
,,	२४	लड़वाना है ।	लड़वाना पाप है ।
२४२	५	वस्तुतः	×
२४३	१७	ममको	मुझको
२४५	८	प १	पढ़ा
२४६	३	गिरफ्लम	गिरफ़्म
२४८	१३	धर्म में	धर्म के सम्बन्ध में
२५०	२१	कार्य को	कार्य की
२५१	१	लाते	लावें ।
२५२	१	जसे	जैसे
२५६	२१	यही	यदि
२६५	१०	छोट	छोटे
२६८	२०	सरजान	सर जॉन
२६६	१५	खरेन्ड	रेवेरेन्ड
२७२	१	मेरा	"मेरा
,,	२	पाता	पीता
,,	४	रहा समझता	रख सका
२७३	१६	की ओर	की ओर से

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८२	१	नवनो	नवनीत
२८५	३	कमानुसार	कर्मानुसार
२९१	१६	मनुय कम हैं	मनुष्य हैं
२९२	१६	ज़ाहिर	ज़ाहिरा
२९४	७	मुहम्द	मुहम्मद
,,	१८	मत	"मत
२९८	२०	(Ibid	(आइने हमदर्दी
२९९	३	यही हाल	इस तरह यही हाल
,,	९	The	Ten......
,,	१२	Shall	Shalt
३०३	१२	कर लेते हैं ।' †	कर लेते हैं ।' ‡
,,	१६	है ।" ‡	है ।" †
,,	२४	Mass Mutter	Max Mulier
३०५	४	वैथागोरस	पैथागोरस
,,	११	जाते थे ।	जाते थे । ‡
३०६	२	पूर्वापरवाश्रिता	पूर्वापरवाधित
३११	५	मांसाहर	मांसाहार
३१४	६	चावे	जावे
३१९	४	हैं ।	हैं,
३२०	१२	अज्ञान	ज्ञान
३२१	३	इस में	उस में
६२५	१	भाइयों में	भाइयोंको
३३२	८	दयाल तिन्हीक	दयालु तिन्ही के
३३३	१	क़वे सा	को वैसा
३३७	१४	भाग	भोग

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४५	४	स य	सत्य
३४६	१६	प्र यक्षतः	प्रत्यक्षतः
३४७	६	स यव्रत	सत्यव्रत
३४८	२४	है ।	है ।×
,,	फुटनोट बढ़ाओ—× Ethics of koran		
३५४	२७	ये वह	वह
३७८	५	आ म भाव	आ मभाव
३८४	९	यान्ध	अन्ध
३८८	११	इ वरिका	इत्वरिका
३६०	१८	हैं	हों
३६४	२१	पत्नि	पत्नी
३६५	५	न हों	हों
,,	७	कर बना	कर संबंध बना
३६६	२४	कर के	समझ कर के
४०४	२१	याग	त्याग
४०७	२१	indu	Hindu
४१०	२३	मम व	ममत्व

नोटः—दृष्टि दोष से एवं श्लोकादि में जो और अशुद्धियाँ रह गई हों उन को भी विज्ञपाठक सुधार कर पढ़ें ।